विक्रमादित्य

[संवत्-प्रवर्तक]

डॉ. राजबली पाण्डेय

प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति तथा पुरातत्व विभाग
और प्राचार्य, भारती महाविद्यालय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

सं. २०१६ • ई. 1960

चौखम्बा विद्याभवन

वाराणसी-1

आमुख

प्रस्तुत ग्रन्थ का मूल एक विचारगोष्ठी में निहित है। अखिल भारतीय प्राच्य विद्या-परिषद् (आल-इण्डिया ओरियण्टल कॉन्फ्रेन्स) का तेरहवाँ अधिवेशन (१९४३ ई०) वाराणसी में हुआ था। इस वर्ष विक्रम-संवत् की दो सहस्राब्दियाँ पूरी हो रहीं थीं। 'कॉन्फ्रेन्स' के तत्त्वावधान में उक्त गोष्ठी का आयोजन हुआ था, जिसका विषय था 'विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता।' लेखक ने भी गोष्ठी में भाग लिया था। उसका यह मत था कि ईसा-पूर्व प्रथम शती में विक्रमादित्य हुये थे, जिन्होंने, पीछे अपने नाम से प्रसिद्ध, विक्रम-संवत् का प्रवर्तन किया; उनके अस्तित्व को अस्वीकार करने अथवा 'विक्रमादित्य' विरुदधारी किसी परवर्ती नृपति से उनकी अभिन्नता सिद्ध करने में किञ्चित् भी औचित्य नहीं है। गोष्ठी के विचार-विमर्श से उत्साहित होकर लेखक ने विक्रमादित्य की जटिल एवं गूढ समस्या-विषयक अपना अनुसंधान जारी रखा। उसी वर्ष लेखक का अंग्रेजी में लिखा हुआ 'विक्रमादित्य के व्यक्तित्व और शासन-सम्बन्धी ऐतिहासिक तथ्य' नामक निबन्ध भारतवर्ष के मूर्द्धन्य इतिहासकारों के निर्णय पर, 'जन्मभूमि', बम्बई द्वारा आयोजित प्रथम 'अखिल भारतीय विक्रम पुरस्कार' से पुरस्कृत हुआ। तभी से विक्रमादित्य की समस्या लेखक के मस्तिष्क में घूमती रही। छ-सात वर्षों के सतत अध्यवसाय एवं चिंतन के परिणामस्वरूप 'विक्रमादित्य आफ् उज्जयिनी : फाउण्डर आफ् दि विक्रम एरा' (उज्जयिनी के विक्रमादित्य : संवत्-प्रवर्तक) नामक ग्रन्थ अंग्रेजी में १९५१ ई० में प्रकाशित हुआ। उसी का हिन्दी रूपान्तर इस समय प्रस्तुत हो रहा है।

विक्रमादित्य भारतवर्ष के अतीत के सर्वाधिक प्रसिद्ध और लोकप्रिय पुरुष हैं। भारतवर्ष के महाकाव्यों में रामायण और महाभारत के महान् नायकों—राम और कृष्ण—के अतिरिक्त कोई भी दूसरा व्यक्ति विक्रमादित्य के समान जन-साधारण में समादृत और स्मृत नहीं है। विदेशी आक्रमण के विरोध में उनके द्वारा देश की स्वाधीनता की रक्षा, उनकी सैनिक एवं राजनीतिक उपलब्धियाँ, उनका आदर्श शासन, उनका अनुपम न्याय-विवेक तथा साहित्य एवं कला के प्रश्रय में उनकी उदार-हृदयता ने

उनके नाम को अमर बनाकर देश के जन-मानस में प्रतिष्ठापित कर दिया है।

विश्व के अन्य महान् पुरुषों की भाँति विक्रमादित्य का इतिहास भी अपनी महत्ता एवं लोकप्रियता से ही बाधित हुआ है। उनकी उपलब्धियाँ सामान्य मानवीय बुद्धि का अतिक्रमण कर गयी हैं, जिसके कारण लोगों ने उनकी देवोपम पूजा प्रारम्भ कर दी। वीर-पूजा के भाव ने विक्रमादित्य के प्रशंसकों को उनके यथार्थ वृत्त के प्रति भी उदासीन एवं अनभिज्ञ बना दिया। यद्यपि उनके विषय में विशुद्ध ऐतिहासिक सामग्री का अभाव नहीं, किन्तु शताब्दियों के प्रवाह में उनके अनुपम व्यक्तित्व के चारों ओर अनेकों दन्त-कथायें—कुछ सत्य, कुछ गढ़ी हुई, कुछ काल्पनिक, कुछ विचित्र और कुछ असंभव भी—प्रचलित हो गयी हैं।

विक्रमादित्य-विषयक इन उलझे हुए कथा-चक्रों ने आधुनिक इतिहासकारों को तो भयभीत कर ही दिया और विक्रमादित्य के अस्तित्व के विषय में भी शंका उत्पन्न कर दी। उन्होंने सोचा कि विक्रम-संवत् का संस्थापक उज्जयिनी का विक्रमादित्य लोगों का एक अन्ध-विश्वास है। उन्होंने इन कथाओं को विशुद्ध इतिहास का स्रोत मानने से ही इनकार नहीं किया, इन कथाओं में दबे हुए ऐतिहासिक तथ्यों को भी अमान्य ठहराया। वैज्ञानिक इतिहासकारों में परम्परा मानित विक्रमादित्य के विरुद्ध एक धर्मयुद्ध सा चल पड़ा और विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता के पक्ष में कुछ भी कहना इतिहास-विज्ञान के विरुद्ध एक अपराध समझा जाने लगा। परम्परा के प्रभाव ने तो भी प्रकारान्तर से विक्रमादित्य के अस्तित्व को मानने के लिए उन्हें विवश किया, यद्यपि वे उनकी अभिन्नता भारतवर्ष के परवर्ती इतिहासविदित विक्रमादित्यों से करते थे।

यहाँ यह स्पष्ट रूप से कह देना आवश्यक है कि ऐतिहासिक तथ्यों के अनुसन्धान में विक्रमादित्य-सम्बन्धी सभी परम्पराओं और साहित्य को विचार के अयोग्य ठहराकर उनका खण्डन स्वयं सत्य के प्रति अन्याय तो है ही, इतिहास-कला के प्रति भी अत्याचार है। प्राचीन अतीत में इतिहास और कथायें प्रायः मिलजाती हैं। आज भी व्यक्तियों और घटनाओं के सम्बन्ध में दन्तकथाओं एवं पौराणिकता की सत्ता मिटी नहीं है। लोगों की कल्पना और भावना उनको सदैव जीवित रखेगी। ऐसी परिस्थितियों में ऐतिहासिक तथ्यों एवं सत्य का एक बहुत बड़ा अंश कथाओं और

कहानियों में उलझा हुआ अथवा एवं विवेकशील अनुसन्धान की प्रतीक्षा कर रहा है। केवल इसलिए कि उनके चारों ओर कथायें उड़ खड़ी हुई हैं, विक्रमादित्य को काल्पनिक नहीं माना जा सकता। कोई भी इतिहास-प्रेमी उदयन, भोज, पृथ्वीराज, तथा भारतीय इतिहास के अन्य महापुरुषों की ऐतिहासिकता के विषय में इसलिए शंका नहीं करने लगता कि अनेकों कथाओं के वे प्रेरक एवं नायक हैं। तब भला विक्रमादित्य को अलग करने एवं कतिपय इतिहासकारों की सनक एवं पक्षपात पर उनकी बलि देने में क्या औचित्य है? विक्रमादित्य के इतिहास के पुनर्निर्माण के लिए केवल बड़े विवेक के साथ सामग्री के चयन, संग्रह, विवेचन और उपयोग की आवश्यकता है। यह सत्य है कि विक्रमादित्य-सम्बन्धी अधिकांश सामग्री प्रत्यक्ष स्थूल न होकर साहित्यिक एवं परम्परामूलक है। किन्तु अतीत के पुनर्निर्माण में साहित्य और परम्परा का अपना मूल्य और स्थान है। इतिहास में परम्परा के महत्त्व के विषय में ओल्डेनवर्ग के निम्नांकित लेख का उद्धरण असंगत नहीं होगा :

'एक मौलिक मूल, जिसने अनेकों विस्तृततम विवेचनों को पथ-भ्रष्ट किया है······इस बात में निहित है कि वे परम्परा को स्पष्टरूप से मुख्यतः आगे रखकर और फिर वैज्ञानिक रीति से इस प्रश्न का विवेचन करने के बजाय कि क्या कोई गम्भीर आपत्ति इसके विपक्ष में ठहरती है, प्रत्यक्ष एवं स्पष्ट उपलब्ध परम्परा का केवल प्रासंगिक रूप से स्पर्शमात्र करते हैं! (इंडियन ऐंटिक्वेरी, जिल्द १० पृ० २१७)।

युगों से चली आती हुई परम्पराओं के विरोध में जबतक स्थूल और निर्विवाद तथ्य नहीं प्राप्त होते तबतक उनका परित्याग तर्क के विरुद्ध और इतिहास को विकृत करना है।

विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता के विरोध में दो सबल आपत्तियाँ प्रस्तुत की गई हैं-(१) उनके अस्तित्व पर प्रकाश डालनेवाली पुरालेख एवं मुद्रा-परक प्रत्यक्ष सामग्री का अभाव और (२) प्रारम्भ में विक्रम-संवत् के साथ उनके नाम का असम्बन्ध। प्रथम आपत्ति से यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि विक्रमादित्य नाम का कोई भी व्यक्ति नहीं था। नकारात्मक प्रमाण पर आधारित यह निष्कर्ष प्रामाणिक नहीं; क्योंकि प्राचीन भारत के कितने ही प्रसिद्ध व्यक्तियों ने, जिनका अस्तित्व शंका का विषय नहीं, प्रत्यक्षदर्शी इतिहासकार के लिए न तो अभिलेख ही छोड़े हैं और न मुद्रायें ही। यह केवल भारतीय इतिहास के लिए ही लागू नहीं,

विश्व-इतिहास के लिए भी सत्य है। बिम्बिसार, अजातशत्रु महापद्म, चन्द्रगुप्त मौर्य प्रभृति भारतीय इतिहास के महान् व्यक्तियों ने भी अपने इतिहास के निर्माण के लिए तथाकथित प्रत्यक्ष सामग्री नहीं छोड़ी है। फिर भी उनके अस्तित्व के विषय में कोई शंका नहीं करता। यदि हम इस अनुमान की सत्यता को पूर्णरूपेण स्वीकार कर लें तो अशोक-पूर्व भारत का सम्पूर्ण इतिहास ही काल्पनिक ठहरेगा जिससे हमारी स्थिति विचित्र होजायगी। यहाँ इस ओर संकेत कर देना उचित होगा कि यद्यपि विक्रमादित्य विषयक सुस्पष्ट निजी स्थूल प्रमाण अबतक सुलभ नहीं है, तथापि ईसवी पू० प्रथम शताब्दी के अवन्ति एवं समीप के क्षेत्रों से सम्बन्धित इसप्रकार के स्थूल प्रमाणों का अभाव नहीं है और वे विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता सिद्ध करने में हमारी सहायता करते हैं। जहांतक विक्रम-संवत् की प्रारम्भिक शताब्दियों में उसके साथ विक्रमादित्य के नाम के असम्बन्ध का प्रश्न है, यह ध्यान देने योग्य है कि केवल विक्रम-संवत् के साथ ही ऐसा नहीं है। शक-संवत् अपने प्रचलन के ५०० वें वर्ष में जाकर इस नाम से अभिहित हुआ, इसके पूर्व केवल 'वर्ष' से उसका निर्देश होता था। गुप्त-संवत् का वृत्त भी इससे भिन्न नहीं है। गुप्त-संवत् २२१ तक के पचास निर्देशों में से (एपी० इ० में भण्डारकर की सूची) उसे दस निर्देश 'वर्ष' से निर्दिष्ट करते, सैंतीस निर्देश केवल संवत् कहते तथा केवल तीन निर्देश गुप्त-काल की संज्ञा देते हैं। कौन कह सकता है कि गुप्त-संवत् की स्थापना किसी गुप्त नृपति ने नहीं की तथा शक-संवत् किसी शक (या सातवाहन) नृपति ने नहीं प्रचालित किया? विक्रम-संवत्-विषयक नकरात्मक प्रमाण भी नहीं सिद्ध कर सकता कि इसकी स्थापना विक्रमादित्य द्वारा नहीं हुई थी। ईसवी सन् के साथ भी ईसा का नाम ५-६ सौ वर्ष के बाद जुटा।

इस ग्रन्थ में ज्योतिष, लोक-कथाओं, ब्राह्मण-साहित्य की परम्पराओं, जैन-परम्पराओं, पुरातत्त्व, एशिया में जाति-संचरण के इतिहास तथा प्राचीन भारत के शुद्ध साहित्य आदि विभिन्न प्रकार के साक्ष्यों के आधार पर विक्रमादित्य के इतिहास और समसामयिक सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन के पुनर्निर्माण का एक प्रयास किया गया है। इन साक्ष्यों की विश्वसनीयता एवं उनके उपयोग की प्रामाणिकता पर यथास्थान विचार किया गया है। यहाँ यह कथनीय है कि प्रस्तुत लेखक कालिदास को विक्रमादित्य का

समकालीन मानता है तथा ईसा पू० की प्रथम शताब्दी के समाज एवं संस्कृति के चित्रण के लिए उसने कालिदास के ग्रन्थों का उपयोग किया है।

मोटे तौर पर सम्पूर्ण ग्रन्थ का विभाजन तीन भागों में किया जा सकता है। प्रथम दो अध्यायों में विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता की सविस्तर विवेचना है, क्योंकि विक्रमादित्य के इतिहास का यह पक्ष अब भी सर्वाधिक विवादग्रस्त है। तीन से आठ तक के एवं चौदहवें अध्यायों में न्यूनाधिक रूप से उनके वैयक्तिक और शासकीय इतिहास तथा शेष में समकालीन इतिहास का वर्णन है। इसप्रकार प्रस्तुत ग्रंथ ईसा पूर्व की प्रथम शताब्दी के इतिहास का, जो भारतीय इतिहास के कतिपय सर्वाधिक अन्धकारपूर्ण युगों में से एक रहा है, पर्याप्त रूप से, पुनर्निर्माण उपस्थित करता है।

लेखक डा० रमेशचन्द्र मजूमदार के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता है, जिन्होंने इस ग्रन्थ के अंग्रेजी संस्करण में विशेष रुचि लेने के साथ-साथ उसका प्राक्कथन लिखने की भी कृपा की थी। लेखक उन सभी लोगों के प्रति भी कृतज्ञता प्रकट करने में प्रसन्नता का अनुभव करता है, जिन्होंने विक्रमादित्य की समस्या के समाधान में योगदान दिया है, क्योंकि उनके उस प्रारम्भिक कार्य के बिना इस ऐतिहासिक चित्र का पुनर्निर्माण सम्भव नहीं था। स्व० डा० अनंत सदाशिव अल्तेकर, तथा स्व० प्रो० एस० वी० पुन्ताम्बेकर से मंत्रणा एवं आलोचना के रूप में मूल्यवती सहायता मिली थी; लेखक उनका विशेषरूप से ऋणी है। डा० रमाशंकर त्रिपाठी, भूतपूर्व आचार्य, सेंट्रल हिंदू कॉलेज तथा अध्यक्ष, इतिहास विभाग, काशी विश्वविद्यालय से यथासमय आवश्यक परामर्श मिलता रहा है। हिन्दी संस्करण की मुद्रण-प्रति तैयार करने में अपने शिष्य एवं मित्र श्रीचन्द्रभान पाण्डेय, एम० ए०, श्रीमंगलनाथ सिंह, एम० ए० तथा श्री लक्ष्मीकान्त त्रिपाठी एम० ए० से विशेष सहायता मिली। इसके लिये लेखक उनका आभारी है। श्री चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, ने इस ग्रंथ का प्रकाशन बड़ी प्रसन्नता और शीघ्रता के साथ किया, एतदर्थ वह उसका कृतज्ञ है।

काशी विश्वविद्यालय
वसन्त पञ्चमी, सं० २०१६ वि०

राजबली पाण्डेय

विषय-सूची

प्रथम अध्याय

विक्रमादित्य का काल

१. संदेहवाद निराधार

अति प्राचीन एवं विस्तृत रूप से प्रचलित भारतीय अनुश्रुतियों में प्रथम शती ईस्वी पूर्व की विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता में अत्यन्त अनादर के साथ सन्देह किया गया है। संदेहवादी एवं सतर्कता की अति कर देनेवाले इतिहासकार या तो उसका अस्तित्व ही अस्वीकृत कर देते हैं अथवा विक्रम संवत् का प्रवर्तन तथाकथित ऐतिहासिक पद्धति से ज्ञात प्राचीन भारतीय नरेशों में से किसी पर थोप देने का प्रयास करते हैं। यह संदेहवाद विक्रमादित्य तथा उनके संवत् की समस्या से संबद्ध प्रत्यक्ष अन्वेषण कार्य पर उतना आधारित नहीं है जितना उन्नीसवीं शती के युरोपीय प्राच्य-विशारदों द्वारा उठाये गये अनुमानों पर, जिनका कुछ भारतीय इतिहासकारों ने भी बड़े विश्वास के साथ पिष्टपेषण किया है। आगामी पृष्ठों में यह दिखलाने का प्रयास किया गया है कि ये अस्वीकृतियाँ तथा संदेहवाद अब प्राप्य साक्ष्यों के आधार पर प्रामाणिक सिद्ध नहीं होते, अपितु वे बहुत ही त्रुटिपूर्ण हैं। विक्रमादित्य-सम्बन्धी भारत की दृढमूल परम्पराओं को यों ही नहीं उड़ाया जा सकता; वे विक्रमादित्य के प्रथम शती ईस्वी पूर्व के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त विश्वसनीय एवं पुष्ट प्रमाण प्रस्तुत करती हैं।

२. विक्रम संवत् का साक्ष्य

विक्रमादित्य के अस्तित्व पर प्रकाश डालने वाला सर्वाधिक स्पष्ट, पुष्ट तथा जीवन्त प्रमाण उन्हीं के द्वारा प्रवर्तित विक्रम संवत् है। भारत में अन्य संवतों का भी प्रचलन रहा है। सृष्ट्यब्द, सप्तर्षि संवत् (नक्षत्रों से संबन्धित), कलि संवत् (कलि के प्रारम्भ से शुरू होने वाला संवत्), युधिष्ठिर संवत्, आनन्द संवत्, बुद्ध संवत्, मौर्य संवत्, शक संवत्, कनिष्क संवत्, गुप्त

संवत्, चेदि संवत्, इत्यादि। किन्तु इन सभी संवतों में विक्रम् संवत् ने अब तक जीवित रहकर सर्वाधिक जीवनी-शक्ति प्रदर्शित की है। विक्रम संवत् आज हिमालय के प्रदेशों से लेकर संपूर्ण भारत में प्रख्यात तथा उसके बड़े भू-भाग में प्रचलित है। ब्रिटिश शासन द्वारा ईस्वी सन् के प्रवर्तन के पश्चात् भी हिन्दुओं के सामाजिक तथा धार्मिक कार्यों में विक्रम संवत् का ही सर्वाधिक प्रचलन है। स्वतंत्र भारत सरकार द्वारा शक-संवत् को सरकारी संवत् स्वीकार कर लेने पर भी विक्रम संवत् समानान्तर और अबाध गति से प्रचलित है। केवल यही तथ्य यह प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त है कि जो संवत् इतने लम्बे काल तक जीवित रह सका तथा जिसने हिन्दू-जीवन को इतना अनुवेष्टित कर लिया है वह शून्य अथवा अभाव से नहीं उत्पन्न हुआ होगा। हिन्दुओं की कुण्डलियों तथा पञ्चांगों का संवत् विक्रमादित्य से सम्बन्धित रहता है।[1] विक्रम संवत् का २०१५ वाँ वर्ष चल रहा है। साधारण गणना के अनुसार विक्रम संवत् की स्थापना (२०१५–१९५८=) ५७ ईस्वी पूर्व सिद्ध होती है। इसके संस्थापक विक्रमादित्य प्रथम शती ईस्वी पूर्व में अवश्य ही वर्तमान रहे होंगे।

(अ) आपत्तियाँ

इस साक्ष्य के विरोध में दो सबल तर्क उपस्थित किये जाते हैं। प्रथम तो यह कि 'विक्रम' नाम विक्रम संवत् से, इसके प्रस्थापन काल एवं प्रारम्भिक शतियों से ही, संबद्ध नहीं है। दूसरे, ईसवी सन् की प्रारम्भिक शतियों में ज्योतिषियों ने अपने ग्रन्थों में इस संवत् का प्रयोग नहीं किया, अपितु वे अपने ग्रन्थों में शक संवत् से ही तिथिनिश्चय करते हैं। मालवा, राजपूताना तथा अन्य समीपवर्ती स्थानों में उपलब्ध अभिलेखों से यह पता चलता है कि इस संवत् का सबसे प्राचीन नाम 'कृत'[2] है:

(१) उदयपुर राज्य में उपलब्ध नंदसा यूप अभिलेख की तिथि कृत संवत् २८२[3] है।

---

१. श्रीमन्नृपति-वीर-विक्रमादित्य-संवत्सरे···।

२. इन सभी अभिलेखों के लिए (यदि दूसरे प्रकार से उल्लेख न किया गया हो तो) ए० इ०, भाग १९–२३, परिशिष्ट (अ) देखें।

३. कृतयोर्द्वयोर्वर्षशतयोर्द्व्यशीतयोः चैत्यपूर्णमास्याम्। डा० अ. स. अल्तेकर द्वारा संपादित, ए० इ०, भाग० २६, पृ० ११८–२५।

(२) कोटा राज्य में उपलब्ध बड़वा-यूप-अभिलेख की तिथि **कृत संवत्** २९५ है[१]।

(३) उदयपुर राज्य में उपलब्ध बरनाल के यूप-अभिलेखों की तिथियाँ २८४ तथा ३३५ **संवत्** है[२]।

(४) भरतपुर राज्य में उपलब्ध विजयगढ़-अभिलेख की तिथि ४२२ **कृत संवत्** है[३]।

(५) मालवा में उपलब्ध मन्दसोर (प्राचीन दशपुर) के अभिलेख की तिथि **कृत संवत्** ४६१ है[४]।

(६) राजपूताना में प्राप्त गंगधारा-अभिलेख की तिथि **कृत संवत्** ४८० है[५]।

(७) नगरी अभिलेख की तिथि ४८१ **कृत संवत्** है।[६]

संवत् ४६१ के पश्चात् ९३६ तक इस संवत् का नाम **मालवगण संवत्**, **मालवों का संवत्** अथवा **मालवेशों का संवत्** रहा :

(१) ४६१ के मंदसोर लेख में संवत् का नाम **कृत** तथा **मालव** दोनों है[७]।

(२) कुमारगुप्त के मंदसोर अभिलेख में तिथि **मालवगण संवत्** में है[८]।

(३) यशोधर्मन के मंदसोर के अभिलेख की तिथि **मालवगण संवत्** ५८९ है[९]।

(४) कोटा राज्य में उपलब्ध शिवगण के कनस्वा अभिलेख की तिथि **'मालवेशों के संवत्सर'** में है।[१०]

---

१. कृते हि : कृतैः २००+९९+५ फाल्गुन शुक्ल ५ : ए० इ०, भा० २३, पृष्ठ ४३।

२. कृते हि ३००+३०+५ जरा (ज्येष्ठ) शुद्धस्य पञ्चदशी।

३. कृतेषु चतुर्षवर्षशतेष्वष्टाविंशेषु ४००+२१+८ फाल्गुनबहुलस्य पञ्चदश्यामेतस्यां पूर्वायाम्।

४. श्री मालवगणाम्नाते प्रशस्ते कृतसंज्ञिते।

५. यातेषु चतुर्षकृतेषु शतेषु।

६. कृतेषु चतुर्षु वर्षशतेषु......।

७. श्रीमालवगणाम्नाते प्रशस्ते कृतसंज्ञिते। फ्लीट : कारपस इंसक्रिप्शनम् इंडिकेरम, भाग ३, सं० ३३।

८. मालवानां गणस्थित्या याते शतचतुष्टये। वही स० ३४।

९. मालवगणस्थितिवशात्कालज्ञानाय लिखितेषु।

१०. संवत्सरशतैर्याते........मालवेशानाम्। इ० एन्ट०, भा० १९, पृ० ५९।

(५) ग्वालियर राज्य में उपलब्ध ग्यारसपुर अभिलेख की तिथि **मालव काल** (संवत्) ९३६ है।[1]

नवीं शती से लेकर इस संवत् का सम्बन्ध विक्रमादित्य अथवा विक्रम से हो जाता है :

(१) चंडमहासेन के धौलपुर के अभिलेख की तिथि ८९८ **विक्रम काल** (संवत्) है।[2]

(२) राष्ट्रकूट राजा विदग्धराज के बीजापुर के अभिलेख की तिथि **विक्रम काल** (संवत्) ९७३ है।[3]

(३) बोधगया अभिलेख की तिथि **विक्रम संवत्सर** (संवत्) १००५ है।[4]

(४) उदयपुर राज्य में उपलब्ध अल्लत के अहार अभिलेख की तिथि **विक्रमकाल** (संवत्) १००८ है।[5]

(५) उदयपुर राज्य में उपलब्ध नरवाहन का एकलिंगजी अभिलेख की तिथि **विक्रमादित्य संवत्** १०२८ है।[6]

(६) पूर्णपाल के सिरोही राज्य में उपलब्ध वसन्तगढ़ अभिलेख की तिथि **विक्रमादित्य काल** (संवत्) १०९९ है।[7]

(आ) कृत, मालव तथा विक्रम संवतों का ऐक्य

ज्योतिष-गणना तथा प्रादेशिक आधारों से विद्वान् इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि **कृत, मालव** तथा **विक्रम** संवत् एक ही संवत् है, तथा तीनों ५७ ई० पूर्व से ही प्रारम्भ होते हैं।[8] जब इन संवतों की पहचान निश्चित हो जाती है तो यह अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है कि विक्रमादित्य द्वारा स्थापित संवत् का गत बीस शतियों में प्रचलन रहा। किन्तु यहाँ एक बहुत संगत प्रश्न किया जा सकता है : यदि संवत् के संस्थापक विक्रमादित्य ही थे तो क्यों यह संवत् अपने प्रारम्भिक काल में कृत, बाद में मालव तथा तत्पश्चात् अन्त में विक्रम

---

१. मालवकालाच्छरदां•••••••। आर० स० रि० भाग १० फलक २।

२. वसुनवाष्टौ वर्षागतस्य कालस्य विक्रमाख्यस्य। ए० इ० परिशिष्ट, भाग १९ से २३ तक।

३. विक्रमकाले गते।

४. विक्रम संवत्सर १००५।

५. दशदिग्विक्रमकाले वैशाखे शुद्ध-सप्तमी-दिवसे।

६. विक्रमादित्यभूभृतः अष्टाविंशतिसंयुक्ते शते दशगुणे सति।

७. नवनवतिरिहासीद् विक्रमादित्यकाले।

८. डॉ० अ० स० अल्तेकर : सह्याद्रि, अक्टूबर १९४३; नागरी-प्रचारिणी-सभा पत्रिका विक्रमाङ्क २०००।

संवत् के नाम से अभिहित किया गया ? किन्तु इस प्रश्न का उत्तर बड़ी सरलता से दिया जा सकता है, जो इस प्रकार है :

(इ) पूर्ववर्ती काल में 'विक्रम' नाम के अभाव का कारण

विक्रमादित्य, जैसा कि बाद में स्पष्ट होगा, केवल **गणप्रमुख** ही थे, निरंकुश एकतांत्रिक राजा नहीं थे[1]। यद्यपि मालव संवत् की स्थापना में उन्हीं का हाथ था, किन्तु उसके संस्थापन का संपूर्ण श्रेय वे न ले सकते थे। जनतांत्रिक राज्य-व्यवस्था में **गण** (जनसमूह) नेता से अधिक महत्त्वपूर्ण है, चाहे नेता कितना भी प्रभावशाली क्यों न हो। महत्त्वपूर्ण सिद्धियों में—यथा, युद्ध में सफलता आदि—संपूर्ण जनतंत्र का भाग होता था। यदि एक व्यक्ति अकेले संपूर्ण यश का भागी बनने की चेष्टा करता तो गण में भेद होने की संभावना रहती थी। ऐसी परिस्थिति में संवत् का नाम **मालवगण** पर रखा गया जिसके प्रधान विक्रमादित्य थे। यह संवत् शकों पर मालवों के विजय के उपलक्ष्य में स्थापित किया गया था। बर्बर शकों के निष्कासन से देश विदेशी आक्रमण से मुक्त हुआ तथा देश में शांति एवं समृद्धि के युग का प्रारंभ हुआ जिसे आलंकारिक भाषा में हम **'कृतयुग'** (स्वर्णयुग) कह सकते हैं। इसलिए प्रारंभ में इस संवत् का नाम **कृत संवत्** सार्थक ही था।

हिन्दू-ज्योतिष में कृत केवल तिथि-क्रमिक विभाजन नहीं है अपितु एक नैतिक विचारपूर्ण पद भी है जो गुण-सम्पन्न एवं वैभव-युग की ओर संकेत करता है। ऐतरेय ब्राह्मण में एक श्लोक से यही ध्वनि निकलती है। श्लोक का अनुवाद इस प्रकार किया जा सकता है : शयन करता हुआ (शयानः) कलि है, जंभाई लेता हुआ द्वापर, उठता हुआ त्रेता और चलता हुआ कृत है।[2] जिस युग में, भारतीय मालवगण के नेतृत्व में उठ खड़े हुए और उन्होंने देश के रक्षार्थ शत्रुओं के विरुद्ध मोर्चा लिया तथा अपने विजय-फल का आस्वादन भी किया, निश्चित ही वह युग 'कृत' युग के नाम से अभिहित होने योग्य था।

भारत विदेशी आक्रमणों से मुक्त होकर १३५ वर्ष तक (५७ ई० पूर्व से लेकर ७८ ई० तक) शान्ति तथा समृद्धि भोगता रहा। इस काल के पश्चात् शकों ने पुनः आक्रमण करना प्रारंभ कर दिया तथा देश में किसी

---

१. षष्ठ और अष्टम अध्याय देखिये।

२. कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः।
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं संपद्यते चरन्॥ ७, १५.

योग्य नेतृत्व के अभाव में संपूर्ण सिन्धु, सौराष्ट्र तथा अवन्ती पर अधिकार कर लिया। यद्यपि मालवों का अवन्ति-राज्य उनके हाथ से निकल गया फिर भी वे इस आपत्ति को झेल ले गये तथा कुछ शतियों तक अवन्ती की पुनः प्राप्ति तथा पुनः कृत-युग की स्थापना की आशा अपने मस्तिष्क से निकाल न सके। अवन्ती से उत्तरपूर्व की ओर हटकर उन्होंने एक नये मालवराज्य की स्थापना की,[1] तथा ५७ ईसवी पूर्व में प्रारम्भ होने वाला युग अब भी 'कृतयुग' कहलाया। उन्होंने शकों से अपना संघर्ष जारी रखा। किन्तु अब उनकी शक्ति विच्छिन्न हो चुकी थी। अतः वे अपने खोये हुए राज्य तथा यश को पुनः प्राप्त न कर सके। उनके कृत-युग के स्वर्णिम स्वप्न पर यह क्रूर प्रहार था। संवत् से 'कृत' शब्द हटा लिया गया किन्तु चूँकि मालवगण अब भी जीवित था अतः संवत् का नाम मालवगण की उस सुदृढ़ नींव को स्मरण दिलाने के लिए लिया जाता था जिसने ५७ ईस्वी पूर्व में देश से शकों का निष्कासन किया था। अब यह संवत् मालव संवत् (मालवगण का संवत् अर्थात् मालवा के लोगों अथवा स्वामियों का संवत्) के नाम से अभिहित हुआ।

ईस्वी सन् की चौथी और पाँचवीं शताब्दी के पश्चात् भारतीय इतिहास में एक नवीन राजनीतिक विचारपद्धति का विकास हुआ जो इस संवत् के नाम-(मालव संवत् से विक्रम संवत् में)परिवर्तन का कारण हुआ। जब चतुर्थ शती के पूर्वार्द्ध में गुप्तों की शक्ति उत्कर्ष प्राप्त कर रही थी, गुप्त साम्राज्य के पश्चिमी क्षितिज पर अब भी शक्तिशाली गणतंत्र के रूप में मालव शक्ति विद्यमान थी। समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति में उन गणतंत्रों की नामावली में मालव का नाम सर्वप्रथम आता है जिनको विजेता समुद्रगुप्त ने परास्त कर के अधीन बना कर मुक्त कर दिया[2]। दूसरे महत्वाकांक्षी सम्राट् द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने इन गणतंत्रों के प्रति कड़ी नीति अपनायी। चन्द्रगुप्त ने उन्हें अपने साम्राज्य में मिला लिया तथा बाद में उनका उन्मूलन कर दिया। इसके पश्चात् उनका नाम भी नहीं सुन पड़ता। गुप्तसाम्राज्य में मालवशक्ति विलीन हो गई तथा गुप्तसाम्राज्य की भुजायें मालवा, राजपूताना तथा मध्य भारत तक फैल गईं। गुप्तों का स्वयं एक संवत् था जो ३१९–२०

---

१. महता स्व-शक्ति-गुरुणा प्रथमचन्द्रदर्शन(मिव मा)मालवगणविषयमवतारयित्वा······ ···नंदसा-यूप-अभिलेख। ए. इं. जिल्द २७।

२. मालवार्जुनायनयौधेयमाद्रकाभीरप्रार्जुनसनकानीककाकखर्परिकादि······फ्लीट का० इन्स० इ० भाग ३, पृष्ठ १– २७।

ई० से प्रारंभ होता है। किन्तु उस स्वातंत्र्य की भावना, जिसके लिए कभी मालवा खड़ा था, अब भी राजपूताना तथा मालवा के जन-जन के मस्तिष्क में गूँज रही थी। उन्होंने गुप्त शासन के अधीन होते हुये भी अपना मालव संवत् जारी रखा। यहाँ तक कि महान् सम्राट् कुमारगुप्त को भी उस क्षेत्र में मालव संवत् को ही मान्यता देने के लिए बाध्य होना पड़ा।[1] छठी शती में हूणों ने गुप्त साम्राज्य को नष्ट कर दिया और अब भारतीयों की 'कृत' युग की आशा बिलकुल समाप्त हो गई। भारतीय गुप्तों को भूल गये किन्तु मालव अब भी उनकी स्मृति में बसे हुए थे, क्योंकि उनका इतिहास विदेशी शासन से उन्मुक्त होने, उनके राजनीतिक आदर्श, इसके लिए उनके बलिदान, उनकी दुर्गम कठिनाइयों तथा उनके नायक विक्रमादित्य के उदात्त व्यक्तित्व से उनका इतिहास प्राणवान् हो गया था। गुप्तों का साम्राज्य समाप्त हो गया पर मालवों का संवत् जीवित रहा तथा मालवगण-संवत् (मालवा के लोग अथवा मालवा के स्वामी) के नाम से अभिहित रहा।

आठवीं तथा नवीं शती के लगभग भारत में निरङ्कुश राजतंत्र की अपने संपूर्ण अर्थ में दृढ़ स्थापना हो गयी। गणतांत्रिक राज्य-व्यवस्था की कल्पना भारत के मानसिक क्षितिज से हट चुकी थी। नवीं शती के अन्तिम दशक में मालव गण विक्रमादित्य के जाज्वल्यमान व्यक्तित्व में लुप्त हो गया था, जिनकी स्मृति जन-मन को अब भी अभिभूत किए हुए थी। अतः इस संवत् का नाम अब उन्हीं के नाम पर पड़ा। विक्रमादित्य स्वयं एक राजा माने जाने लगे थे तथा अब राजा विक्रम अथवा विक्रमादित्य के नाम पर ही संवत् भी '**विक्रम संवत्**' के नाम से अभिहित हुआ। गणतंत्रवाद से राजतंत्रवाद में परिवर्तन भारतीय जनमन के लिए एक नयी बात नहीं थी। कुछ थोड़े से विद्वानों को छोड़कर, यह कौन जानता है कि श्रीकृष्ण एक गणतंत्र के नेता थे तथा बुद्ध भगवान् के पिता भी एक गण-मुख्य थे?

ज्योतिषग्रन्थों में विक्रम संवत् के अभाव का उत्तर भी सरलता से दिया जा सकता है। यद्यपि मालवों द्वारा शकों को प्रथम बार के आक्रमण में हरा कर उनका निष्कासन किया गया था, किन्तु उन्होंने (शकों ने) पुनः ७८ ई० में आक्रमण कर अवन्ती को जीत लिया तथा उज्जयिनी को अपनी राजधानी बनाया।

हम जैनग्रन्थ **प्रभावक-चरित** से भी जानते हैं कि शकों ने शक-संवत् का प्रारम्भ ७८ ई० में किया था। उस समय उज्जयिनी ज्योतिष-अन्वेषण तथा

---

१. दे० कुमारगुप्तकालीन मन्दसोर का अभिलेख, फ्लीट : का. इं. इं. भाग ३ पृ. ८१

विद्या का महत्त्वपूर्ण केन्द्र थी। ज्योतिषी अन्य शास्त्रविदों की भाँति शकों के समय में भी इस नगर में अधिकाधिक संख्या में आते थे। इस समय मालव अवन्ती में नहीं थे; उत्तर-पूर्व की ओर ठेल दिये गये थे तथा उज्जयिनी नगरी मालवों द्वारा संस्थापित संवत् से सम्बन्ध-विच्छेद करने के लिए बाध्य थी। तीन सौ वर्ष के लम्बे काल के पश्चात् जब शक अवन्ती तथा सौराष्ट्र में शासन कर रहे थे, मालव संवत् को पुनर्जीवन प्राप्त करने का कोई मार्ग नहीं था। ज्योतिषियों ने राजकीय संवत् का प्रयोग प्रारंभ में बाध्य होकर ही किया किन्तु बाद में वही प्रचलन हो गया। आगे चल कर इस संवत् का संबन्ध शालिवाहन से जुड़ गया। इस संवत् के साथ शास्त्रीय पवित्रता की भावना भी हो गई। गुप्तों ने अवन्ती को जीता तथा लगभग डेढ़ सौ वर्ष तक वहाँ शासन किया। गुप्तों का स्वयं अपना राजकीय संवत् था किन्तु ज्योतिषी-गण इस समय तक रूढिवादी हो गये थे, अतः उनका **शालिवाहन-शक-संवत्** ग्रहण किये रहना स्वाभाविक ही था। उन्होंने अपना कार्य-व्यवहार इसी में किया तथा गुप्त संवत् को नहीं अपनाया। जब गुप्तों की शक्ति समाप्त हो गई थी तब भी मालवसंवत् प्रचलित था, किन्तु ज्योतिषियों ने अपने तिथि-निश्चय का ढंग बदला नहीं। यह अवस्था केवल दक्षिण तथा मध्यभारत की ही नहीं थी, जहां शकसंवत् विस्तृत रूप से प्रचलित तथा लोकप्रिय हो चुका था, किन्तु उत्तरी भारतवर्ष में भी, जहां विक्रमसंवत् को वर्तमान उपाधि मिली तथा जहां वह व्यापक हुआ, यही अवस्था रही। ज्योतिषी तथा नक्षत्र-विज्ञानवेत्ता अपने ग्रन्थों में तिथिनिर्धारण १९ वीं शती तक भी शक संवत् में ही करते आये। इसका प्रमुख कारण शालिवाहन-शक-संवत् से रूढिगत मोह और आंशिक कारण उचित राजनीतिक दृष्टि का अभाव था।[1]

३. लोकप्रिय कथायें

अतीत भारत के अत्यधिक प्रसिद्ध व्यक्तियों में विक्रमादित्य ने बहुत ही लोकप्रिय कहानियों को प्रचुर सामग्री दी है। अगणित कहानियों में उनको किसी न किसी रूप में कथा का विषय बनाया गया है। अत्यन्त असंस्कृत ग्रामीण भी पेड़ की छाँह में बैठता है तथा अपने ग्रामीण श्रोतागण को विक्रमादित्य की कहानियाँ सुनाता है। ये कहानियाँ विक्रमादित्य के जीवन के विभिन्न पहलुओं को व्यक्त करती हैं। उनके राजत्व के आदर्श, अनुपम

---

१. आर्यभट्ट से लेकर गोविन्द शास्त्री तक ज्योतिषियों के व्यक्तिगत इतिहास जानने के लिये कृपा करके काशी के सुधाकर द्विवेदी कृत 'गणक-तरङ्गिणी' देखें।

न्याय, अमित जनसेवा, साहस तथा प्रेम, दूसरों को दुःख तथा आपत्ति से मुक्त करने के लिए संकट मोल लेना तथा उनके जीवन के अन्य बहुत से दृश्यों से लोकप्रिय कहानियों के लिए प्रेरणा तथा प्रचुर सामग्री प्राप्त होती है। यहाँ यह कहना आवश्यक है कि ये लोकप्रिय दन्त-कथायें तथा लिखित कहानियाँ एक दूसरे को प्रभावित करती रही हैं। बहुत सी लोकप्रिय कहानियों को लिखित साहित्यिक अनुश्रुतियों में ढूँढ़ा जा सकता है। बहुधा ऐसा होता है कि लिखित कहानियों को बार-बार दुहराने-सुनाने से, लोग उनको मौखिक रूप से ग्रहण कर लेते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि लोकप्रिय कहानियों में बहुधा सत्यांश कम तथा कल्पना का पुट अधिक होता है। किन्तु यह भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि कहानीकार तथ्यों से ही अपनी सामग्री लेते हैं। वे केवल कहानियों के ऐतिहासिक ढाँचे को अपनी कल्पना-प्रसूत भावनाओं से अलंकृत कर देते हैं। जब विक्रमादित्य से संबन्धित लोकप्रिय कहानियों का संग्रह, विभाजन तथा छानबीन होती है तथा उनमें से गल्पांश काट-छाँट दिया जाता है तब वे निम्नलिखित तथ्यों को प्रस्तुत करती हैं, जिनकी पुष्टि ऐतिहासिक प्रमाणों से की जा सकती है:

(१) विक्रमादित्य के पिता गंधर्वसेन उज्जयिनी के प्रशासक थे।

(२) विक्रमादित्य ने भी उज्जयिनी में शासन किया तथा बड़े-बड़े विजय किये।

(३) विक्रमादित्य के समय म्लेच्छों[1] ने भारत पर आक्रमण किया था और उनको हराकर विक्रमादित्य ने अपना संवत् चलाया था।

(४) विक्रमादित्य का जीवन साहसिक और प्रेमपूर्ण कार्यों से भरा था।

(५) विक्रमादित्य एक आदर्शवादी राजा थे, जिन्होंने जनसेवा के लिए अपने को उत्सर्ग कर दिया था।

(६) वे स्वयं शास्त्रों में पारंगत थे तथा कालिदास सदृश कवियों के रक्षक, पोषक तथा प्रेरक थे।

(७) विक्रमादित्य के एक पुत्र भी था (राजनीतिक ?) जिसका नाम सारवाहन (शालिवाहन) था, तथा जिसके लिए ज्योतिषियों ने भविष्यवाणी की थी कि वह अपने पिता से भी पराक्रम, बुद्धि तथा प्रसिद्धि में आगे होगा।

उपर्युक्त तथ्यों के सम्यक् परीक्षण से विक्रमादित्य के इतिहास की बहुत ही महत्त्वपूर्ण बातें दिखाई देती हैं:

---

१. संस्कृत साहित्य में 'म्लेच्छ' शब्द विदेशियों के लिए घृणा से प्रयुक्त होता था।

(१) प्रथम विक्रमादित्य की पैतृक राजधानी उज्जयिनी थी ।

(२) उनके समय में एक विकट विदेशी आक्रमणहुआ था, जिसमें उन्होंने आक्रमणकारियों को परास्त तथा एक संवत् की स्थापना की थी ।

(३) विक्रमादित्य दक्षिण के आंध्रराज सातवाहन अथवा शालिवाहन (= प्रथम शातकर्णि) के ज्येष्ठ समकालीन थे ।

४. साहित्यिक परम्परा

हिन्दुओं ने अपनी लिखित अनुश्रुतियों में विक्रमादित्य का संस्मरण तथा इतिहास संचित कर रखा है। ये अनुश्रुतियाँ न केवल लोकप्रिय कहानियों को बल देती हैं, अपितु वे विक्रमादित्य के जीवन के सुविस्तृत तथा वास्तविक चित्रों की पूर्ति भी करती हैं । कुछ चुनी हुई लिखित अनुश्रुतियों को यहाँ रखा जाता है ।

(१) गाथा-सप्तशती

विक्रमादित्य के बारे में सबसे प्राचीन लिखित अनुश्रुति प्रतिष्ठान के राजा हाल सातवाहनरचित गाथा-सप्तशती की है, जिसमें श्रृंगार रस के ललित पदों का संग्रह है । इसमें एक श्लोक विक्रमादित्य का उल्लेख करता है । जिसका अनुवाद यहाँ दिया जा सकता है[1] :

[नायिका, जिसके चरण संवाहन (दबाने) से संतुष्ट हैं और जिसके हाथों में लक्ष (आलक्तक) विद्यमान है, तुम्हें विक्रमादित्य के आचरण का पाठ पढ़ाती है ।]

टीकाकार गदाधर उपर्युक्त श्लोक की व्याख्या निम्नप्रकार से करते हैं :

'विक्रमादित्य के इस संदर्भ में संवाहण का अर्थ है शत्रुदलन (संवाधन) तथा लक्खम् का अर्थ है लाखों मुद्राएँ । विक्रमादित्य अपने शत्रुओं के परास्त होने से सन्तुष्ट होकर अपने सेवकों के हाथ में मुद्रायें देते हैं'[2] ।

उपर्युक्त उद्धरण से आसानी से यह अर्थ निकाला जा सकता है कि जिस समय गाथा-सप्तशती की रचना हुई, कवियों में यह परम्परा प्रचलित थी कि विक्रमादित्य नाम का एक राजा था, जो अपने विजयों तथा उदारता के लिए प्रसिद्ध था ।

---

१. संवाहण सुहरसतोसियेण देन्तेण तुह करे लक्खम् ।
चलणेण विक्कमाइत्त-चरिअं अणुसिक्खियं तिस्सा ।। गाथा० ५६४ ।

२. पक्षे संवाहणं संबाधनम् । लक्खम् लक्षम् । विक्रमादित्योऽपि भृत्यकर्तृकेन तुष्टः सन् भृत्यस्य करे लक्षं ददातीत्यर्थः ।

इतिहासकारों ने समानरूप से स्वीकार किया है कि गाथा-सप्तशती का लेखक हाल सातवाहन प्रथम शती के अन्तिम दिनों में राज्य कर रहा था[1]। विक्रमादित्य की प्रसिद्धि तथा नाम के फैलने के लिए डेढ़ सौ वर्ष भी पर्याप्त समझें तो उनकी तिथि बड़ी आसानी से प्रथम शती ई० पू० रखी जा सकती है।

डा० भाण्डारकर ने हाल सातवाहन के गाथा-सप्तशती के कर्तृत्व तथा गाथा की तिथि प्रथम शती ई० पू० होने में सन्देह किया है। आपका कथन है कि इसका रचयिता हाल (सातवाहन) राजा था, केवल परम्परा मात्र है। अतः प्राचीन भारतीय साहित्यकारों से सम्बन्धित परम्पराओं की भाँति यह भी त्याज्य है। बाणरचित हर्ष-चरित की भूमिका का तेरहवाँ श्लोक सातवाहन को एक गीत-कोष का रचयिता बताता है, किन्तु इस मान्यता का कोई आधार नहीं कि यह कोष हाल की सप्तशती ही है, जैसा कि प्रो० वेबर ने इस सम्बन्ध में ठीक कहा है (उवर डास सप्तशतकम् डिस हाल, पृ० २-४)।

फिर ग्रन्थ का अन्तःसाक्ष्य भी सिद्ध करता है कि ग्रन्थ की रचना बहुत बाद में हुई। यहाँ दो बातें ध्यान देने की हैं। प्रथम तो श्लोक १—८९ में कृष्ण तथा राधिका का उल्लेख तथा दूसरे, सप्ताह के एक दिन, मंगलवार (३—६१ में) का प्रयोग। राधिका का सबसे प्राचीन उल्लेख पञ्चतन्त्र (प्रथम तन्त्र पृ० ३८, बाम्बे संस्कृत सीरीज सं० ४) में दिखाया जा सकता है, जिसका संकलन ईसा की पाँचवीं शती में हुआ है। उसी प्रकार तिथि दिखाने, तथा अन्य सर्वसाधारण कार्यों में दिवसों के प्रयोग का नवीं शती में प्रचलन हुआ, यद्यपि बुधगुप्त के एरण के अभिलेख में तिथिप्रयोग का सर्वप्राचीन उदाहरण मिलता है (ज० रा० ए० सो० १९१२ पृ० १०४४—४५)। अतः हम लोग यदि हाल की गाथा-सप्तशती की तिथि छठी शती ई० के प्रारम्भ में निर्धारित करें तो अधिक त्रुटिपूर्ण नहीं होगा[2]।

उपर्युक्त उद्धरण में डा० भाण्डारकर जब भारत के प्राचीन मनीषियों से सम्बद्ध परम्पराओं को हटा देने की बात करते हैं तो वे परम्पराओं के प्रति तर्कपूर्ण रुख नहीं अपनाते। प्रो० वेबर के तर्कों को अपने तर्कों की पुष्टि के लिए लाना ही कोई मूल्य नहीं रखता, जिनके कितने ही सिद्धान्त कालान्तर में भ्रमपूर्ण सिद्ध हुए हैं। गाथा-सप्तशती में कोई असंगति नहीं है, जिसका

१. म० म० पं० हरप्रसादशास्त्री : ए० इ० भा० १२–पृ० २३० : तथा म० म० पं० गौ० ही० ओझा : प्राचीनलिपिमाला पृ० १६२ : ने भी यही तिथि स्वीकार की है।

२. रा० गो० भण्डारकर स्मृति-ग्रन्थ पृ० १८८—८९।

उत्तर हर्ष-चरित को देना पड़ता है। वस्तुतः यह ललित पदों का कोष है[1]। हमें अन्य साधनों से ज्ञात होता है कि हाल सातवाहन प्राकृत साहित्य के बहुत बड़े संरक्षक तथा स्वयं एक बहुत बड़े कवि थे[2]। दिवंगत डा० सर रामकृष्ण गोपाल भाण्डारकर ने भी हर्षचरित के सातवाहन को हाल सातवाहन बताया है[3]। प्रबन्धचिन्तामणि के लेखक मेरुतुंग[4] तथा फ्लीट का भी यही मत है[5]।

जहाँ तक गाथा-सप्तशती में राधिका के उल्लेख का प्रश्न है यह दिखाया जा सकता है कि कल्पना की किसी उड़ान में भी गाथा की तिथि बाद में सिद्ध नहीं होती। पाँचवीं शती के पञ्चतंत्र में राधिका के उल्लेख से यह मान लेना आवश्यक नहीं कि यह सर्वप्रथम उल्लेख है। पाँचवीं शती में राधिका के उल्लेख का अर्थ यह है कि उसके पूर्व ही राधिका की मान्यता लोकप्रिय हो चुकी थी तथा किसी कहानीकार की सामग्री बनकर प्रयोग का रूप धारण करने के लिए शतियाँ लगी होंगी। अतः असम्भव नहीं प्रतीत होता कि राधा का सम्प्रदाय प्रथम शती ई० में प्रचलित रहा हो, जिस समय गाथा की रचना हुई। गाथा में सप्ताह के दिनों के उल्लेख के सम्बन्ध में डा० भाण्डारकर यह स्वयं स्वीकार करते हैं कि इसका सर्व प्राचीन उल्लेख बुधगुप्त के एरण वाले अभिलेख में होता है। इससे भी प्राचीन अभिलेख, शक-क्षत्रप, रुद्रदामन् के अभिलेख में तिथि शक-संवत् ५२ (१३० ई०) दिन गुरुवार उल्लिखित है[6]। अतः गाथा-सप्तशती में राधिका तथा सप्ताह के दिवस का उल्लेख उसकी तिथि छठी शती में नहीं खींच लाता, जिससे डा० भाण्डारकर के सिद्धान्त का पोषण हो कि विक्रम संवत् का संस्थापक गुप्त राजा द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य था।

---

१. अविनाशिनमग्राम्यमकरोत्सातवाहनः।
विशुद्धजातिभिः कोशं रत्नैरिव सुभाषितैः॥

२. केऽभूवन्नाढ्यराजस्य राज्ये प्राकृतभाषिणः। भोज, सरस्वतीकण्ठाभरण (आढ्यराजः शालिवाहनः। रत्नेश्वरः)

३. **बाम्बे गजेटियर** भाग० १, खण्ड २, पृ० १७।

४. पृ० २६।

५. जे० आर० ए० एस० १९१६ पृ० ८२०

६. वर्षे द्वि-पञ्चाशे (५०+२) फागुण बहुलस बी २ गुरुवास (रेः) सिंहलपुत्रस ओपशतस गोत्रस। अन्धे ग्राम में प्राप्त, तथा वल्लभ जी हरिदत्त द्वारा तैयार किया गया। **प्राचीन भारतीय लिपिमाला** पृ० १६८।

(२) बृहत्कथा

दूसरा प्राचीन साहित्यिक ग्रन्थ जो विक्रमादित्य के प्रथम शती के पूर्व होने का प्रमाण प्रस्तुत करता है वह गुणाढ्य द्वारा पैशाची प्राकृत में लिखित **बृहत्कथा** है। मूल बृहत्कथा अप्राप्य है, किन्तु इतना निश्चित है कि इसका संस्कृत में अनुवाद आठवीं शती ई० से पूर्व हुआ होगा, जिसका विकास दो परम्पराओं में हुआ—(१) काश्मीरी और (२) नेपाली। प्रथम का संस्कृत के दो ग्रन्थों से प्रतिनिधित्व होता है—(१) क्षेमेन्द्र की **बृहत्कथा-मञ्जरी** तथा (२) सोमदेव का **कथासरित्सागर**। दूसरी परम्परा को केवल एक ग्रन्थ सुरक्षित रखने का यश प्राप्त है। वह ग्रन्थ है बुद्धस्वामी का **श्लोक-संग्रह**, जिसका सम्पादन फ्रांसीसी लॉकेट ने किया है। यदि इन ग्रन्थों का उचित परीक्षण तथा तुलनात्मक अध्ययन हो तो मूल बृहत्कथा को पुनर्निर्मित करना सम्भव है तथा यह बड़े विश्वास तथा निश्चय के साथ कहा जा सकता है कि बृहत्कथा में विक्रमादित्य के जीवन के बारे में बड़े विस्तार के साथ वर्णन है। परम्परा के अनुसार गुणाढ्य हाल सातवाहन के समकालीन थे तथा उन्होंने उनकी राज-सभा को सुशोभित किया था। गुणाढ्य की तिथि के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है, किन्तु हम इसे प्रथम या दूसरी शती के बाद खींच कर नहीं ला सकते। इस प्रकार बृहत्कथा के द्वारा विक्रमादित्य के अस्तित्व का प्रथम शती ई० के पूर्व होने का प्रमाण मिलता है।

(३) बृहत्कथा-मञ्जरी

यह ग्रन्थ ग्यारहवीं शती में काश्मीरी पण्डित क्षेमेन्द्र द्वारा लिखा गया था। लेखक स्वीकार करता है कि ग्रन्थ गुणाढ्य कृत प्राचीन ग्रन्थ बृहत्कथा पर आधारित है। हम लोगों ने पहले ही देख लिया है कि गुणाढ्य हाल सातवाहन के समकालीन थे तथा उनकी तिथि प्रथम शती ई० है। बृहत्कथा-मञ्जरी में (१०–१०८–१३) विक्रमादित्य की निम्नलिखित कहानी है :

'इन्द्र के नेतृत्व में देवतागण कैलास पर विराजमान शिव के यहाँ पहुँचे और उन्होंने कहा : देवाधिदेव ! दिति के पुत्र असुरों ने, जिनका आपने संहार किया था, म्लेच्छों के रूप में पुनः जन्म धारण किया है। उन्होंने देवताओं को त्रस्त कर रखा है। अब केवल आप ही शरण हैं। भगवान् शिव ने देवताओं की आर्तवाणी सुनकर माल्यवान को पृथ्वी का भार उतारने की आज्ञा दी। माल्यवान प्रथम तो हिचकिचाया, किन्तु शिव की आज्ञा तथा पार्वती की प्रेरणा पाकर उसने उज्जयिनी के वैभवशाली अधिपति महेन्द्रादित्य के पुत्र के

रूप में अवतार धारण किया। उज्जयिनी के अधिपति को स्वप्न में इस समाचार से अवगत कराया जा चुका था। पुत्रोत्पत्ति के पश्चात् पुत्र का नाम विक्रमादित्य तथा विषमशील रखा गया। कालान्तर में वह अति शक्तिशाली, यशोनिधि तथा समस्त ज्ञान का संरक्षक हुआ। × × × विक्रमादित्य ने अवस्था पाकर म्लेच्छों का संहार किया।'

कहानी के साधारण पाठकों को रोचक लगने योग्य बृहत्कथामञ्जरी के उपर्युक्त अवतरण में हम मानवीय तथा अतिमानवीय दोनों तत्वों का समावेश पाते हैं। किन्तु अतिमानवीय को, जिनका वर्णन महापुरुषों के जन्मकाल को चित्रित करने के लिए किया जाता है, हटा देने पर मानवीय एवं ऐतिहासिक तथ्यों का निम्नांकित ढाँचा हमारे सम्मुख आ जाता है :

(अ) विक्रमादित्य के पिता **महेन्द्रादित्य** थे, जो उज्जयिनी में शासन करते थे।

(आ) विक्रमादित्य के जन्म के पूर्व देश को विदेशी आक्रमण का भय था।

(इ) चरित्र-नायक का नाम **विक्रमादित्य** था तथा उनका विरुद **विषमशील** था।

(ई) अवन्ती का लोकप्रिय धर्म शैवधर्म था।

(उ) जब विक्रमादित्य अवस्था पाकर बड़े हुए तो उन्होंने विदेशी आक्रमणकारियों को हराया तथा उनको देश से खदेड़ दिया।

कहानी के अतिमानवीय तथ्यों से भी निम्नलिखित ऐतिहासिक तथ्य सामने आते हैं :

(अ) विक्रमादित्य के पिता तथा उनकी प्रजा शैव थी।

(आ) शिव का 'गण' राज्य के एक प्रकार 'गण-राज्य' का प्रतीक है।

(इ) माल्यवन्त नाम संभवतः यह सङ्केत करता है कि यह गण-राज्य जिससे विक्रमादित्य संबंधित थे, 'मालव' था।

(४) कथा-सरित्सागर

इस ग्रंथ की रचना ग्यारहवीं शती में **सोमदेव** नामक एक अन्य काश्मीरी पण्डित द्वारा हुई थी। बृहत्कथा-मञ्जरी में उपलब्ध विक्रमादित्य के जीवन तथा उनके कार्यों के बारे में प्राप्त सामग्री से भी विस्तृत सामग्री इस ग्रंथ में प्राप्त होती है। इस ग्रंथ की प्रामाणिकता तथा स्वरूप के संबन्ध में सोमदेव ग्रंथ के कथा-पीठ[1] (ग्रंथ-भूमिका) में कहते हैं : 'यह ग्रन्थ गुणाढ्य-रचित

१. यथा मूलं तथैवैतन्न मनागप्यतिक्रमः। इत्यादि १. १-१०।

बृहत्कथा के ही ढांचे पर है, जहाँ से इसकी सामग्री प्राप्त की गई है। कहीं तनिक भी अतिक्रम नहीं है। केवल ऐसी भाषा का प्रयोग किया गया है जो ग्रन्थ-विस्तार के अनुरूप हो। औचित्य, स्वाभाविक संबन्ध तथा कवितांशों को इस प्रकार जोड़ने की ओर, जो कथा के प्रवाह में बाधक नहीं, जहाँ तक संभव था अधिक ध्यान रखा गया है। यह प्रयास अपनी चातुरी की प्रशंसा की इच्छा से नहीं, किन्तु विभिन्न तथा अधिक कथानकों की स्मृति को आसान बनाने के लिए ही किया गया है।'

सोमदेव ने विक्रमादित्य के जीवन से संबन्धित कथाओं का उल्लेख अपने ग्रंथ के कई भागों[1] में किया है। विक्रमादित्य के जीवन का प्रमुख अंश कथासरित्सागर के अठाहरवें लम्बक से दिया जा रहा है, जो इस प्रकार है:

'अवन्ती में उज्जयिनी नाम की प्रसिद्ध नगरी है, जिसको विश्वकर्मा ने युगारम्भ में ही बनाया था तथा जिसमें शिव का वास था। वह एक साध्वी स्त्री की भांति किसी भी अपरिचित के लिए अभेद्य, श्रीकमल के सदृश श्रीसम्पन्न, सज्जनों के मृदु हृदय की भांति गुणाकर और पृथ्वी की तरह बहुत सी अद्भुत वस्तुओं से भरी थी। उस नगरी में दिग्विजयी महेन्द्रादित्य नामक एक राजा रहते थे। जहां तक उनकी वीरता का प्रश्न है वे विविध प्रकार के आयुध धारण करते थे और सौंदर्य में स्वयं कुसुमायुध (कामदेव) थे। उनकी मुट्ठी दान में सर्वदा खुली रहती थी, किन्तु कृपाण पर कस जाती थी। राजा की एक धर्मपत्नी थी, जिसका नाम सौम्यदर्शना था। वह राजा के लिये इन्द्र की शची, शिव की गौरी तथा विष्णु की श्री के समान थी। राजा के महामात्य सुमति तथा नगर-रक्षक वज्रायुध थे, जिनके कुटुम्ब में नगर-रक्षण पैतृक हो गया था। उनके साथ रहकर राजा शिव को प्रसन्न रखते हुए राज्य-संचालन करते थे तथा पुत्रोत्पत्ति के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के यज्ञ-दानादि किया करते थे। उसी समय कैलास पर, जिसकी घाटियों में देवता दल बांध कर सर्वदा आया करते हैं, जो उदीची की मुस्कान से सदा उत्फुल्ल रहता है, जो विजय में सर्वदा उल्लसित है, शिव और पार्वती बैठे हुए थे। म्लेच्छों से त्रस्त होकर इन्द्र के नेतृत्व में देवतागण उनके पास आये। अमरों ने शिव को नमस्कार किया तथा बैठ कर उनका गुणगान करने लगे। शिव ने उनके आगमन का कारण पूछा तो उन्होंने प्रार्थना की: हे देवाधिदेव! वे असुर जिनको आप तथा विष्णु ने मार डाला था, म्लेच्छों

१. ६–९, ७–४, १२।

के रूप में पृथिवी पर पुनः उत्पन्न हो गये हैं। वे ब्राह्मणों को मार डालते हैं, यज्ञादिक में विघ्न डालते हैं तथा साधुओं की कन्याओं को उठा ले जाते हैं। सच पूछिए तो विधर्मियों ने कुछ भी उठा नहीं रखा है। आप जानते ही हैं कि अमरलोक पृथिवी से ही पोषण पाता है, क्योंकि पृथिवी पर जब हवनादि होता है तो उसी से स्वर्गवासी देवता संतुष्ट रहते हैं।'

'म्लेच्छों ने पृथिवी को रौंद रखा है, यज्ञ-कुण्डों के चारों ओर कहीं भी मांगलिक शब्दों का उच्चारण नहीं होता। यज्ञ-भाग तथा अन्य वस्तुओं के न मिलने से देवतागण त्रस्त हैं। किसी वीर पुरुष को अवतरित कीजिए, जो म्लेच्छों को नष्ट करने के लिए पर्याप्त शक्तिशाली हो।'

'जब देवताओं ने शिव से प्रार्थना की तो उन्होंने कहा कि आप लोग जाइये। आप लोगों को चिन्तित होने की आवश्यकता नहीं। आप निश्चिंत रहें कि कठिनाइयों के हटाने का शीघ्र ही कोई उपाय होगा।'

'जब वे चले गये तो बगल में बैठी हुई पार्वती के साथ बैठे हुए शिव जी ने माल्यवन्त नामक गण को बुलाया तथा उसे आज्ञा दी कि वत्स, मनुष्य का रूप धारण कर उज्जयिनी में महेन्द्रादित्य के पुत्र के रूप में अवतरित हो।'

'उसी समय भगवान चन्द्रमौलि शङ्कर ने राजा से स्वप्न में कहा कि मैं तुमसे प्रसन्न हूँ, अतः तुम्हें एक तेजस्वी पुत्र होगा, जो अपनी शक्ति से पृथिवी के समस्त खण्डों का विजय करेगा। वह जन-नायक यक्षों, पिशाचों, राक्षसों, नभचरों तथा पाताल-वासियों को भी अपने वश में करेगा तथा म्लेच्छ-समूह का नाश करेगा; इस कारण वह विक्रमादित्य के नाम से अभिहित होगा तथा कठिन पराक्रम के कारण उसका नाम विषमशील होगा।'

'जिस प्रकार उषा-काल में, जिस समय सूर्य निकलने को होता है, प्राची का सौंदर्य बढ़ जाता है उसी प्रकार रानी भी गर्भवती हुई। उसके कुचाग्र भाग काले पड़ गये जो स्पष्टतः इस बात की ओर संकेत करते थे कि (भावी) राजा के लिए, जिससे वह गर्भवती हुई थी, पर्याप्त दूध हो गया। स्वप्न में उन्होंने यक्ष-वेतालादिकों से पूजित होकर सात समुद्रों को पार किया। जब समय निकट आया तो उन्होंने एक बड़े ही तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया, जिसने उस कक्ष को उसी भांति प्रकाशित कर दिया जिस प्रकार सूर्य आकाश को प्रकाशित कर देता है।'

'और जिस समय उसका जन्म हुआ, सचमुच आकाश सौंदर्ययुक्त हो गया था। उस समय देवताओं ने प्रसन्न होकर स्वर्ग से पुष्पों की वर्षा की तथा

दुन्दुभि बजाई। उस समय सम्पूर्ण नगरी मारे प्रसन्नता के फूली न समाती थी। लगता था कि प्रसन्नता की हवा बह गई है। उस समय राजा ने धन की लगातार इतनी वर्षा की कि बौद्धों को छोड़ कर कोई 'अनीश्वर' नहीं रह गया। (अनीश्वर शब्द जब बौद्धों के लिये प्रयुक्त होता है तो उसका अर्थ 'नास्तिक' है, किन्तु इसका दूसरा अर्थ धनहीन भी है)। राजा महेन्द्रादित्य ने बालक का नाम 'विक्रमादित्य' तथा विरुद 'विषमशील' जैसा कि शिव ने बताया था, रखा।'

× × × ×

'और कुमार विक्रमादित्य प्राण, साहस तथा शक्ति के सदृश उन तीन मन्त्रिपुत्रों के साथ क्रीड़ा करते हुए उत्तरोत्तर सयाने हो चले। उनका उपनयन तथा विद्यारम्भ किया गया। विद्यारम्भ से ही उन्होंने बिना प्रयास ही सभी शास्त्रों को पढ़ लिया। जिस शास्त्र या कार्य में इनको लगाया जाता था उसमें उस शास्त्र तथा कार्य के पराङ्गत इन्हें सबसे प्रवीण पाते थे। जब लोगों ने कुमार को दैवी आयुधों का प्रयोग करते देखा तो वे महान धनुर्धारी राम तथा अन्य ऐसे ही लोगों की कहानियों पर कम ध्यान देने लगे। उनके पिता ने उन्हें श्रीदेवी जैसी सुन्दर-सुन्दर राजकुमारियाँ लाकर दीं, जिन्हें राजाओं ने पराजित होने पर समर्पित किया था।'

'राजा महेन्द्रादित्य ने जब देखा कि उसका पुत्र पूर्ण युवा, अति साहसी, शक्तिमान तथा प्रजा का प्रिय हो गया है तो उचित रीति से कुमार को युवराज बनाया और वे, वृद्ध होने के कारण पत्नी तथा अपने मन्त्रियों के साथ वाराणसी चले गये। वहाँ उन्होंने भगवान् शिव की शरण ली।'

'जिस प्रकार सूर्य आकाश में चढ़ कर चमकने लगता है उसी प्रकार राजा विक्रमादित्य भी पिता का राज्य पाकर चमकने लगा, यहाँ तक कि गर्वीले और दुष्ट नरेश जब उनकी धनुष की डोरी चढ़ी हुई देख लेते थे तो झुक जाते थे।'

'दैवी शक्तियों को भी उन्होंने वश में कर रखा था। यहाँ तक कि वेताल तथा अन्य पिशाचगण भी उनके वश में थे। जो भी अधर्म की राह पर चला उसको उन्होंने धर्मपूर्वक दण्ड दिया। विक्रमादित्य की सेना सुव्यवस्था स्थापित करती हुई सूर्य की किरणों की भाँति विचरण करती थी। यद्यपि राजा पराक्रमी वीर पुरुष थे किन्तु परलोक से डरते थे। यद्यपि वे शूर थे, किन्तु क्रूर नहीं थे (कर ग्रहण में क्रूर)। यद्यपि स्त्री-रत नहीं थे, किन्तु उनकी पत्नियाँ उन्हें प्यार करती थीं। सम्पूर्ण प्रजा में वे पितृहीनों के लिये पिता, मित्रहीनों के लिए मित्र तथा निराश्रितों के लिए शरण थे। वस्तुतः

इनके वैभव की शुभ्रता ने स्रष्टा को सामग्री प्रदान की जिससे उन्होंने श्वेत द्वीप, क्षीर सागर, कैलास पर्वत तथा हिमालय का निर्माण किया।'

× × × ×

'महाराज! आपने दक्षिण तथा पश्चिमी सीमा, मध्य देश, सौराष्ट्र तथा गङ्गा के पूर्वीय सभी प्रदेशों को जीत लिया है। उत्तर का प्रदेश तथा कश्मीर करद बन गये हैं। भिन्न-भिन्न दुर्ग तथा द्वीप जीत लिये गये हैं, म्लेच्छों का विशाल समूह नष्ट कर दिया गया है तथा अन्य राज्यों ने भी आत्मसमर्पण कर दिया है। बहुत से नरेश विक्रमशक्ति के शिविर में आ गये हैं। वे स्वयं यहाँ उन नरेशों के साथ आ रहे हैं और राजन्! वे अब दो ही तीन पग पर हैं[1]।'

जैसा कि कथा-सरित्सागर की भूमिका में विश्वास दिलाया गया है कि कथानक गुणाढ्य कृत बृहत्कथा पर, जिसकी रचना प्रथम शताब्दी ई० में हुई थी और जो विक्रमादित्य के इतिहास से पूर्ण परिचित थी, ही आधारित है। किन्तु यह तो मानना ही पड़ेगा कि कहानी की भाषा काव्य की भाषा है तथा साहित्यिक अलङ्करण से वास्तविक तथ्यों को क्षति पहुँचाती है। फिर भी विश्लेषण से कथासरित्सागर में विक्रमादित्य के बारे में निम्नलिखित तथ्य सम्मुख आते हैं[2]:

(१) विक्रमादित्य के पिता का नाम महेन्द्रादित्य तथा माता का नाम सौम्यदर्शना था।

(२) महेन्द्रादित्य तथा विक्रमादित्य दोनों ने अवन्ती की राजधानी उज्जयिनी पर शासन किया।

(३) उस क्षेत्र का प्रचलित धर्म शैवधर्म था।

(४) विक्रमादित्य के जन्म के अवसर पर देश में विदेशी आक्रमण हुआ था।

(५) विक्रमादित्य ने अवस्था प्राप्त करके दुष्टों से देश को मुक्त किया। उन्होंने दिग्विजय की तथा देश को एकछत्र शासन में आबद्ध किया।

(६) विक्रमादित्य अपनी वीरता तथा अन्य सद्गुणों से, जो आदर्श मानव तथा शासक के लिये अत्यावश्यक हैं, सम्पन्न थे।

(७) वे बड़े शास्त्रविद् तथा कला-साहित्य के संरक्षक थे।

---

१. कथासरित्सागर, लम्बक २० पृ० ५६३–७ सी० एच० टॉनी द्वारा अनूदित।

२. दिवङ्गत डा० जायसवाल ने विक्रमादित्य को ७८ ई० का सातवाहन सिद्ध करने का प्रयास किया है। उनका आधार केवल नामसाम्य है जो निराधार है। देखिए: उनका लेख जे० आर० ए० ए० भाग १६ पृ० २९५–३०० तक।

कथासरित्सागर में उपलब्ध विक्रमादित्य का वृत्तान्त मोटे तौर से बृहत्कथा के वृत्तान्त से मिलता-जुलता है, क्योंकि बृहत्कथा दोनों का समान रूप से स्रोत है। फिर भी कथा-सरित्सागर से हमें बहुत महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्यों का पता लगता है। सोमदेव जैसा कि वे स्वयं स्वीकार करते हैं बृहत्कथा के कथानक (जो भी उन्हें प्राप्त हो सका था) के प्रति बहुत ईमानदार रहे हैं। परन्तु लगता है कि गुणाढ्य की कई शतियों के पश्चात् बृहत्कथा में प्रक्षिप्त अंश बढ़ते गये, जो सोमदेव के समय लोकप्रचलित हो गये थे। इन प्रक्षिप्तांशों में एक तो पाटलिपुत्र के विक्रमादित्य की कहानी है। सोमदेव ने उनका उल्लेख अलग से किया है। कम से कम उनके मस्तिष्क में दोनों विक्रमादित्यों के भिन्न अस्तित्व में तनिक भी भ्रम नहीं है। **स्मरण रखना चाहिये कि यह तथ्य पाटलिपुत्र के द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य से उज्जयिनी के विक्रमादित्य की अभिन्नता दिखलाने वाले सिद्धान्त के लिए घातक है।** कथा-सरित्सागर में प्राप्त पाटलिपुत्र के विक्रमादित्य का वृत्तान्त द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के दक्षिण के वाकाटकों के साथ सम्बन्ध का स्मरण दिलाता है। चन्द्रगुप्त वाकाटकों को तलवार के बल पर नहीं जीत सके थे, किन्तु उन्हें कूटनीति से जीता था। कहानी में कुछ सत्य का पुट दिखाई देता है, जब उसमें मगध की विशाल गज तथा हय सेनाओं का, जिसके लिए मगध प्रसिद्ध था, तथा प्रतिष्ठान की द्रुतगामी पदाति-सेनाओं का, जिसके लिए महाराष्ट्र प्रख्यात था, उल्लेख मिलता है।

(५) कुछ अन्य साहित्यिक ग्रंथ

हिन्दुओं के कुछ अन्य ग्रन्थ भी विक्रमादित्य के साहस तथा प्रेम-कथाओं के बारे में विस्तृत रूप से वर्णन करते हैं। **सिंहासनद्वात्रिंशक, वैतालपञ्चविंशति, शुक-सप्तति** आदि बहुत ही लोक-प्रिय ग्रन्थ हैं, जिनका भिन्न-भिन्न नामों से भारत की लगभग सभी प्रादेशिक भाषाओं में अनुवाद हो गया है। चूँकि ये ग्रंथ बहुत ही लोकप्रिय थे और साधारण कोटि के लेखकों द्वारा लिखे गये थे, इनमें बहुत ही परिवर्तन तथा परिवर्धन होता गया, अतः इनका ऐतिहासिक मूल्य समाप्त हो गया है। इनमें विक्रमादित्य का वृत्तान्त काल्पनिक बन जाता है, किन्तु वे सभी एक स्वर से उज्जयिनी के विक्रमादित्य का अस्तित्व तथा उनके जीवन के विभिन्न अङ्गों में उनकी महत्ता सिद्ध करते हैं। इन ग्रंथों के विक्रमादित्य अस्पष्ट हो सकते हैं, किन्तु अवास्तविक नहीं।

(६) पुराणों का साक्ष्य

पुराणों का एक अभिन्न अङ्ग वंशानुचरित है। अतः कोई भी स्वाभाविक रूप से पुराणों में भारतीय विक्रमादित्य तथा उनके वंश के बारे में वर्णन की आशा कर सकता है। कुछ विद्वानों की धारणा के अनुसार पुराण विक्रमादित्य के अस्तित्व के बारे में मौन हैं। यह उनके अनस्तित्व का प्रमाण समझा गया है। किन्तु उसके लिए यह उत्तर दिया जा सकता है कि किसी शासक के अस्तित्व को केवल पुराणों में उल्लिखित न होने से अस्वीकार नहीं किया जा सकता। उदाहरणस्वरूप यह कितना स्पष्ट तथ्य है कि पुराण गणराज्यों का जो प्राचीन भारत में विद्यमान थे, अपने वंशानुचरित में उल्लेख नहीं करते, किन्तु उनका इतिहास बौद्ध तथा जैन साधनों से ज्ञात होता है। अतः पुराणों में उल्लेख न होना, किसी भी राज्य, जाति अथवा पुरुष के अनस्तित्व का पुष्टिकारक प्रमाण नहीं है। फिर तो भाग्यवश पुराण विक्रमादित्य के इतिहास पर प्रकाश डालते हैं। आंध्रों के इतिहास का वर्णन करते हुए पुराण[1] उल्लेख करते हैं कि उन्हीं की शाखाओं को लेकर आंध्रों[2] के समकालीन छः वंश होंगे जो निम्नलिखित हैं:—

(अ) आंध्र भृत्य।
(आ) दश आभीर।
(इ) सप्त (दश) गर्दभिल्ल।
(ई) दश शक।
(उ) अष्ट यवन।
(ऊ) चतुर्दश तुषार, त्रयोदश मुरुण्ड तथा अष्टादश मौन।

जैन परम्परा[3] से पता चलता है कि विक्रमादित्य गर्दभिल्ल के वंशज थे और जब पुराणों में गर्दभिल्ल का उल्लेख है तो स्पष्ट है कि वे विक्रमादित्य के अस्तित्व को भूल नहीं जाते। हम पुराणों में विक्रमादित्य के वंश के सङ्केत के अतिरिक्त कुछ और स्पष्ट उल्लेख भी पाते हैं। भविष्यपुराण[4] में उनका दो

---

१. वायु-पुराण ३७, ३५२-३५८, ब्रह्माण्ड-पुराण ७४, १७१-१७८।

२. आंध्राणां संस्थिताः पञ्च तेषां वंशाश्च ये पुनः। ब्रह्माण्ड-पुराण।

३. प्रभावक-चरित्र।

४. तस्मिन्काले द्विजः कश्चिज्जयन्तो नाम विश्रुतः। तत्फलं तपसा प्राप्तः शक्रतः स्वगृहं ययौ॥ जयन्तो भर्तृहरये लक्षस्वर्णेन वर्णयन्। भुक्त्वा भर्तृहरिस्तत्र योगारूढो वनं गतः॥ विक्रमादित्य एवास्य भुक्त्वा राज्यमकण्टकम्॥ ११. २३।

बार उल्लेख है। एक स्थान पर वे विक्रमादित्य की निम्नलिखित कथा देते हैं।

'उस समय एक जयन्त नामक ब्राह्मण रहता था। घोर तपस्या से उसे इन्द्र के यहाँ से एक फल प्राप्त हुआ, जिसके खाने से कोई भी अमर हो सकता था। फल को पाकर ब्राह्मण अपने घर चला गया। जयन्त ने उसे भर्तृहरि को बेच दिया, जिसे खाकर भर्तृहरि योगासीन होकर वन में चले गये। तब विक्रमादित्य ने अपने राज्य पर निर्द्वन्द्व शासन किया।'

एक अन्य स्थान पर निम्न प्रकार से उनका जीवन-वृत्त दिया हुआ है। 'कलियुग के प्रारम्भ होने के ३७१० वर्ष पश्चात् अवन्ती के प्रदेश में एक प्रमर नामक राजा राज्य करता था। उसके बाद क्रमशः महामद, देवापि, देवदूत और देवगन्धर्वसेन ने शासन किया। अवस्थानुसार गन्धर्वसेन ने शङ्ख को राज्य देकर वानप्रस्थ ले लिया। इन्द्र ने (उसकी तपस्या से भयभीत होकर) वीरमती नामक सुन्दरी भेजी। वीरमती से उसके विक्रमादित्य नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। विक्रमादित्य ने शकों को नष्ट कर आर्य-धर्म का पुनःसंस्थापन करने के लिए जन्म लिया। शङ्कर के एक गण शिवदृष्टि ने विक्रमादित्य के रूप में स्वयं अवतार धारण किया था। भगवान शिव ने विक्रमादित्य को एक सिंहासन दिया, जिसमें बत्तीस पुत्तलिकायें लगी हुई थीं। विक्रमादित्य की सभा के लिए पार्वतीजी ने वैताल नामक गण भेजा। विक्रमादित्य ने बहुत दिनों तक राज्य किया। उन्होंने भूमण्डल को जीता तथा अश्वमेध यज्ञ किया।'

विक्रमादित्य का अन्य उल्लेख स्कन्द-पुराण के कुमारिका-खण्ड में हुआ है, जहाँ कहा गया है कि वे कलि प्रारम्भ होने के तीन सहस्र बाद राज्य कर रहे थे। भविष्य-पुराण की तिथि में मतभेद है। पार्जिटर के अनुसार दूसरी शती में एक आन्ध्र राजा यज्ञश्री के समय में इसकी रचना हुई थी। इस प्रकार यह विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता के लिए अच्छा प्रमाण है। किन्तु बहुत से विद्वान् पार्जिटर द्वारा निश्चित तिथि में सन्देह करते हैं तथा उनका मत है कि भविष्य-पुराण की रचना में बहुत से प्रक्षिप्तांशों को जोड़ा गया। यदि यह मान लिया जाय कि भविष्य-पुराण में बहुत परिवर्तन हुए, तब भी यह कहा जा सकता है कि पुराण के परवर्ती सम्पादकों को विक्रमादित्य की परम्परा का स्मरण था, यद्यपि अतीत की घटनाओं के बारे में कभी-कभी भ्रान्तियाँ हो जाती थीं। स्पष्टतया विक्रमादित्य के द्वितीय उल्लेख में भ्रान्ति है, जहाँ उन्हें हम प्रमर (परमार) से सम्बन्धित करने का प्रयास पाते हैं। इस भ्रम के पीछे एक उभयनिष्ठ वस्तु अवन्ती ही है, जहाँ दोनों राजाओं ने शासन किया

था। फिर भी दोनों का अलग-अलग विचार करने से दोनों ऐतिहासिक पुरुष जान पड़ते हैं।

(६) जैनों की साहित्यिक अनुश्रुति

ब्राह्मण परम्परावादी हिन्दुओं के ही नहीं, अपितु जैनों के ऐतिहासिक तथा जीवन-वृत्तात्मक साहित्य में भी विक्रमादित्य को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। बहुत दिनों तक जैनों का सम्बन्ध अवन्ती तथा समीपवर्ती स्थानों से रहा है। अतः स्वभावतः विक्रमादित्य की परम्परा को उन्होंने अपने साहित्य-ग्रन्थों में सञ्चित कर रखा है। यद्यपि उन ग्रन्थों में से बहुत से विक्रमादित्य के बहुत बाद के हैं, तथापि उनमें हम प्राचीन परम्पराओं का उल्लेख बड़ी ईमानदारी से पाते हैं। उनमें कुछ ऐतिहासिक दृष्टि से कम मूल्य की हैं और उनमें अतीत का भ्रान्त वर्णन है। उनमें अधिक महत्त्वपूर्ण परम्पराओं का ही यहाँ उल्लेख हो सकेगा।

(१) पट्टावलियों का साक्ष्य

पट्टावलियाँ तिथि-परक पोथियाँ हैं, जो अधिकतर प्राकृत में बड़ी ही सादी तथा तथ्यात्मक भाषा में लिखी गई हैं। उनमें महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों का वर्णन अनुक्रम से मिलता है, यथा, सन्त, शासक आदि। इस प्रक्रिया में वे महावीर के निर्वाण से लेकर मध्ययुग तक प्रसिद्ध राजवंशों तथा शासकों की श्रेणियों में विक्रमादित्य की तिथि-मूलक स्थिति को स्पष्ट करते हैं। जब हम पट्टावलियों[1] को साथ रख कर तुलना करते हैं तो अवन्ती का निम्नलिखित इतिहास सम्मुख आ जाता है :

महावीर का निर्वाण **(५२७ ई० पूर्व में)**

शासक	शासन-काल
१. पालक (चण्डप्रद्योतः)	६० वर्ष
२. नन्द	१५५ ,,
३. मौर्य	१०८ ,,
४. पुष्यमित्र	३० ,,
५. बलमित्र, भानुमित्र	६० ,,
६. नरवाहन	४० ,,
७. गर्दभिल्ल	१३ ,,
८. शक	४ ,,
	४७० वर्ष

१. श्रीपट्टावली-समुच्चय, भाग १, पृ० १७, ४६, १५०, १६६, १९९, २०० (मुनि दर्शन-विजय द्वारा सम्पादित)।

९. विक्रमादित्य	६० वर्ष : ५७ ई० पू०
१०. विक्रमचरित अथवा धर्मादित्य	४० ,,
११. भैल्ल	११ ,,
१२. नैल्ल	१४ ,,
१३. नाहड	१० ,,
	६०५ ,,
१४. उज्जयिनी पर शकों का पुनः अधिकार तथा शक-संवत् की स्थापना	७८ ई० पू०

पट्टावलियों की विचारपूर्ण गणना के अनुसार विक्रमादित्य ने ५७ ई० पू० से अपना शासन प्रारम्भ किया, जिसका विक्रमसंवत् की तिथि से बिल्कुल साम्य हो जाता है। यह स्पष्ट है कि ब्राह्मण परम्परावादी ज्योतिषियों तथा जैन गणकों ने अपना आधार देशव्यापी परम्पराओं को ही बनाया था।

(२) जैन हरिवंश का साक्ष्य

एक महान् जैनी लेखक जिनसेन ने इसकी रचना शक संवत्[1] ७०५ (७८३–८४ ई०) में की थी, जिसमें अवन्ती के इतिहास[2] का तिथि-क्रमिक वर्णन दिया गया है। उसके आधार पर निम्नलिखित तालिका बनाई जा सकती है :

वीर निर्वाण काल	(५२७ ई० पूर्व)
शासक	शासन काल
१. पालक	६० वर्ष
२. विजय (विषय) राजा गण	१५५ ,,
३. पुरिन्ध (मौर्य)	४० ,,
४. पुष्यमित्र	३० ,,
५. वसुमित्र तथा अग्निमित्र	६० ,,
६. रासभ (गर्दभिल्ल)	१०० ,,
	४४५ वर्ष : ८२ ई० पू०
७. नरवाह	४२ ,,
	४८७ वर्ष : ४० ई० पू०

१. शाकेष्वब्दशतेषु सप्तसु दिशं पञ्चोत्तरे इत्यादि (भूमिका)

२. ६०, ४८७–४९०।

जैन हरिवंश की तिथिक्रमिक सूची में विक्रमादित्य के नाम का उल्लेख नहीं है, किन्तु उसमें रासभ (= गर्दभिल्ल) का स्पष्ट उल्लेख मिलता है, जिस जाति या वंश में विक्रमादित्य उत्पन्न हुए थे। ध्यान देने की आवश्यकता है कि पट्टावलियों तथा जैन-हरिवंश दोनों में विचारपूर्ण प्रामाणिक ऐतिहासिक लेख है। अतः उनमें काव्यात्मक अभिव्यक्ति तथा अत्युक्ति नहीं है। भिन्न-भिन्न राजाओं तथा राजवंशों के शासन काल के लिए वे विभिन्न संख्याओं का प्रयोग करते हैं, परम्परागत गोलमोल संख्याओं का नहीं। इन तथ्यों को ध्यान में रखने पर कदाचित् ही सन्देह करने के लिए अवसर मिलता है। चूँकि ये ग्रन्थ तिथिक्रमिक तालिका तथा जीवन की रूपरेखा के ही लिए हैं, अतः हम इनमें जीवनवृत्तात्मक विस्तार की आशा नहीं कर सकते। इसके लिए हमें जैन-साहित्य के दूसरे अङ्ग प्रबन्धसाहित्य की ओर दृष्टि दौड़ानी होगी, जिसकी रचना बहुत बाद में हुई, किन्तु यह देश की प्रामाणिक परम्पराओं पर आधारित है तथा अतीत का वास्तविक चित्र उपस्थित करता है। जैनसाहित्य के इस अङ्ग में अनेक ग्रन्थ हैं, किन्तु उनमें से कुछ बहुत प्रसिद्ध का ही यहाँ उल्लेख किया जा सकता है।

(३) प्रभावक-चरित

इसकी रचना प्रभाचन्द्रसूरि के द्वारा हुई थी। पाटनसंघ के पुस्तकालय में इसकी सबसे प्राचीन हस्तलिपि है, जिसकी तिथि विक्रम की चौदहवीं शती[1] निश्चित की जाती है। स्पष्टतया यह ग्रन्थ बहुत बाद का है, किन्तु इसका लेखक कहता है कि उसकी रचनायें प्राचीन ग्रन्थों, ऐतिहासिक तथा जीवन-वृत्तात्मक साहित्य[2] तथा बहुश्रुत मुनियों द्वारा सञ्चित परम्पराओं पर ही आधारित है। यह हेमचन्द्रसूरिकृत स्थविरावलीचरित का अनुकरण करता है तथा प्रसिद्ध श्वेताम्बर जैन सन्तों, विद्वानों तथा उसके पोषकों तथा राजाओं के जीवन-वृत्तों का वर्णन करता है, जो प्रथम शती तथा तेरहवीं शती विक्रमी के बीच के हैं। इस ग्रन्थ को अलंकृत करनेवाले प्रसिद्ध शासकों में विक्रमादित्य, हर्षवर्धन, आमराज, भोजदेव, भीमदेव, सिद्धराज, कुमारपाल इत्यादि हैं। ये प्राचीन भारत के अतिप्रसिद्ध शासक रहे हैं। उनके

१. जिनविजय मुनि द्वारा सम्पादित प्रभावक-चरित की भूमिका पृ० २।

२. बहुश्रुतमुनीशेभ्यः प्राग्ग्रंथेभ्यश्च कानिचित्।
उपश्रुत्येतिवृत्तानि वर्णयिष्ये कियन्त्यपि ॥ (प्रास्ताविकं, श्लोक १५)

वंश का प्रभावक-चरित में वर्णन उनके ऐतिहासिक स्वरूप को पुष्टरूप से प्रमाणित करता है।

इस ग्रन्थ में जैनों के बहुत प्रसिद्ध सन्त कालकसूरि का जीवन-वृत्त[1] दिया गया है, जो भारत में शक-आक्रमण, विक्रमादित्य द्वारा उज्जयिनी के पुनः विजय तथा विक्रम संवत् की स्थापना का वर्णन करता है। उस जीवनी का संगत अंश संक्षिप्त रूप से दिया जा रहा है :

'श्रीधारावर्ष' नामक एक नगरी थी। वहाँ वीरसिंह नामक राजा राज्य करता था, जो अत्यधिक शक्तिशाली था। उसके एक पुत्र कालक तथा एक पुत्री सरस्वती थी। गुणाकर नामक जैन सन्त से प्रभावित होकर कुमार ने जैन-धर्म ग्रहण कर लिया तथा बहिन के साथ प्रव्रजित हो गया। एक बार वह उज्जयिनी गया। उस समय उज्जयिनी का राजा गर्दभिल्ल था, जो संयोगवश राजधानी से बाहर निकला हुआ था। जिस समय कालक तथा सरस्वती वहाँ पधारे, सरस्वती के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर गर्दभिल्ल उसे उठा ले गया। यह समाचार जैन संन्यासियों से जो उसके साथ रहते थे सुनकर कालक गर्दभिल्ल की राजसभा में गये तथा इस प्रकार बोले :

'हे शैव राजन्! यह सत्य है कि हम लोगों ने अपने कच्छ के चारों ओर उसकी रक्षा के लिए प्राचीर बना रखा है, किन्तु सभी धर्मों के रक्षक होते हुए भी जब आप ही फल को उठा लाते तथा खाते हैं तो हम किसके यहाँ जाकर प्रार्थना करें ?'

जब कालक की प्रार्थना पर गर्दभिल्ल ने तनिक भी ध्यान नहीं दिया तो कालक ने जिनकी धमनियों में अब भी क्षत्रिय रक्त प्रवाहित था, प्रतिज्ञा की कि यदि वह राजा को उसके सम्बन्धियों तथा सम्पत्ति के साथ न नष्ट कर डालेंगे तो उन्हें मानवता की हत्या का महान् पाप लगेगा।

कालक पश्चिम दिशा की ओर सिंधु पार करके चले गये तथा शखियों (शकों) के देश में पहुँचे। वहाँ ९० शक राजा थे तथा उनके ऊपर एक अधिपति था, जिसके सात लाख घुड़सवारों की सेना थी। कालक ने शक सामन्तों में से एक से भेंट की तथा कुछ ही समय में उसके पक्के मित्र बन गये। एक बार शक सामन्तों का अधिपति उनसे क्रुद्ध हो गया तथा एक आदेश इस आशय का जारी किया कि जब तक वे अपना सिर उसे समर्पित नहीं कर देते हैं तब तक

१. निर्णयसागर प्रेस के संस्करण में कुछ भेद पाया जाता है।

उनके कुटुम्बियों और वंशजों को उनकी जागीरों का उपभोग नहीं करने दिया जायगा। इसमें कालक ने गर्दभिल्ल से बदला लेने का स्वर्णिम अवसर देखा। उसने गुप्त रूप से सभी शक-सामन्तों को इकट्ठा किया तथा उन्हें अपना सिर कटवाने के स्थान पर भारतवर्ष की ओर चलने की राय दी।

सिन्धु को नावों से पार करके शकों ने सौराष्ट्र में प्रवेश किया। वर्षा ऋतु में तो वे रुक ही गये तथा देश को ९६ विभागों में बाँट कर वहीं बस गये। उन्होंने सौराष्ट्र में अपनी शक्ति का विस्तार किया तथा उसे दृढ़ किया। पांचाल तथा लाट को जीत कर वे मालव प्रदेश की सीमा पर आ गये।

× × × ×

शक सेनाओं ने टिड्डी दल की भाँति विशाला (उज्जयिनी) को घेर लिया तथा गर्दभिल्ल जीवित पकड़ा गया। कालक के हस्तक्षेप के कारण उसे छोड़ दिया गया। किन्तु उसे देश से निकल जाने की आज्ञा हुई। वन में घूमते हुए उसे एक सिंह का ग्रास बन जाना पड़ा। विजेताओं में देश को विभाजित किया गया। सरस्वती का पता लगा और वह भिक्षुणियों में वापस ले ली गयी।

इस घटना के कुछ दिनों बाद श्रीविक्रमादित्य ने शकों के वंश को नष्ट कर डाला और वह विश्वव्यापी राजा की भाँति प्रकाशित हो उठा। स्वर्ण रखनेवाले व्यक्तियों (धनी व्यापारी वर्ग) की सहायता से उन्होंने पृथिवी का भार उतार कर अपना संवत् चलाया। विक्रमादित्य के १३५ वर्ष पश्चात् पुनः शकों ने अवन्ती पर आक्रमण किया तथा उन्होंने दुबारा विक्रमादित्य के कुटुम्ब को नष्ट कर डाला और अपना (शक) संवत् चलाया।[1]

कालकाचार्य के उपर्युक्त जीवन वृत्त से निम्नलिखित निष्कर्ष निकलता है:

(अ) प्रथम शक आक्रमण के समय सौराष्ट्र जैनधर्म का केन्द्र था और यह अवन्ती की ओर प्रसार पाने का प्रयास कर रहा था।

(आ) प्रारम्भ में उज्जयिनी के शैव शासक तथा जैनधर्म के प्रचारकों में मतभेद था, जो बाद में खुले संघर्ष में परिणत हो गया।

(इ) अपमानित तथा दुःखित जैन सन्त ने शकों की सहायता ली, जो अवन्ती के शासक के विरुद्ध भारत में प्रस्थान कर रहे थे।

---

१. चूर्णी सहित निसीथ-सुत्त, दशम उद्देश्य : अभिधानराजेन्द्र, भाग १, पृ० ५८२। ज० बं० रा० सी० १६ पृ० २९२ में उद्धृत।

(ई) शकों को अस्थायी सफलता मिली तथा उन्होंने उज्जयिनी की विजय की।

(उ) उस शैव राजा का पुत्र तथा उत्तराधिकारी विक्रमादित्य था, जिसने शीघ्र ही शकों को निकाल बाहर किया तथा देश को विदेशी अत्याचार से मुक्त कर दिया और अपना संवत् चलाया।

(ऊ) तत्पश्चात् शान्ति तथा समृद्धि का युग आया, जो लगभग १३५ वर्ष तक रहा। इस काल में विक्रमादित्य के वंशजों ने उज्जयिनी पर शासन किया।

(ऋ) इस काल के समाप्त होने पर शकों ने भारत पर पुनः आक्रमण किया। उज्जयिनी से विक्रमादित्य के वंशजों को हटना पड़ा। उन्होंने (शकों ने) अपना संवत् चलाया।

हम देखते हैं कि प्रभावक-चरित में कालकाचार्य का कथानक ऐतिहासिक तथ्यों को उपस्थित करने के अतिरिक्त जैन हरिवंश तथा पट्टावलियों की तिथि की भी पुष्टि करता है।

यहाँ प्रभावक-चरित में कालकाचार्य कथानक वाली घटना पर कुछ अधिकृत मतों को उद्धृत करना अप्रासङ्गिक न होगा। रैप्सन की धारणा है कि उज्जयिनी के इतिहास में इस घटना की स्मृति सम्भवतः जैनों की कालक-कथा में सञ्चित हो सकती है। कथा को प्रामाणिक सिद्ध नहीं किया जा सकता, किन्तु असिद्ध भी नहीं किया जा सकता। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इसका ऐतिहासिक प्रसङ्ग इस काल की उज्जयिनी की ज्ञात परिस्थितियों को देखते हुए असङ्गत नहीं है। राजा से क्षतिग्रस्त लोगों ने क्रूर शासक को कुचल देने के लिए ही शकद्वीप के लड़ाकू शकों की सहायता की अपेक्षा की होगी और जैसा कि इतिहास में बहुधा घटित हुआ है ऐसे सहायकों के लिये स्वयं राज्य का हड़प लेना अस्वाभाविक नहीं है। गर्दभिल्ल तथा उसके कारनामे ही इन प्रतिकारियों के जाने के कारण हुए। उसके पुत्र विक्रमादित्य, जिन्होंने बाद में शकों को मार भगाया, कथा के अनुसार किञ्चित् ऐतिहासिक पुरुष से लगते हैं[1]।'

फ्रेंकलिन एजर्टन ने अधिक दृढ़ मन्तव्य प्रकट किया है : 'मुझे पता नहीं कि जैन कथाओं को असिद्ध करने के लिए तथा यह कहने के लिए कि विक्रम नाम का कोई राजा ही ५७ ई० पूर्व में नहीं हुआ, कोई निश्चित तथा ठोस

१. कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया भाग १, पृ० ५३२-३३।

प्रमाण क्या है। क्या हम उस शती के इतिहास के बारे में पर्याप्त ज्ञान रखते हैं जिसके आधार पर यह कह सकें कि मालवा के स्थानीय राजा ने जिसका नाम विक्रम हो सकता है, उस युग में मध्यभारत तक अपना राज्य स्थापित नहीं कर लिया होगा ? मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि कीलहार्न उसके विपरीत कोई तथ्य सिद्ध नहीं कर सके हैं तथा अन्य प्रमाणों को भी मैं समझ नहीं पाता, जो इसे असिद्ध करने में सक्षम हों[१]।' वे आगे कहते हैं 'तो कुल मिला कर इतनी सी बात है कि विक्रमादित्य नाम का वस्तुतः एक राजा था, जिसने मालवा में शासन किया तथा ५७-५८ ई० पूर्व में एक संवत् की स्थापना की[२]।'

प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता स्टेन कोनो महोदय कालकाचार्य के कथानक को बिलकुल ऐतिहासिक मानते हैं : 'इस वर्णन में तनिक भी सन्देह करने का, जैसा कि बराबर किया जाता है, कोई कारण नहीं दिखाई देता। सन्देह का प्रमुख कारण है कि अधिकांश विद्वान् भारतीय परम्पराओं में विश्वास न करने के लिए पहले से ही निश्चय कर लेते हैं। पर आश्चर्य तो यह है कि ये कभी भारतीय साहित्य की अपेक्षा रङ्गीन विदेशी वर्णनों को भी अधिक महत्त्व देते दीख पड़ते हैं, यद्यपि उक्त भारतीय साहित्य के लगभग सभी वर्णनों की अन्य साधनों से परख हो सकती है। सिन्धु देश में शक साम्राज्य जैसा कि हम लोगों ने देखा है, यूनानी साहित्य के प्रमाणों से ज्ञात होता है। टालेमी शकों के काठियावाड़ तक विस्तार का वर्णन करता है। उनकी राजकीय उपाधि 'साहानुसाहि' थी, जैसा कि हम लोग बाद में देखेंगे, सिक्कों से पुष्ट होती है। पुराण शक राजाओं का गर्दभिल्ल के राजवंश के पश्चात् राज्य करना बताते हैं[३]।

विन्सेण्ट स्मिथ भी प्रारम्भ में विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत नहीं थे। लगता है कि बाद में परम्परागत दृष्टिकोण को स्वीकार करने की ओर उनका कुछ झुकाव हो गया था। वे लिखते हैं कि 'सम्भव है ऐसे राजा का अस्तित्व हो[४]।'

डॉ० अ० स० अल्तेकर[५] यद्यपि कालकाचार्य कथा की ऐतिहासिकता को

---

१. विक्रम्स एडवेंचर्स, हार्वर्ड ओरियण्टल सीरीज, भूमिका, पृ० ६४।

२. वही पृ० ६६।

३. स्टेनकोनो, कारपस इन्सक्रिप्शनम् इण्डिकेरम, भाग २, खण्ड १, ऐतिहासिक भूमिका।

४. आक्सफोर्ड हिस्ट्री आफ इण्डिया, १९१९, पृ० १५१।

५. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, विक्रमांक, विक्रमी सं० २०००, पृ० ८५-८६।

अंशतः स्वीकार करते हैं, किन्तु वे ५७ ई० पूर्व में विक्रम संवत् के संस्थापक विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं। उनका कहना है, "यद्यपि कालकाचार्य की कथा तेरहवीं शती में लिखी गयी, फिर भी निश्चय-पूर्वक कहा जा सकता है कि इसमें ऐतिहासिक तथ्य पर्याप्त मात्रा में है। इतिहास कथा को पुष्ट करता है कि प्रथम शती ई० पूर्व में सिन्ध पर शकों का आधिपत्य था। यह भी निश्चित है कि शक राजा 'शाहि' कहे जाते थे। यह भी सम्भव हो सकता है कि शकों ने थोड़े ही समय के पश्चात् काठियावाड़ पर आधिपत्य जमा लिया हो। ऐतिहासिक प्रामाणिक लेख इस तथ्य की पुष्टि करते हैं कि शकों का आधिपत्य-क्षेत्र उज्जयिनी तक फैला हुआ था। अतः कालकाचार्य-कथा के अनुसार यह भी सम्भव है कि विक्रमादित्य ने उज्जयिनी के अल्पस्थायी शक राजा को निकाल भगाया हो।"

"किन्तु यह प्रामाणिक रूप से सिद्ध नहीं होता कि विक्रमादित्य ने शकों को परास्त करने के पश्चात् संवत् का प्रवर्तन किया। प्रथम तो ध्यान देने योग्य बात यह है कि कहानी तेरहवीं शती में लिखी गई। अतः मौखिक कथाओं से प्रभावित हुए बिना न रह सकी। यह भी स्पष्ट है कि परम्परा से प्राप्त मूल कथा में इस आशय के श्लोक[1] नहीं हैं। बाद में कवि ने, प्रचलित कथाओं के आधार पर इन श्लोकों की रचना की। इन श्लोकों से कहानी की प्रमुख धारा में बाधा हो जाती है। मूल कथा में शक राजा की वीरता का वर्णन, जिसने देशद्रोही कालकाचार्य की सहायता ली थी, स्वाभाविक था। किन्तु विक्रमादित्य द्वारा उस शक राजा का पराजित होना अस्वाभाविक लगता है, क्योंकि इससे कथा के मूलभाव के परिपाक में बाधा पड़ती है।"

यह निवेदन किया जा सकता है कि डॉ० अल्तेकर ने कालकाचार्य के ऐतिहासिक स्वरूप को स्वीकार किया है। उन्होंने केवल एक ही वास्तविक आपत्ति उठाई है कि विक्रमादित्य का शक राजा के विरोध में विजयी होना

---

१. शकानां वंशमुच्छेद्य कालेन कियताऽपि हि।
राजा श्रीविक्रमादित्यः सार्वभौमोपमोऽभवत्॥
स चोन्नतमहासिद्धिः सौवर्णपुरुषोदयात्।
मेदिनीमनृणां कृत्वाऽचीकरद्वत्सरं निजम्॥
ततो वर्षशते पञ्चत्रिंशता सन्धिके पुनः।
तस्य राज्ञोऽन्वयं हत्वा वत्सरः स्थापितः शकैः॥
(कालकाचार्यकथा, श्लोक ९०-९२)

कथा के रस-परिपाक में बाधा डाल देता है। उनके कहने का तात्पर्य यह है कि कहानी का स्थायी भाव इस बात की अपेक्षा रखता है कि इसका अन्त शक राजा के पूर्ण विजय तथा गर्दभिल्ल के वंश के विनाश के साथ हो। विक्रमादित्य के नेतृत्व में गर्दभिल्ल शक्ति का पुनः प्रादुर्भाव स्वाभाविक उत्कर्ष को कम कर देता है। किन्तु यहाँ यह स्पष्ट किया जा सकता है कि कालकाचार्य की इच्छा केवल गर्दभिल्ल को हटाने की ही थी; न कि इस बात की कि शक स्थायी रूप से देश में अपना आधिपत्य स्थापित करें। शक बहुत ही अत्याचारी थे तथा शीघ्र ही घृणा के पात्र बनने लगे। अतः जैनों ने उनके हटने का उतना ही स्वागत किया, जितना गर्दभिल्ल के विनाश का, अपितु और भी क्योंकि वे विदेशी थे। विक्रमादित्य ने घृणित बर्बर शकों के विरुद्ध राष्ट्रीय शक्तियों का सङ्गठन किया था। इसके अतिरिक्त जैन उन्हें जैनधर्म में दीक्षित मानते हैं, अतः कथा में उनका आ जाना विषय के लिए किसी भी तरह अस्वाभाविक नहीं।

प्रभावक-चरित के अतिरिक्त अन्य बहुत से जैन इतिवृत्त हैं, जो विक्रमादित्य के जीवन तथा उनकी सिद्धियों का वर्णन करते हैं। इनकी तालिका बहुत बड़ी है[1]। उनमें बहुत प्रमुख निम्न हैं :

(अ) राजशेखर सूरिकृत प्रबन्ध-कोष।
(आ) मेरुतुङ्ग सूरिकृत प्रबन्ध-चिन्तामणि।
(इ) पुरातन-प्रबन्ध-संग्रह (लेखक का नाम अज्ञात है)
(ई) इन्द्रसूरिकृत विक्रम-चरित।
(उ) पूर्णचन्द्र सूरिकृत विक्रम-पञ्च-दण्ड-प्रबन्ध।
(ऊ) देवमूर्ति का विक्रम-चरित्र।
(ऋ) क्षेमंकरकृत सिंहासन-द्वात्रिंशिका।

उपर्युक्त ग्रन्थों की रचना तेरहवीं शती तथा पन्द्रहवीं शती ई० के बीच में हुई। साहित्यिक ग्रन्थ होने के कारण उनमें अलङ्करण तथा विस्तार पर्याप्त मात्रा में है। किन्तु ये सभी ऐतिहासिक पुरुषों का ही वर्णन करते हैं तथा उनकी कहानियों का बीज ऐतिहासिक तथा वास्तविक है। उनमें विक्रमादित्य की वीरता तथा प्रेम-लीला-सम्बन्धी अनेक काल्पनिक कहानियाँ हैं, किन्तु ये सभी विक्रमादित्य के अस्तित्व, उनके पराक्रम के केन्द्र अवन्ती, उनके कार्य के स्वरूप तथा उनके उच्च जीवनादर्श को एक स्वर से स्वीकार करते हैं। इन

१. विक्रम तथा विक्रम-संवत् २००१, ग्वालियर।

ग्रन्थों का विवेकपूर्ण उपयोग विक्रमादित्य के इतिहास के पुनर्निर्माण में बहुत सहायता कर सकता है।

७. भारतीय पुरातत्त्व का साक्ष्य

प्राचीन भारत के बहुत से इतिहासकार विक्रमादित्य के अस्तित्व में सन्देह करते हैं। उनके अनुसार विक्रमादित्य के बारे में कोई ठोस पुरातत्त्व-सम्बन्धी प्रमाण उपलब्ध नहीं है। वे आपत्ति प्रकट करते हैं कि किसी भी साहित्यिक परम्परा को ऐतिहासिक कहकर स्वीकार नहीं किया जा सकता जब तक पुरातत्त्व-सम्बन्धी प्रमाणों से उसकी पुष्टि नहीं हो जाती। उनकी आपत्ति का पूर्वांश नहीं स्वीकार किया जा सकता, क्योंकि इसे स्वीकार करने पर सम्पूर्ण प्राङ्मौर्य इतिहास ही अस्वीकार करना पड़ेगा जो असम्भव है। फिर भी आपत्ति के द्वितीय अंश में कुछ बल है। इसमें सन्देह नहीं कि पुरातत्त्व के प्रमाण साहित्यिक परम्पराओं की पुष्टि करते हैं। अतः यह देखना उचित है कि मालवा, मध्यभारत तथा राजपूताना के पुरातत्त्व-सम्बन्धी अनुसन्धान से विक्रमादित्य के अस्तित्व पर कोई प्रकाश पड़ता है कि नहीं।

(१) अभिलेखों का साक्ष्य

मालवा तथा समीपवर्ती क्षेत्रों में अभिलेखों के रूप में पुरातत्त्व-सम्बन्धी अन्वेषण इस समस्या पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं। मन्दसोर (प्राचीन दशपुर) में प्राप्त दो अभिलेख जिनकी तिथि ४९३[१] तथा ५८९[२] मालव-संवत् है, मालव गण में प्रचलित संवत् का सङ्केत करते हैं। इन अभिलेखों में एक महत्त्वपूर्ण उल्लेख 'मालवगण स्थिति' है। विद्वानों ने इसकी व्याख्या भिन्न-भिन्न प्रकार से की है। कीलहार्न[3] ने 'गण' का अर्थ 'गणना' या 'वर्ष-गणना' किया है। 'गण' शब्द का दूसरा भी अर्थ हो सकता है जिस पर विद्वानों ने विचार नहीं किया है, क्योंकि उन्हें भारतवर्ष में गणराज्यों के अस्तित्व में सन्देह था। किन्तु बाद के अनुसन्धानों ने इसे स्पष्ट कर दिया है कि प्राचीन भारत म गणराज्य थे तथा कीलहार्न की व्याख्या का विरोध हुआ तथा उसे अस्वीकार भी किया गया। काशीप्रसाद जायसवाल ने[४] 'मालव-गण-स्थिति' पद का

१. मालवानां गणस्थित्या याते शतचतुष्टये। त्रिनवत्यधिकेऽब्दानां ऋतौ सेव्यघनस्तने॥
फ्लीट, इं० इण्डि० भाग ३, अभिलेख सं० १८

२. मालवगणस्थितिवशात् कालज्ञानाय लिखितेपु, वही।

३. इण्डियन ऐण्टीक्वेरी भाग १४, पृ० ३२६।

४. ज० आफ बि० ऐण्ड उ० रि० सो० १९३०।

व्याख्या की है—'मालवगण-विधान के संस्मरणार्थ संवत् का संस्थापन'। डॉ० अ० स० अल्तेकर[1] उस 'मालवगणस्थित्या' पद की व्याख्या 'मालवगण में प्रचलित संवत् अनुसार' और 'मालवगण की प्रथा के अनुसार' उचित समझते हैं। डॉ० अल्तेकर का प्रथम अनुवाद सरल तथा स्वाभाविक है। दूसरा भी स्वीकार करने योग्य है, यदि इसका अर्थ यह न हो कि मालवा का संवत्-प्रवर्तन से कोई सम्बन्ध नहीं था, जैसा कि डॉ० द० रा० भाण्डारकर[2] का मत है।

फ्लीट ने स्वीकार किया कि उपर्युक्त अभिलेख में मालव-संवत् विक्रम-संवत् का समकालीन था तथा दोनों एक ही थे। तब से विश्वास तथा निश्चय के साथ स्थापना की गयी कि दोनों संवत् एक ही हैं। अत्यन्त नवीन खोजों ने यह स्पष्ट किया है कि प्रारम्भिक शतियों में मालव-संवत् कृत-संवत् के नाम से अभिहित था।

(डॉ० अ० स० अल्तेकर द्वारा बड़ी कुशलता से सम्पादित) नन्दसा के यूप अभिलेख[3] से स्पष्ट होता जाता है कि मालव-गण-विषय में (मालवगण का प्रदेश जो निवास के अनुसार हटता जा रहा था) मालव कृत-संवत् का व्यवहार करते थे। अभिलेख की तिथि २८२ कृत-संवत् है। डॉ० अल्तेकर[4] का यह निश्चित मत है कि कृत-संवत्, मालव-संवत् तथा विक्रम-संवत् एक ही हैं। कृत-संवत् के नामकरण का कारण यह था कि इसने अलङ्कार की भाषा में कृतयुग का प्रारम्भ किया था।

हमें उपर्युक्त अभिलेखात्मक अन्वेषणों से पता लगता है कि एक मालव-संवत् था (जिसे पहले कृत-संवत् कहते थे तथा जो विक्रम-संवत् का समानार्थी है) जो 'मालवगण के संविधान' की स्मृति में संस्थापित किया गया था। हमें साहित्यिक तथा ज्यौतिषिक परम्पराओं से यह भी सूचना मिलती है कि विक्रमादित्य ने ५७ ई० पूर्व में एक संवत् की स्थापना की। इन दोनों तथ्यों को एक साथ रख कर विचार करने पर यह बात सरलता से स्पष्ट हो जाती है। विक्रमादित्य मालवगण से सम्बन्धित थे। विक्रमादित्य को मालवगण से सम्बन्धित करने में हमें एक ही तथ्य की व्याख्या करनी होगी। जैन परम्परा के अनुसार वह 'गर्दभिल्ल'-वंश का था। वर्तमान लेखक के मत में गर्दभिल्ल

१. एपिग्रेफिया इण्डिका, भाग २६।
२. भाण्डारकर-स्मृति-अङ्क, पृ० १९१।
३. नन्दसा यूप अभिलेख, ए० इ० भाग २७।
४. सह्याद्रि, अक्टूबर १९४३।

मालवों की एक शाखा थी। मालवों में अनेक शाखायें थीं इसका प्रमाण तो नन्दसा के अभिलेख से ही प्राप्त हो जाता है। नन्दसा लेख में यज्ञ के लिए उत्तरदायी मालव 'सोगी' शाखा के थे। इस प्रकार गर्दभिल्ल-सोगी आदि मालवों की भिन्न-भिन्न शाखायें थीं। अतः विक्रमादित्य के वंश का नाम गर्दभिल्ल उनके मालव-गण-प्रमुख होने में अवरोधक नहीं होता। उसी प्रकार उनका 'राजा' कहलाना, अथवा अपने पिता के बाद शासन करना भी हम लोगों के सम्मुख कोई कठिनाई नहीं उपस्थित करता। नन्दसा-यूप-अभिलेखों से हम जानते हैं कि दक्षिण-पूर्वीय राजपूताना के मालवों में कभी-कभी नायकत्व दो या तीन-तीन पीढ़ी तक उसी कुटुम्ब में चलता रहता था।

प्राचीन भारत में गण नेताओं की उपाधि 'राजा' थी यह स्पष्ट तथा सुविज्ञात तथ्य है[1]। इसके अतिरिक्त कुछ साहित्यिक प्रमाण हैं जो विक्रमादित्य को मालवों तथा उनके गण से सम्बद्ध करते हैं :

(१) मेरुतुङ्गाचार्य अपने ग्रन्थ 'विचार-श्रेणी' में, विशाला अथवा उज्जयिनी का राजनीतिक इतिहास वर्णन करते हुए कहते हैं : 'महावीर के निर्वाण (५२७ ई० पूर्व) के ४७० वर्ष पश्चात् शकों के वंशोन्मूलन के बाद एक मालव राजा विक्रमादित्य होगा[2]। 'मालव' शब्द स्पष्टतः मालव के लोग अथवा मालवगण के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, किसी स्थान के अर्थ में नहीं, क्योंकि 'विशाला' अथवा उज्जयिनी का नाम तो उल्लिखित है ही। यह एक महत्त्वपूर्ण प्रामाणिक लेख है जो विक्रमादित्य को मालवों से सम्बद्ध करता है तथा मालवगण-मुख्य जो शकों के विध्वंसक तथा विक्रम-संवत् के संस्थापन के कारण थे, तथा विक्रमादित्य की एकता के सम्बन्ध में उठाई गई किसी भी आपत्ति को मूक कर देता है।

(२) एक अन्य साहित्यिक प्रामाणिक लेख, जो विक्रमादित्य के एक गण से सम्बन्धित होने पर प्रकाश डालता है, कालिदास के अभिज्ञान-शाकुन्तल के पुराने हस्तलेख[3] में प्राप्त होता है जिसकी तिथि १६९९ है। यह हस्तलेख

---

१. अर्थशास्त्र ११, १, ६।

२. कालन्तरेण केणवि उप्पाडिता सगाण तं वंसं। हो ही मालवराया नामेण विक्कमाइच्चो॥ पट्टावलि समुच्चय, भाग १, परिशिष्ट सी० पृ० १९९ में उद्धृत।

३. ओरियण्टल कान्फरेन्स के बारहवें अधिवेशन (बनारस, दिसम्बर १९४३) में इस हस्तलेख को लेखक ने डा० रमेशचन्द्र मजूमदार तथा श्री काशीनाथ दीक्षित (भारतीय पुरातत्त्व विभाग के अध्यक्ष) जैसे प्रसिद्ध विद्वानों को दिखाया था।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के भूतपूर्व अध्यक्ष श्री आचार्य केशवप्रसाद मिश्र के यहाँ मिला था। सम्बद्ध उद्धरण नीचे दिये जाते हैं :

(अ) आर्ये रसभावविशेषदीक्षागुरोः **श्रीविक्रमादित्यसाहसाङ्कस्याभि**रूपपण्डितभूयिष्ठेयं परिषत्। अस्याञ्च कालिदासप्रयुक्तेनाभिज्ञानशाकुन्तलनाम्ना नवेन नाटकेनोपस्थातव्यमस्माभिः। (नान्द्यन्ते)

(आ) भवतु तव विडौजाः प्राज्यवृष्टिः प्रजासु
त्वमपि विततयज्ञो वज्रिणं भावयेथाः।
गणशतपरिवर्तैरेवमन्योन्यकृत्यै–
र्नियतमुभयलोकानुग्रहश्लाघनीयैः ॥ अङ्क ७.३४

उद्धरण (अ) की शब्दावली जो मोटे अक्षरों में अङ्कित है यह पूर्ण स्पष्ट कर देती है कि उस नाटक के रचयिता कालिदास के आश्रयदाता का व्यक्तिवाचक अभिधान विक्रमादित्य तथा उसका विरुद साहसाङ्क था। यहाँ दूसरी ध्यान देने योग्य बात यह है कि विक्रमादित्य के नाम के पहले कोई भी राजसी उपाधि नहीं लगी है। राजकीय उपाधि की अनुपस्थिति का कारण स्थान की कमी या छन्द की आवश्यकता नहीं हो सकती क्योंकि यह अनुच्छेद गद्य में है पद्य में नहीं। यहाँ यह अभाव बड़ा महत्त्वपूर्ण है। स्पष्टतः विक्रमादित्य एक गण-नायक थे और कालिदास जैसे समकालीन कवि जो गणतन्त्रात्मक संविधान के ध्वनितार्थ को भलीभांति समझते थे, उनके लिए कोई राजसी उपाधि नहीं लगा सकते थे। यह भी ध्यातव्य है कि राजसी उपाधि के स्थान पर साधारण आदरसूचक 'श्री' शब्द उनके नाम के पहले लगा दिया गया है।

उद्धरण (आ) में गणशत (एक सौ गणतन्त्र) पद उपर्युक्त प्रघटक के अनुमान की पुष्टि करता है कि विक्रमादित्य एक गणनायक थे। इस पद में शत शब्द एक गोलमोल संख्या का सूचक है और इसका स्थूल अर्थ 'बहुत' है। यह इस बात का सूचक है कि विक्रमादित्य बहुत से गणों से सम्बन्धित थे। बाद में यह स्पष्ट हो जायगा कि वे बहुसंख्यक गणों के संघ के, जो शकों के

उन लोगों के मत में यह हस्तलेख प्रामाणिक है तथा इसकी प्रामाणिकता में सन्देह करने का कोई कारण नहीं। यह भी ध्यान देना चाहिये कि इसमें कतिपय वर्णों के प्राचीन रूप विद्यमान हैं जिससे यह पता लगता है कि यह हस्तलेख किसी अन्य प्राचीन हस्तलेख की प्रतिलिपि है।

विरोध और निष्कासन के हेतु सङ्गठित किया गया था, प्रमुख थे। अभिज्ञान-शाकुन्तल के कुछ संस्करणों में 'गणशत' के स्थान पर 'युगशत' (सौ युग) शब्द मिलता है। युगशत पाठ स्पष्ट रूप से असमीचीन है। यदि हम इसको स्वीकार कर लें तो यह समझना दुष्कर हो जायगा कि सैकड़ों युगों में फैले हुए एक राजा के काम अपने ही समय में इन्द्र को कैसे प्रसन्न कर सकते थे?

(२) मुद्रासाक्ष्य

पुरातत्त्व की एक अन्य शाखा मुद्रा-शास्त्र अवन्ती-आकर के पड़ोस में न केवल मालव गण के अस्तित्व पर प्रकाश डालता है प्रत्युत यह प्रथम मालव-शक-युद्ध के तिथि-निर्धारण में भी सहायक होता है।

नगर के समीप जयपुर राज्य की एक करद जागीर उनियर में भारत के एक पुरोगामी पुरातत्त्ववेत्ता कारलाइल ने बहुसंख्यक छोटे छोटे पुरातन सिक्कों को प्राप्त और दूसरों से उनका संग्रह भी किया था। लिपिविज्ञान के आधार पर उसने उन मुद्राओं का वर्गीकरण किया और उसने देखा कि उनमें से प्राचीनतम मुद्राओं में ब्राह्मी वर्णों में 'मालवानां जयः' 'मालवगणस्य जयः' 'जयः मालवानां' लेख हैं।[1] इन लेखों का स्पष्ट अर्थ है मालवों या मालव-गण का विजय। परवर्ती सिक्कों में धुंधले ब्राह्मी अक्षरों में लेख हैं। कारलाइल ब्राह्मी वर्णों का—जिनमें वे लेख लिखे हैं—तिथि-निर्धारण नहीं कर सका और न वह मालवों का समीकरण इतिहास में ज्ञात किसी जाति से सुझा सका। इस कार्य में सर एलेक्जाण्डर कनिंघम प्रयत्नशील हुआ। वह निस्सन्देह सत्य पर पहुँच गया था जब उसने पत्र-व्यवहार में कारलाइल को लिखा था—'और लेखों के वर्णों में पर्याप्त भिन्नता है जो २५० ई० पू० से लेकर २५० ई० प० तक के हैं। × मेरा अनुमान है कि चित्तौड़, अजमेर और राजपूताना के सभी भाग मालवों के अधिकार में रहे होंगे। ऐसे बहुत-से सिक्के हैं जो इस जन के नहीं हैं; उदाहरणार्थ वे सिक्के जिनके लेख मरु या मगज से शुरू होते हैं। लेकिन आपके सिक्कों में बहुत-से मालवों के हैं जिनमें विभिन्न प्रकार से नाम अङ्कित हैं और जो अनेक भांति के हैं। × × × मुझे सन्देह होता है कि मालव मुल्तान के मल्लोई हो सकते हैं[2]।' रैप्सन और स्मिथ का मत कनिंघम से कुछ भिन्न है और उनके अनुसार इन सिक्कों की तिथि को १५० ई० पू० से प्राचीन नहीं

---

१. आर्के० सर्वे आफ इण्डियन रिपोर्ट, भाग ६, पृ० १६०-१८३।

२. वही, पृ० १८२।

बताया जा सकता। एलन ने प्राचीनतम सिक्कों की अन्तिम सीमा १०० ई० पू० बनाई। यदि हम प्राचीनतम (मालव) सिक्कों पर प्राप्त वर्णों की तुलना अशोक और कुषाणकालीन ब्राह्मी-वर्णों से करें तो यह स्पष्ट हो जायगा कि तिथिक्रम की दृष्टि से उनकी स्थिति मध्यवर्ती है अर्थात् वे निस्सन्देह अशोक-कालीन वर्णों से परवर्ती और कुषाणकालीन वर्णों से पूर्ववर्ती हैं। तथापि यह स्वीकार किया जा सकता है कि लिपि के आधार पर इन सिक्कों की कोई निश्चित तिथि नहीं निर्धारित की जा सकती, अधिक से अधिक उनका अनुक्रम और उनका लगभग समय ही बताया जा सकता है। वर्णों के विकास में पचास वर्षों की मात्रा का निरास नहीं किया जा सकता। सौभाग्यवश प्रस्तुत विषय में मुद्राओं पर के लेख बहुत सहायक होते हैं। स्पष्टतः ये लेख इस तथ्य का निर्देश करते हैं कि सिक्कों का प्रथम प्रवर्तन कतिपय अत्यन्त भयङ्कर शत्रुओं पर मालवों की विजय के संस्मरणार्थ हुआ था। यह विजय निस्सन्देह एक महती घटना थी क्योंकि अनेक आगामी शताब्दियों तक इसकी स्मृति बनी रही जैसा कि मुद्राओं के साक्ष्य से स्पष्ट हो जाता है। सम्प्रति प्रश्न यह है कि मालवों के शत्रु कौन थे और मालवों द्वारा उनके पराजय का क्या प्रमाण है ? इसके उत्तर के अनुसन्धान में हमारा ध्यान ५७ ई० पू० में मालवगण के संविधान पर जाता है। अभिलेखों और मुद्राओं के प्राप्तिस्थलों पर विचार करने से यह निश्चितप्राय हो जाता है कि संवत्प्रवर्त्तन और विजयप्रकार के सिक्कों के सञ्चालन से एक ही घटना को समारोहित किया गया।

यह वास्तव में अद्भुत है कि पुरालेखविद्या और मुद्राविज्ञान एक दूसरे का सहगमन और समर्थन करते हैं। यदि हम आभिलेखिक और मुद्रा-साक्ष्यों को साहित्यिक अनुश्रुतियों से समवेत करें तो एक सुसम्बद्ध और समनुगत कथा का निर्माण कर सकते हैं : 'मालवों के नायक और मालवों की गर्दभिल्ल शाखा से सम्बद्ध विक्रमादित्य ने ५७ ई० पू० में शकों को भारत से निष्कासित किया और उज्जयिनी को पुनः प्राप्त किया। इस ऐतिहासिक घटना का समारोह मनाने के लिए एक संवत् की स्थापना की गयी। वह पहले कृत कहा जाता था क्योंकि इसने एक शान्ति और समृद्धि के युग (कृतयुग) का उद्घाटन किया था और बाद में मालव और विक्रम संवत् के नाम से अभिहित हुआ। उसी अवसर पर विजयप्रकार के नये सिक्के भी चलाये गये थे।'

८. मालवों के इतिहास का साक्ष्य

आभिलेखिक और मुद्रासाक्ष्य से प्राप्त निष्कर्षों की पुष्टि पंजाब से अवन्ती

की ओर मालवों के प्रवास के इतिहास और प्रथम शताब्दी ई० पू० में मालवा एवं इसके पड़ोसी प्रदेशों में उनके अस्तित्व से होती है।

मालव जन का इतिहास प्रथम शताब्दी ई० पू० के काफी पहले ले जाया जा सकता है। बहुत पुरातन काल में मालव पंजाब में बसे हुए थे। महाभारत में एक स्थल पर त्रिगर्तों के साथ उनका उल्लेख हुआ है[1] और एक अन्य स्थल पर उन्हें शिबि और अम्बष्ठों के साथ दिखाया गया है।[2] महाभारत से यह भी ज्ञात होता है कि मालव मद्रों से सम्बन्धित थे[3] जो श्यालकोट के समीपवर्ती भूप्रदेशों को अधिकृत किये हुए थे। त्रिगर्त वर्तमान काँगड़ा है। प्राप्त संदर्भ से ऐसा जान पड़ता है कि मालव उत्तरपश्चिमी पंजाब में रहनेवाले त्रिगर्त और मद्रों से तथा सिन्ध के उत्तर में शिवियों से घिरे हुए थे। वे दक्षिणी पंजाब के एक बहुत बड़े हिस्से को अधिकृत किये हुए थे जिसमें फिरोजपुर एवं लुधियाना के जिले तथा झिन्द, पटियाला, नाभा और मलेरकोटला, जो आज भी मालवा कहलाता है, के राज्य सम्मिलित थे।[4] महाभारत युद्ध में वे कौरवों की ओर से लड़े थे।

संस्कृत के प्रारम्भिक वैयाकरण भी मालवों का उल्लेख करते हैं। 'आयुधजीवी संघ' (आयुध-व्यवसाय पर जीविका चलानेवाले गणतान्त्रिक क्षत्रिय लोग) के प्रसंग में पाणिनि[5] मालव-क्षुद्रकों का निर्देश करते हैं। पाणिनि के अष्टाध्यायी पर काशिका टीका का स्पष्ट कथन है कि आयुधजीवी संघों में मालव और क्षुद्रक सर्वप्रमुख थे। पाणिनि[6] के सूत्रों पर टीका करते हुए पतञ्जलि क्षत्रिय जनपदों (क्षत्रिय जातियों द्वारा अधिगत प्रदेशों) के दृष्टान्त में मालव और क्षुद्रक का संयुक्त उल्लेख करते हैं।

यवन लेखक भी, जिन्होंने सिकन्दर के भारतीय अभियान का वर्णन किया है, मालव और क्षुद्रकों का साथ ही उल्लेख करते हैं। यवनों ने उन्हें क्रमशः मल्लोई और आक्सीड्रेकाय नाम से अभिहित किया है। वे निचली रावी और चिनाव नदियों के बीच के प्रदेशों में बसे हुए थे। मालव और क्षुद्रक दोनों गणतन्त्रों ने एक संघ बनाया था जिसने बड़े साहस के साथ सिकन्दर का

---

१. द्रोणपर्व १०–१७।
२. सभापर्व ३२–७।
३. महाभारत
४. दि इम्पीरियल गजेटियर, भाग १७ पृ० १०५।
५. ५. ३. ११४।
६. ४. १. १६४

विरोध किया था, जब वह झेलम होकर पंजाब से लौट रहा था। एरियन[1] के अनुसार देश के उन प्रदेशों में सर्वाधिक और लड़ाकू राष्ट्र थे। एरियन[2] मल्लोई को स्वतन्त्र भारतीयों की एक जाति बतलाता है। मालव-क्षुद्रक संघ के साथ युद्ध करने में सिकन्दर बड़े भाग्य से मृत्युमुख में जाने से बचा था। संघटित सेना में १००००० सैनिक थे। 'इस सेना से मिलने की सम्भावना पर मकदूनिया वालों का साहस जाता रहा।' 'जब मकदूनिया वालों ने देखा कि उन्हें शीघ्र ही एक नया युद्ध करना है जिसमें भारत के सर्वाधिक युद्धप्रिय राष्ट्र उनके विपक्षी होंगे, एक अप्रत्याशित भय ने उन्हें आक्रान्त कर लिया और वे विद्रोह-भरे शब्दों में अपने राजा की भर्त्सना करने लगे।'[3] संघटित सेना के नायकत्व में आन्तरिक पार्थक्य होने के कारण मालव और क्षुद्रक सिकन्दर से पराजित हुए परन्तु वे पराजय के उपरान्त भी जीवित रहे। यवन लेखकों के अनुसार दोनों ने सिकन्दर के साथ सन्धि कर ली और 'सौ राजदूत' भेजे जो 'सबके सब रथ पर आरूढ़ थे और वे असाधारण आकृति एवं बड़ी ही गौरवान्वित छविवाले थे। उनके वस्त्र लिनेन के बने थे और उन पर सोने और मखमल की सुइकारी की हुई थी। उनका कहना था कि उनकी वश्यता का कारण देवता हैं भय नहीं।' मालवों को अपनी स्वतन्त्रता का गर्व था जिसे वे कई शताब्दियों तक अक्षुण्ण बनाये रहे।

यवन लेखकों के वर्णनों से यह स्पष्ट है कि सिकन्दर महान् के हाथों मालव नष्ट होने से बच गये। लेकिन इसके पूर्व कि वे अपनी शक्ति और अपने गौरव को, जिसे यवन आक्रमण ने हिला दिया था, पुनः प्राप्त कर सकते, पंजाब प्रान्त को साम्राज्यवादी मौर्यों (और उनके बाद) शुङ्गों ने अधिकृत कर लिया। इन परिस्थितियों में मालव अपना वशवर्ती और अवमानित अस्तित्व बनाये रहे। जब शुङ्ग राजशक्ति का ह्रास होने लगा और एक बार फिर पंजाब बाख्त्री यवनों के आक्रमण से पराभूत हुआ, मालवों के ऊपर पहले से भी बुरा संकट आ पड़ा। उन्हें एक भयङ्कर समस्या का सामना करना पड़ा। अपनी स्वतन्त्रता खोकर और यवनों से पददलित होकर उन्हें पंजाब में बना रहना चाहिए अथवा अपने मूल प्रदेश को त्यागकर एक नवीन

---

१. ६. ४.

२. ६.६

३. कटियस भाग ९, अध्याय ४; मैकिंडल, 'इन्वेजन आफ इण्डिया बाई एलग्जाण्डर' पृ० २३४।

प्रदेश की खोज में प्रवास करके जन (या यवन अर्थ में राष्ट्र) के रूप में अपनी स्वाधीनता की रक्षा करनी चाहिए ? स्वतन्त्रताप्रिय मालवों ने द्वितीय विकल्प को स्वीकार किया। बाख्त्री यवनों का दबाव पड़ने पर पंजाब के बहुसंख्यक गणतन्त्रात्मक जनों के साथ मालव लोग अपने लिए नवीन राज्य का निर्माण करने के विचार से दक्षिण-पूर्व की ओर बढ़ चले। इस समय पूर्व में मगध राजशक्ति के ह्रास ने इन जनों को प्रोत्साहन दिया।

मालवों के प्रवास का मार्ग दक्षिणी पूर्वी पंजाब और उत्तरी पूर्वी राजपूताने से होकर मध्यभारत तक खींचा जा सकता है। देश के इन पथों में बहुसंख्यक स्थान 'मालव' शब्द या इसके कुछ रूपान्तरों से सम्बद्ध हैं। पंजाब का सतलज नदी का दक्षिणपूर्वी भाग और राजपूताना तथा बुन्देलखण्ड के बीच के प्रदेश स्थानीय लोगों के द्वारा मालव कहे जाते हैं। यह इस बात का सूचक है कि मालवों ने इन स्थानों को अधिकृत किया था। मौद्रिक और आभिलेखिक साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि वर्तमान जयपुर राज्य के दक्षिणी भाग को मालवों ने लगभग १०० ई० पू० अधिकृत किया था।[१] इस प्रदेश से प्रथम शताब्दी ई० पूर्व के प्रथम पाद में उनका दक्षिण-पश्चिम की ओर प्रवास उन्हें अवन्ती ले गया। यह वह समय था जब शक भारत के दक्षिणी-पश्चिमी द्वार (बोलन दर्रा) को खटखटा रहे थे। शकों के झुण्ड के झुण्ड सिन्धु और सुराष्ट्र होते हुए अवन्ती में आप्लावित हो गये और सामने पड़नेवाली प्रत्येक वस्तु को अपने साथ बहा ले गये। मालवों को अवन्ती का आवास छोड़ना पड़ा। किन्तु उन्होंने साहस नहीं खोया और अपने साहसी प्रधान विक्रमादित्य के प्रेरक अधिनायकत्व में गणों का एक संघ बनाया जो राजस्थान के सीमान्त तक फैला था और जिसने ५७ ई० पूर्व में शकों को गहरे पराजय का अनुभव कराया। अपनी इस महान् कृति के परिणामस्वरूप मालव-गण उज्जयिनी में पुनः संस्थापित हुआ।[२] इसी महान् घटना का समारोह मनाने के लिए मालव-संवत् (मालव-गण-स्थितिकाल) का प्रवर्तन किया गया[३] और विजय प्रकार के सिक्के चलाये गये।[४]

---

१. आर्के० सर्वे इण्डि० रिपो० भाग ६, पृ० १६०–१८३।

२. मालवगणस्थिति।

३. अपनी प्रारम्भिक शताब्दियों में आलंकारिक भाषा में यह कृत संवत् (सुवर्णयुग) कहलाता था।

४. 'मालवानां जयः' या 'मालवगणस्य जयः'।

अवन्ती को पुनः अधिकृत कर लेने के अनन्तर १३५ वर्षों तक मालव गौरव और समृद्धि के साथ शासन करते रहे। इस काल के अन्त में शकों के नवीन आक्रमणों ने उन पर पुनः बाधा डाली। मालवों को अवन्ती छोड़ना पड़ी और वे उत्तर-पूर्व की ओर खिसक गये। (उदयपुर राज्य में प्राप्त) नन्दसा यूप अभिलेखों से विदित होता है कि मालवों के कृत (विक्रम) संवत् के तृतीय शतक के अन्तिम पाद में मालव राजस्थान के दक्षिणी-पूर्वी भाग को अधिकृत किये हुए थे। इसके भी बाद समुद्रगुप्त के राज्यकाल में (ईसवीय संवत् के चतुर्थ शतक के पूर्वार्द्ध में) वे लगभग उसी प्रदेश में थे।

मालवों के इतिहास की सर्वप्रमुख विशेषता रही है आक्रान्ताओं के साथ उनका सतत और अथक संघर्ष। पंजाब में उन्होंने यवनों से युद्ध किया। राजस्थान और मध्यभारत में उन्होंने शकों के साथ संघर्ष जारी रखा। उनके (शकों के) विरुद्ध उन्होंने १३५ वर्ष तक सुदृढ़ प्राकार का काम किया। इस काल के अवसान पर उन्हें शकों के हाथों विपरीत स्थिति का अनुभव हुआ तथापि वे गणतान्त्रिक जन के रूप में जीवित रहे। लेकिन एक नये साम्राज्य ने, जिसका पोषण गुप्तों ने किया था, मध्यभारत और राजस्थान के अन्य गणतन्त्रों के साथ मालवों को भी निगल लिया। चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के राज्यकाल के अनन्तर भारतीय इतिहास में मालवों का नाम फिर कभी नहीं सुनाई पड़ा।

९. शक-प्रसरण का साक्ष्य

ई० पू० प्रथम शतक में भारत पर शक-आक्रमण एक ऐसी घटना है जिसे इतिहासकारों ने सर्वसम्मति से स्वीकार कर लिया है। यह भी मान लिया गया है कि शक भारत में बोलन दर्रे से प्रविष्ट हुए और सिन्ध होते हुए आगे बढ़े। शक काबुल घाटी से न आये होंगे। वहाँ उनका कोई भी चिह्न प्राप्त नहीं हुआ। इस प्रदेश में पुरातत्त्ववेत्ताओं द्वारा उद्घाटित सहस्रों मुद्राओं में एक भी शकमुद्रा प्रकाश में नहीं आयी है। यह पूर्ण निश्चित है कि शकों द्वारा भारतीय यवन राज्य के पूर्वी भाग अधिगत कर लेने के उपरान्त भी काबुल घाटी यवनराजाओं के अधिकार में रही। मध्यएशिया से चलने वाली शकों की आक्रामक सेनायें कश्मीर से भी भारत में प्रवेश नहीं पा सकती थीं क्योंकि इस मार्ग से आना शरीरतः असम्भव था। इन परिस्थितियों में शकों के लिए एक ही विकल्प बचा था कि वे उस मार्ग को अपनायें जो एरियाना, दक्षिणी-पश्चिमी अफगानिस्तान और बलूचिस्तान होकर जाता था। बोलन

दर्रे से सम्बद्ध यह एक विशाल राजमार्ग था जो ब्रङ्क (ड्रंगियाना = सीस्तान) और सरस्वती (अराकोशिया = कन्दहार) के पह्लव प्रान्तों से ब्रहुई पर्वतमाला को पार करते हुए निचली सिन्धु के प्रदेश तक जाता था। सिन्ध में शक इतनी सघनता से बस गये और उन्होंने वहाँ ऐसा सुस्पष्ट प्रभाव छोड़ा कि वह प्रान्त 'शकद्वीप' (शकों का प्रदेश) के नाम से प्रख्यात हो गया।[1]

भारतीय इतिहास में शकों की उपस्थिति कोई पृथक् घटना नहीं थी। जातियों के प्रवासों की यह एक लहर थी जो मध्यएशिया से उठी थी। ईसा-पूर्व अष्टम शतक में मूल सीदियन या शक स्थान-परिवर्तन कर रहे थे और वे एशिया और यूरोप के अपने विभिन्न आवासों को त्याग चुके थे। उनकी एक धारा दक्षिण-पश्चिम की ओर बह आयी थी। परन्तु पारसीक अखामी राजाओं ने पहले ही उन्हें बलख में रोक दिया और बाद में सिकन्दर के यवन उत्तराधिकारियों ने उनकी गति बन्द रखी। तथापि यवन प्राचीर अधिक दिनों तक न रह सकी। बल्ख में यवन राजशक्ति का ह्रास होते ही बर्बर उपद्रवों का अवरोध उच्छिन्न हो गया और संवृत शक सेनायें बड़े वेग के साथ दक्षिण की ओर बढ़ चलीं।

शकों का दक्षिण की ओर बढ़ना एक अन्य महत्त्वपूर्ण घटना से सम्बन्धित था। जब १६५ ई० पू० में चीन के उत्तरी-पश्चिमी प्रान्त में रहने वाली (चीनी इतिहासकारों में यूची नाम से प्रसिद्ध) एक यायावर (खानाबदोश) जाति हिंग-नू (हूण) लोगों द्वारा पराजित की गयी, मध्य-एशिया की जातियों की स्थिति में असन्तुलन उपस्थित हो गया। हिंग-नू लोगों द्वारा भगाये जाने पर यूची जाति दक्षिण-पश्चिम की ओर चल पड़ी और उसने शकों को सीरदरिया के उत्तरी काँठे के निवासस्थान से निकाल दिया तथा उन्हें दक्षिण-पश्चिम की ओर खिसक जाने के लिए बाध्य किया। अपनी तूफानी बाढ़ में शक बल्ख की यवन राजशक्ति को बहा ले गये और अपने पश्चिमी प्रयाण में केवल पह्लवों (पार्थियनों) द्वारा ही रोके जा सके।[2]

भारत की ओर शकों के पश्चिमी प्रयाण के मार्ग का निम्नलिखित अनुच्छेद में निर्देश हुआ है : 'काबुल की यवन राजशक्ति के द्वारा अवबाधित होने पर

१. जे० आर० ए० एस० १९१३ पृ० ६३५, टिप्पणी १ और २ में टॉमस इस विषय पर बहुसंख्यक अधिकृत लेखकों के उद्धरण देते हैं।

२. तुलनार्थ, वी० ए० स्मिथ, 'अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया' (चतुर्थ संस्करण) पृ० २६३-२६५।

शकों की प्रमुख बाढ़ सहज में ही पश्चिम में हिरात की ओर और वहाँ से दक्षिण में सीस्तान की ओर हो गई होगी। निस्सन्देह सीदियन आक्रमण की लहर इन दिशाओं में उसी समय से बह रही थी जब शक सीरदरिया के उस पार के प्रदेशों से यूचियों द्वारा निष्कासित किये गये थे। इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं कि ईरान में आरम्भिक सीदियन आवास उस समय संवलित किये गये थे जब शकों ने पहले पहल बल्ख को अधिगत किया था। पह्लव राजा जो सम्प्रति पूर्वी ईरान पर अधिकार जमाये थे, दो राज्यकालों (फ्रेट्स द्वितीय १३८–१२८ ई० पू० और अर्ताबानुस प्रथम १२८–१२३ ई० पू०)से अपनी सीदियन प्रजा के साथ असफल संघर्ष में संलग्न थे। अगले सम्राट् मिथ्रडेट्स द्वितीय महान् के राज्यकाल (१२३–८८ ई० पू०) में इस संघर्ष का निर्णय पह्लवों के पक्ष में हुआ। अब पार्थिया ने अर्गला के रूप में बल्ख का स्थान ले लिया था जो कि ऊपरी एशिया से संचलित पश्चिमोन्मुखी प्रवासों को अवरुद्ध किये रहा। परन्तु आक्रमण के प्रवाह ने अपनी धारा बदल दी; एरियाना में रोके जाने पर इसने अपना मार्ग न्यूनतम प्रतिरोध की पंक्ति से निकाला। बाद में ईसा की चतुर्थ और पंचम शताब्दियों के मध्य में हूणों के आक्रमणों की भांति शकों का भारतीय आक्रमण भी जातियों की विशाल बाढ़ में एक घटना थी जिसने न केवल भारत के अपितु एशिया और यूरोप के इतिहास को भी बहुत अधिक प्रभावित किया।[1]

१०. शक इतिहास और जैन साहित्य

जैन साहित्य में लिखित ऐतिहासिक अनुश्रुतियाँ शकों की उपर्युक्त बाढ़ और आक्रमण से मेल खाती हैं। प्रभावकचरित के अनुसार जैन परिव्राजक कालकाचार्य गर्दभिल्ल से अपमानित होकर सिन्धु नदी के तट पर पहुँचे जहाँ पर ९६ शक सरदार शासन कर रहे थे। वे अपने (पह्लव) अधिराज द्वारा उपस्थापित किये गये थे। गर्दभिल्ल से बदला लेने के लिए कालकाचार्य ने उन्हें अवन्ती में आक्रमण करने और वहाँ बस जाने का परामर्श दिया। इस स्वागत परामर्श से शकों ने सिन्धु नदी पार की और ७२ ई० पू० में भारत पर आक्रमण किया। चूर्णी सहित निशीथ सूत्र, दशम उद्देश में लगभग ऐसा ही इतिहास पाया जाता है (अभिधानराजेन्द्र भाग १ पृष्ठ ५८२ में उद्धृत)। इस सूत्र से विदित होता है कि कालक परसकुल (या सगकुल) गये। वहाँ

---

१. प्रो० रैप्सन, कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया, भाग १, पृ० ५६७।

एक शाहि (साधि) राज्य कर रहा था। शाही का एक अधिपति था शाहानुशाही (साढानुसाढि)। वह अधिपति (स्पष्टतः पार्थियन राजा) शाहि से क्रुद्ध हो गया और उसने उसका सिर माँगा। शाही ने कालक से सलाह ली और उसके परामर्श से सुराष्ट्र होते हुए भारत देश को प्रवास किया तथा उज्जयिनी के गर्दभिल्ल को पराजित किया।

जैन अनुश्रुतियों में यह भी कहा गया है कि गर्दभिल्ल के पुत्र विक्रमादित्य ने थोड़े ही समय बाद भारत के प्रथम शक आक्रान्ताओं को निष्कासित कर दिया। बलात्प्रविष्ट शकों का अवन्ती आकर दक्षिण-पूर्वीय राजस्थान के गणतन्त्रों से संघर्ष होना अवश्यम्भावी था। साम्राज्यवादी और विदेशी आक्रमणों के विरुद्ध संघ बना लेना भारतीय गणों की राजनीतिक परम्परा रही है। वज्जि और मल्लों ने मगध-सम्राट् अजातशत्रु के विरुद्ध संघ बनाया था। पञ्जाब में मालवों और क्षुद्रकों ने भी यवन आक्रान्ता सिकन्दर का विरोध करने के लिए एक ऐसा ही संघ बनाया था। एक सर्वजनीन सङ्कट के विरुद्ध मध्यभारत और राजस्थान के गणों ने (शतगण) मालवगणमुख्य विक्रमादित्य के सुयोग्य अधिनायकत्व में एक सबल संघ का निर्माण किया और ५७ ई० पू० में शकों को निकाल बाहर किया।

११. निष्कर्ष

विगत पृष्ठों में हमने भारतीय संवत्, लोकप्रिय कथायें, ब्राह्मण और जैनों की साहित्यिक अनुश्रुतियाँ, आभिलेखकी (एपिग्राफी), मौद्रिकी (न्यूमिस्मेटिक्स) तथा मालव और शकों के इतिहास आदि विभिन्न स्रोतों से उपलब्ध साक्ष्यों का परीक्षण किया है। यदि उन पर पृथक् पृथक् विचार किया जाय तो सम्भव है वे निर्णायक सिद्ध न हों और उनके प्रमाण पर सन्देह भी प्रकट किया जा सकता है। लेकिन जब उन सबको सम्मिलित किया जाता है तो वे एक केन्द्रीय सत्य—ई० पू० प्रथम शताब्दी में विक्रमादित्य के अस्तित्व—के विषय में परस्पर संगत हो जाते हैं और इस तरह उनके बारे में प्रचलित भारतीय अनुश्रुतियों की सत्यता प्रमाणित करते हैं। उपलब्ध साक्ष्य हमें निम्नलिखित निष्कर्ष पर ले जाते हैं :

(१) विक्रमादित्य केवल परिकल्पित नहीं प्रत्युत एक ऐतिहासिक व्यक्ति हैं जो प्रथम शताब्दी ई० पू० में हुये थे।

(२) वह मालवों की—जो पञ्जाब से अवन्ती चले आये थे—गर्दभिल्ल शाखा के थे।

(३) वह 'मालव-गण-मुख्य' थे ।

(४) प्रथम शताब्दी ई० पू० में मालव गण की राजधानी उज्जयिनी थी और विक्रमादित्य वहाँ शासन करते थे ।

(५) उन्होंने ५७ ई० पू० में प्रथम शक आक्रान्ताओं को निष्कासित किया।

(६) एक संवत् की स्थापना करके जो, अपनी आरम्भिक शताब्दियों में कृत और मालव संवत् कहलाता था और बाद में विक्रम संवत् के नाम से विख्यात हुआ, शक पराजय की इस महती घटना का समारोह किया गया ।

(७) शकों के विरुद्ध मालवों की सफलता को स्मरणीय बनाने के लिए 'जय' शैली के सिक्के भी चलाये गये ।

(८) विक्रमादित्य एक आदर्श और लोकप्रिय शासक थे । वे कला और साहित्य के एक विख्यात आश्रयदाता थे ।

द्वितीय अध्याय

कुछ प्रचलित मतों की समीक्षा

पिछले अध्याय में हमने साक्ष्यों को उपस्थित किया है और प्रथम शताब्दी ई० पू० में विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता पर उनके प्रत्यक्ष प्रभाव का भी विवेचन किया है। भारतीयों के लिए, जो तथाकथित वैज्ञानिक-ऐतिहासिक-ज्ञान-लव-विदग्ध नहीं थे, विक्रमादित्य वास्तव में एक ऐतिहासिक पुरुष थे। किन्तु जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है बहुत से प्राच्यविद्याविशारद विद्वानों ने विक्रमादित्य-सम्बन्धी अत्यन्त प्रचलित एवं काल-पूजित परम्पराओं में भी सन्देह किया है। प्रथम शताब्दी ई० पू० में उनका अस्तित्व अस्वीकार करते हुए उन्होंने विक्रम संवत् का प्रवर्तन प्राचीन भारत के किसी तथा-कथित ऐतिहासिक पद्धति से ज्ञात राजा पर थोपने का प्रयास किया है। इस प्रयास में उन्होंने नये सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है जिनमें कुछ तो अर्द्ध-सङ्गत और अधिकांश काल्पनिक एवं असङ्गत हैं। अतः अपने पिछले अध्याय के निष्कर्षों को पुनः बल देने के लिए इन सिद्धान्तों की परीक्षा तथा मूल्य-निर्धारण करना एवं यह दिखलाना अत्यन्त आवश्यक है कि वे सिद्धान्त प्राचीन भारत के अपर्याप्त ज्ञान पर आधारित, दोषपूर्ण और भ्रान्तिमूलक हैं।

१. फर्गुसन का सिद्धान्त

यूरोप के सबसे पुराने लेखकों में, जिन्होंने विक्रम संवत् का समीकरण करने का प्रयास किया, फर्गुसन भी एक हैं। उन्होंने एक विचित्र सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। उनके मत में जिसे हम विक्रम संवत् कहते हैं, वस्तुतः उसकी स्थापना ५४५ ई० में हुई थी, ५७ ई० पू० में नहीं, जो इसके प्रारम्भ की तिथि समझी जाती है। उनका कहना है कि उज्जयिनी के विक्रमादित्य ने हूणों के विरुद्ध कोरूर के युद्ध में निर्णायक विजय प्राप्त की थी तथा उसी महत्त्वपूर्ण घटना की स्मृति को शाश्वत बनाने के लिए उन्होंने एक संवत् की

स्थापना की थी। उसने संवत् को समादृत तथा कालपूजित बनाने के लिए इसकी स्थापना की तिथि ६ × १०० (अथवा १० × ६०) = ६०० वर्ष पीछे ५६ ई० पू० में ठेल दी[1]। मैक्समूलर[2] ने भी इस मत की पुष्टि की और कुछ समय तक यही मत प्रमुख रहा।

विद्वान् लेखक के मत में बहुत सी त्रुटियाँ हैं। निम्नलिखित आपत्तियों के कारण इस मत को स्वीकार नहीं किया जा सकता :

(१) छठी शताब्दी में उज्जयिनी में हर्ष विक्रमादित्य नाम का कोई राजा नहीं था। मन्दसोर (दशपुर) का यशोधर्मन् ही एक प्रमुख राजा था। मन्दसोर[3] में उपलब्ध दो स्तम्भ-लेखों में उसकी विजयों का वर्णन मिलता है, किन्तु उसमें उसकी 'विक्रमादित्य' उपाधि कहीं भी नहीं है और न इसका प्रयोग किसी प्रामाणिक लेख से ही सिद्ध होता है।

(२) विक्रम संवत् का संस्थापक 'शकारि' (शकों का शत्रु) था, हूणारि नहीं, जैसा कि फरगुसन का हर्ष विक्रमादित्य है। संस्कृत के लेखकों ने हूणों तथा शकों में स्पष्ट विभेद किया है अतएव दोनों में भ्रम का कोई अवसर ही नहीं था।

(३) इस मत के प्रतिपादक ने इस बात की सन्तोषजनक व्याख्या नहीं की कि उक्त संवत् का संस्थापन अन्य शताब्दियों में नहीं बल्कि ६०० वर्ष पूर्व ही क्यों ठेल दिया गया।

(४) विक्रम संवत् की तिथि में बहुत से प्रामाणिक लेख प्रकाश में आये जो संवत्-संस्थापन की कल्पित तिथि से पूर्व के हैं।[4]

२. कीलहार्न का सिद्धान्त

दूसरे विद्वान् लेखक जिन्होंने विक्रम संवत् से सम्बन्धित प्रश्नों की परीक्षा की, कीलहार्न थे। उन्होंने उस समय मालव तथा विक्रम संवतों (जिनमें कीलहार्न ने साम्य बताया है) के प्राप्य सभी अभिलेखों का विस्तृत विश्लेषण किया तथा इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि विक्रम की स्मृति में न तो विक्रम संवत् का प्रवर्तन हुआ था और न संस्थापन ही, क्योंकि इसका आरम्भ कार्तिक से होता है जो भारत में युद्ध (= विक्रम) प्रारम्भ का समय था। फ्लीट ने कुछ काल

१. जे. आर. ए. एस. १८७०, पृष्ठ ८१४;१८८०।

२. 'इण्डिया-ह्वाट कैन इट टीच अस' पृष्ठ २८६।

३. फ्लीट ईस. इंडि. जिल्द ३, सं० ३३,३५।

४, देखिये, पीछे पृष्ठ १-५।

के लिए कीलहॉर्न के मत को स्वीकार किया था। किन्तु उन्हें इस सिद्धान्त की पुष्टि में असफल होना पड़ा। निम्नलिखित तथ्य उनकी कल्पना को निराधार सिद्ध कर देते हैं :

(१) विक्रम-संवत् का प्राचीनतम नाम कृत है[1]। कितने ही अभिलेखों में इस नाम का प्रयोग तिथि-निर्धारण में हुआ है। अब प्रसिद्ध विद्वानों द्वारा मान लिया गया है कि उसी संवत् का नाम लगभग तिथिक्रम से कृत, मालव तथा विक्रम संवत् हुआ। कीलहार्न के सिद्धान्त से इस बात की व्याख्या नहीं हो सकती कि वही संवत् भिन्न-भिन्न कालों में विभिन्न नामों से क्यों अभिहित हुआ? केवल एक ही सम्भव उत्तर दिया जा सकता है जिसको प्रस्तुत लेखक ने ५–९ पृष्ठों में दिया है।

(२) विश्व में कोई भी संवत् ऐसा नहीं है[2] जिसका नामकरण किसी ऋतु के आधार पर जो विशेष प्रकार के कार्य के लिए प्रसिद्ध हो, किया गया हो। व्यापक रूप से संवतों का संस्थापन किसी महान् पुरुष के जन्म, मरण या किसी ऐतिहासिक घटना की स्मृति को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए होती है। इस विश्वजनीन प्रथा की दृष्टि से कीलहार्न का सिद्धान्त बहुत ही विचित्र मालूम पड़ता है तथा तर्कसंगत भी नहीं प्रतीत होता।

विक्रमादित्य का अनस्तित्व केवल इसलिए नहीं सिद्ध होता कि उनका नाम कारणवश किसी संवत् के साथ नहीं जुड़ा है।

३. कनिंघम तथा फ्लीट का मत

कनिंघम ने सर्वप्रथम इस मत का प्रतिपादन किया कि विक्रम-संवत् का प्रवर्तन कनिष्क ने किया था। बाद में फ्लीट[3] ने उसकी रक्षा और पुष्टि की। उन्होंने कनिष्क के राज्यारोहण की तिथि को प्रथम शती ई० पूर्व रखा और अपने तर्क उपस्थित किये कि कनिष्क जैसे सम्राट् ने, जो राजनीति और धर्म में समान रूप से महान् था, एक संवत् का आरम्भ किया, जिसे व्यापक रूप से लोगों ने स्वीकार कर लिया। यह मत निम्नलिखित तथ्यों को दृष्टि में रखते हुए स्वीकार नहीं किया जा सकता :

---

१. इण्डि० एण्टि० भाग १९,२०–१८९२, पृ० ४०३–४।

२. इ० ए० भाग ३०,४।

३. जे० आर० ए० एस० १९११, पृ० ६३७, ९९४ और आगे।

(१) पंजाब तथा पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त में प्राप्त पुरातत्त्वीय प्रमाण—दोनों अभिलेखात्मक और मुद्राशास्त्रीय—इस बात को सिद्ध करते हैं कि कनिष्क वर्ग के राजाओं को कैडफाइसिस वर्ग के राजाओं के पूर्व नहीं रखा जा सकता। अतः कनिष्क का राज्यारोहण भी प्रथम शती ई० पू० में नहीं रखा जा सकता।[१] अब विद्वान् कनिष्क को प्रथम शताब्दी ई० के उत्तरार्ध अथवा द्वितीय शती के पूर्वार्द्ध में रखते हैं। इन परिस्थितियों के कारण इस मत का आधार ही उच्छिन्न हो जाता है। अतएव कनिष्क विक्रम संवत् का प्रवर्तक नहीं माना जा सकता।[२]

(२) यह सतर्क दिखाया जा चुका है कि कुषणों द्वारा प्रयुक्त संवत् सप्तर्षि-संवत् है जो शत और सहस्र के लिए प्रयुक्त होनेवाले अंकों रहित पंजाब और काश्मीर में पहले से ही प्रचलित था।

(३) यदि द्वितीय आपत्ति में संदेह भी किया जाय तो भी यह पाया गया है कि कनिष्क संवत् राजवंशिक संवत् था जो कुषण-शासन के पश्चात् जीवित न रह सका।[३]

(४) कुषण-संवत् भारत के कोने में एक विदेशी राजवंश के द्वारा प्रवर्तित था और सम्पूर्ण देश में व्याप्त होकर आदर न पा सका।

(५) विक्रम-संवत् में अंकित तिथि में लगभग सभी लेख दक्षिणी-पूर्वी राजपूताना तथा मध्यभारत में ही पाये गये हैं। जहाँ पर कनिष्क का राज्य नहीं था। इसका उत्तर नहीं दिया जा सकता कि कनिष्क-संवत् अपने मूल स्थान को छोड़कर इन भागों में क्यों खिसक आया।

(६) कनिष्क सम्पूर्ण भारत का शासक नहीं था तथा वह भारत की केन्द्रित जीवन-धारा से सम्बन्धित भी नहीं था। केवल राजनीति, जो क्षणिक भी होती है, किसी संवत् को लोकप्रिय तथा व्यापक नहीं बना पाती।

---

१. देखिये मार्शल, जे० आर० ए० एस०, १९१४ पृ० ९७३ और आगे; १९१५ पृ० १९१ और आगे।

२. इस विषय पर एक परिसंवाद (सिम्पोनियम) किया गया था। फ्लीट के मत का समर्थन, केनेडी, बारनेट, तथा लांगवर्थ डेनीज ने किया तथा विरोध वि० ए० स्मिथ, बेडेल, और थामस ने किया था। देखिये जे० आर० ए० एस० १९१३ पृ० ९११ और आगे।

३. जे० आर० ए० एस० १९१४ पृ० ९७३ और आगे।

४. मार्शल का सिद्धान्त

सर जान मार्शल ने जिस मत का प्रतिपादन किया उसके अनुसार ५७–५८ ई० पू० में प्रारम्भ होने वाले संवत् को गांधार के शक राजा प्रथम अज ने प्रवर्तित किया था। केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ् इण्डिया, भाग १ में रैप्सन ने इस मत की पुष्टि की है। मार्शल का मत उनके द्वारा खोजे हुए तक्षशिला ताम्रपत्र-अभिलेख पर आधारित है। इस अभिलेख में अंक १३६ के बाद 'अयस' शब्द आता है। इसकी व्याख्या 'अज के १३६ वें वर्ष में' की गयी है। शक राजा प्रथम अज के प्रथम शताब्दी के ई० पू० में मानकर, इस संवत् का प्रवर्तकत्व उसी को दिया गया है। दुर्भाग्यवश 'अयस' शब्द का पाठ तथा व्याख्या सन्देहपूर्ण है। डा० दत्तात्रेय रामकृष्ण भाण्डारकर के अनुसार 'अयस' शब्द आद्यस्य का प्राकृतरूप है, उस वर्ष दो आषाढ़ के महीने थे। यहाँ प्रथम आषाढ़ का उल्लेख किया गया है।[1] इस प्रकार सन्देहास्पद प्रमाण के आधार पर किसी मत का निर्माण करना सन्दिग्ध है। इसके अतिरिक्त बहुत सी आपत्तियाँ हैं जो प्रथम अज के विक्रम संवत् के प्रवर्तकत्व में बाधा डालती हैं:

(१) पञ्जाब में प्राप्त प्रथम अज के सिक्कों पर अभिलेख है 'महरजस रजरजस महतस अयस' किन्तु कोई भी तिथि नहीं दी गई है। तक्षशिला ताम्रपत्र पर जिसमें स्थान की कमी नहीं है ये उपाधियाँ अयस के पूर्व जोड़ी हुई नहीं पाई जातीं। यह तथ्य अयस और प्रथम अज के समीकरण को सन्दिग्ध बना देता है।

(२) अन्य ऐसा कोई भी लेख नहीं पाया गया जिसे उसका (अज का) कहा जा सके।

(३) पञ्जाब में प्राप्त अन्य कोई भी लेख नहीं है जिसमें ५७ ई० पू० में संस्थापित संवत् का उल्लेख हो।

(४) अज की महानता और कृतियों की कोई भी लोकप्रिय-परम्परा नहीं है।

(५) भारतीय परम्पराओं के अनुसार विक्रम-संवत् का संस्थापन मालवा में हुआ, पञ्जाब में नहीं।

(६) भारत में युगों से प्राचीन परम्परा है कि संवत् का प्रवर्तक शकारि (शकों का शत्रु) था, वह स्वयं शक नहीं था।

---

१. इपि० इण्डि० भाग; स्टेन कोनो, इपि० इण्डि० भाग १६।

५. गोपाल अय्यर का सिद्धान्त

अय्यर महोदय ने अपने ग्रन्थ 'क्रॉनॉलॉजी ऑफ् एन्श्येण्ट इण्डिया' में इस मत का प्रतिपादन किया है कि विक्रम-संवत् का प्रवर्तक उज्जयिनी का महाक्षत्रप चष्टन था। वे लिखते हैं कि 'यह संवत् विश्वस्त रूप से मालव संवत् है जैसा कि मन्दसोर के अभिलेख में, जिसमें तिथि-गणना मालव जाति के सङ्गठन के समय से की गई है, (मालवानां गणस्थित्या'''फ्लीट, गुप्त-अभिलेख पृ० ७९), यह स्पष्ट कहा गया है। यह संवत् कुषण-राजवंश द्वारा, कुछ कारणोंवश, जिनको मैंने कनिष्क के तिथिविषयक लेख में पहले ही स्पष्ट कर दिया है, स्थापित नहीं किया जा सकता था। इसके अतिरिक्त यह भी सिद्ध नहीं हुआ कि कनिष्क का शासन मथुरा और बनारस से आगे भी था। चष्टन-वंश को छोड़कर कोई भी दीर्घजीवी राजवंश इतिहास में ज्ञात नहीं है, जिसने मालवा पर शासन किया हो। जब हम इन तथ्यों को रुद्रदामन् के गिरनार अभिलेख से देखते हैं, जिसमें इस आशय की पंक्तियाँ हैं—सभी वर्ग के लोग उसके पास रक्षार्थ आये और उससे अधिपति बनने की प्रार्थना की–सम्बन्धित करके देखते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि मालवा तथा गुजरात की स्वतन्त्र जातियों ने ठीक उसी प्रकार उसे राजा चुना जिस प्रकार उन्होंने उसके पिता जयदामन् तथा पितामह चष्टन को चुना था। यह तो स्पष्ट तथा पूर्णतया ज्ञात है कि पश्चिम की ये जातियाँ पहले स्वशासन के लिए प्रसिद्ध थीं क्योंकि प्राचीन ग्रन्थ ऐतरेय ब्राह्मण के वर्णन का बहुत महत्त्व है जिसमें यह कहा गया है कि 'पश्चिम के सभी देशों में स्वशासन (स्वराज्य) है तथा राजाओं को स्वराट् कहा जाता है। मालवा की इन स्वतन्त्र जातियों ने सङ्घशक्ति को पहिचान कर और आवश्यकतावश एक गण बनाकर, (क्योंकि ऐसा जान पड़ता है कि चष्टन ने उन्हें पराजित कर दिया था) सङ्घटित हुए तथा उसे अपना राजा चुना था। एक महान् शासक के नेतृत्व में एकच्छत्र शासन में मालव-जनों के सङ्गठित होने की प्रमुख घटना का—५७ ई० पू० में संवत् संस्थापन से—समारोह हुआ। चूँकि चष्टन ने और रुद्रदामन् ने उज्जयिनी से अन्य बहुत से समीपवर्ती देशों का शासन किया था, विन्ध्य के उत्तर में मालव संवत् को स्वीकार कर लिया गया।'

अय्यर महोदय का मत कई अनुमानों पर आधारित है और मुश्किल से स्वीकार करने योग्य है। इसमें सन्निहित अनुमानों को निम्नरूप में दिया जा सकता है :

(१) प्रथम अनुमान रुद्रदामन् के गिरनार अभिलेख में उल्लिखित संवत् के बारे में है। अय्यर महोदय इसे विक्रम संवत् बताते हैं तथा रुद्रदामन् की तिथि (७२-५७) १५ ई० निश्चित करते हैं। रुद्रदामन् की यह तिथि अन्य विश्वसनीय प्रमाणों पर आधारित तथ्यों से मेल नहीं खाती। गिरनार तथा कन्हेरी अभिलेखों को दृष्टि में रखते हुए अधिकांश विद्वानों ने यह स्थापना की है कि रुद्रदामन् आन्ध्रवंश के एक राजा वाशिष्ठी-पुत्र पुलुमावी (जिसे हम प्रथम शती ई० के प्रारम्भ में ही रख सकते) का समकालीन तथा श्वसुर था। अधिकांश विद्वानों ने गिरनार-अभिलेख की तिथि ७८ ई० में प्रवर्तित शक संवत् निर्धारित की है। इस आधार पर रुद्रदामन् की तिथि (७८ + ७२ =) १५० ई० तथा उसके पितामह की लगभग १०० ई० निश्चित की गयी है। इन सुसंस्थापित तथ्यों को दृष्टि में रखकर चष्टन को ५७ ई० पूर्व में प्रारम्भ होने वाले संवत् का प्रवर्तक नहीं माना जा सकता।

(२) अय्यर महोदय स्वीकार करते हैं कि विक्रम-संवत् आवश्यकरूप से मालव-संवत् ही है किन्तु वे अनुमान करते हैं कि मालव जातियाँ चष्टन के नेतृत्व में—जिसने उन्हें पहले ही पराजित किया था—संगठित हो गईं। यह विश्वास करना विचित्र और असंभव लगता है कि विदेशी विजेता ने पराजित जातियों को उनके पराजय के तुरन्त पश्चात् गण में संगठित होने की आज्ञा दे दी। यह चष्टन के सम्पूर्ण राजनीतिक चातुर्य के विपरीत था। अब यह सोचना भी व्यर्थ है कि इन जातियों को अपने शक अधिपति की अधीनता पर गर्व था तथा इस घटना की स्मृति में उन्होंने संवत् की स्थापना की।

(३) रुद्रदामन् तथा चष्टन की लोकप्रियता केवल राजनीतिक चाल है। प्रत्येक विदेशी अपने शासन की उत्कृष्टता की घोषणा जनता में करता है कि जनता ने स्वयं इसके (शासन के) लिए प्रार्थना की है तथा उसकी यह आवश्यकता है। तीसरी पीढ़ी में रुद्रदामन् की लोकप्रियता संभव हो सकती है किन्तु देश में प्रथम विदेशी आक्रान्ता शासक चष्टन के सम्बन्ध में यह बिल्कुल असम्भव है।

(४) अज ही की भाँति चष्टन भी शक राजा था। सभी भारतीय अनुश्रुतियाँ एक मत हैं कि विक्रम संवत् का प्रवर्तक शकारि (शकों का शत्रु) था, स्वयं शक नहीं। अतः कोई भी शक विक्रमादित्य उपाधि का दावा नहीं कर सकता जिसमें विदेशियों के निष्कासन का भाव निहित है।

६. जायसवाल का सिद्धान्त

डा० जायसवाल के मत में लोकप्रिय कहानियों और जैन अनुश्रुतियों का विक्रमादित्य गौतमीपुत्र शातकर्णि था[1] इन अनुश्रुतियों में केन्द्रीय वस्तु शकों का पराजय है। उनके अनुसार प्रथम शती ई० पू० में शकों के विरुद्ध दो महत्त्वपूर्ण भारतीय सफलतायें हैं—(अ) आन्ध्र राजा गौतमीपुत्र शातकर्णि द्वारा नहपाण का पराजय और (आ) मालवों द्वारा शकों का पराजय। गौतमीपुत्र तथा मालवा की सम्मिलित शक्तियों ने शकों को करारी हार दी। इस महत्त्वपूर्ण तथा अनोखी विजय में गौतमीपुत्र शातकर्णि ने नेतृत्व किया था। अतएव वही वस्तुतः शकारि विक्रमादित्य था। मालवों ने भी इस गौरव में भाग लिया तथा इस घटना की स्मृति को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए उन्होंने 'मालवगणस्थितिकाल' अथवा मालव संवत् की स्थापना की। किन्तु, चूँकि इस विजय का नायक गौतमीपुत्र शातकर्णि (विक्रमादित्य) था उसका विरुद 'विक्रमादित्य' संवत् से संबन्धित हो गया।

जायसवाल के मत में कई गम्भीर त्रुटियाँ हैं जो इसे अमान्य बना देती हैं:

(१) नहपाण की तिथि तथा उसकी राष्ट्रीयता अब तक निश्चित नहीं है। किन्तु इतना निश्चित है कि गौतमीपुत्र शातकर्णि को प्रथम शती ई० पू० में नहीं रखा जा सकता। प्राचीन भारत के सर्वाधिक सन्तोषप्रद तिथि-क्रमिक-दृष्टिकोण के अनुसार कण्ववंश का पतन २८ ई० पू० में हुआ, तत्पश्चात् साम्राज्यवादी आन्ध्रवंश ने पूर्वराजवंश का स्थान लिया। मत्स्यपुराण की आन्ध्र राजाओं की तालिका में गौतमीपुत्र की संख्या तेइसवीं है। अतः कल्पना की किसी भी उड़ान में उसे प्रथम शती ई० पू० में—जिस समय विक्रम-संवत् का प्रवर्तन हुआ—नहीं रखा जा सकता। इसके अतिरिक्त इस वंश का सत्रहवाँ राजा हाल 'गाथासप्तशती' में विक्रमादित्य तथा उसकी उदारता का उल्लेख करता है। अतः यह विक्रमादित्य गौतमीपुत्र नहीं हो सकता जो वंशावली में हाल के बाद आता है।

(२) न तो पुराण और न आन्ध्रराजवंश के अभिलेख इस बात का उल्लेख करते हैं कि—गौतमीपुत्र या इस वंश के अन्य किसी राजा ने विक्रमादित्य की उपाधि ग्रहण की थी।

(३) आन्ध्र राजाओं ने विक्रम-संवत् या अन्य किसी आनुक्रमिक-संवत्

१, जे० बी० ओ० आर० एस० भाग० १६, १९३० पृ० २२६-३१३।

का प्रयोग नहीं किया, बल्कि उनके लेखों में तिथि-अंकन उनके राज्यारोहण के वर्षों में हुआ है।

(४) मालव प्रथम शती ई० पू० में गौतमीपुत्र शातकर्णि के समकालीन नहीं थे। अतः वे शकों पर होनेवाले गौतमीपुत्र के विजय में भाग नहीं ले सकते थे। गौतमी बलश्री के नासिक अभिलेख से ज्ञात होता है कि गौतमीपुत्र ने बाद में दो बार मालवों को पराजित किया था।

(५) भारतीय अनुश्रुतियों के अनुसार विक्रमादित्य उज्जयिनी के शासक थे जब कि गौतमीपुत्र प्रतिष्ठान का शासक था।

(६) कुछ जैन ग्रंथों में शालिवाहन (शातवाहन = आन्ध्र) का विक्रमादित्य के प्रतिद्वन्द्वी तथा शत्रु के रूप में वर्णन किया गया है।[१]

७. भाण्डारकर का सिद्धान्त

अब तक प्रतिपादित सभी सिद्धान्तों में सबसे गम्भीर सिद्धान्त वह है जो विक्रमादित्य का समीकरण चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य से करता है, जिसने लगभग ३७५ ई० से लेकर ४१३ ई० तक पाटलिपुत्र में राज्य किया था। सर्व-प्रथम इस मत का प्रतिपादन डा० दत्तात्रेय रामकृष्ण भाण्डारकर[२] ने किया था। बाद में वि० ए० स्मिथ[३], बेरीडल कीथ[४] तथा भारतीय इतिहास के एक वर्ग ने इसे स्वीकार किया। कुछ विद्वान् भाण्डारकर से कुछ भिन्न मत का प्रतिपादन करते हैं और विक्रमादित्य का समीकरण गुप्तवंशी समुद्रगुप्त या स्कन्दगुप्त से बताते हैं किन्तु सभी तर्कों का प्रमुख आधार भाण्डारकर द्वारा दिये गये तर्क ही हैं जिनका अनुगमन इन विद्वानों ने किया है।

डा० भाण्डारकर के मत का प्रथम भाग ध्वंसात्मक[५] है। चिन्तामणि विनायक वैद्य (इण्डियन रिव्यू, दिसम्बर, १९०९) तथा हरप्रसाद शास्त्री (एपि० इण्डि० १२ पृ० ३२०) के हालकृत गाथा-सप्तशती में विक्रमादित्य के उल्लेख पर आधारित मतों का खण्डन कर चुकने की कल्पना करके उन्होंने सोचा कि वे ५७ ई० पूर्व में विक्रमादित्य के अस्तित्व के खण्डन कर सकने में और

१. पुरातन प्रबन्ध-संग्रह।
२. जे० बी० बी० आर० ए० एस०, २०, १९०० पृ० ३९८।
३. अर्ली हिस्ट्री ऑफ् इण्डिया. तृतीय संस्करण १९१४ पृ० २९० और आगे।
४. जे० आर० ए० एस० १९०९ पृ० ४३३।
५. भाण्डारकर कमेमोरेशन अंक पृ० १८७ और आगे।

उसे गल्पों के संसार में भेज देने में सफल हुए हैं। किन्तु विद्वान् लेखक ने विक्रमादित्य की समस्या की अन्वेषणयोग्य प्रचुर सामग्री पर तनिक भी ध्यान नहीं दिया। प्रथम अध्याय में यह दिखाया जा चुका है कि डा० भाण्डारकर द्वारा गाथासप्तशती के विरुद्ध उठाई गई आपत्तियाँ कितनी त्रुटिपूर्ण और असन्तोषप्रद हैं[1]।

डा० भाण्डारकर के मत का रचनात्मक भाग विक्रमादित्य-विषयक अनुश्रुतियों और गुप्तों के वैभवशाली इतिहास की समता पर आधारित है। उनके मत की पुष्टि में दिये गये तर्क लगभग वे ही हैं जो उनके समर्थकों के हैं। इस वर्ग के विद्वानों की यहाँ अलग-अलग विवेचना करना उपादेय नहीं होगा। उनका समवेत समीक्षण ही ठीक होगा। उनके तर्क नीचे दिये जाते हैं :

(१) प्राचीनतम ऐतिहासिक विक्रमादित्य (जिसकी प्राचीनता अभिलेखात्मक व मुद्राशास्त्रीय प्रमाणों से सिद्ध हो चुकी है) प्रसिद्ध गुप्तवंश का द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य है।

(२) चन्द्रगुप्त ने पश्चिम तथा उत्तर-पश्चिम भारत का विजय किया था तथा शकों को देश से निष्कासित किया था जो उनकी उपाधि 'शकारि' की पुष्टि करता है।

(३) द्वितीय चन्द्रगुप्त ने विक्रमादित्य की उपाधि धारण की थी।

(४) क्योंकि चन्द्रगुप्त ने मालवा का विजय किया था अतः उनका नाम मालवा संवत् से संबंधित कर दिया गया जिसका संस्थापन ५७ ई० पू० में हुआ था।

(५) द्वितीय चन्द्रगुप्त की दूसरी राजधानी उज्जयिनी थी जिसको उसने शकों से जीता था।

(६) गुप्तकाल का वैभव कालिदास के ग्रंथों में प्रतिबिम्बित है जो चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के सभाकवि थे।

हम इन तर्कों को एक-एक करके लेंगे और देखेंगे कि वे कहाँ तक चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य को भारतीय अनुश्रुतियों के विक्रमादित्य से समीकृत करने की क्षमता रखते हैं।

---

१. पीछे देखिये पृ० १२।

(१) केवल इस आधार पर कि द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने अभिलेखात्मक और मुद्राशास्त्रीय प्रमाण छोड़ रखा है, उसे सबसे प्राचीन विक्रमादित्य नहीं कहा जा सकता। एक व्यक्ति के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए साहित्यिक प्रमाण भी समानरूप से महत्त्वपूर्ण हैं तथा मूल विक्रमादित्य अपने पीछे प्रचुर मात्रा में साहित्यिक परम्परा छोड़ गये हैं। (प्राग् अशोकीय) भारतीय इतिहास के बहुत से महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों ने कोई अभिलेखात्मक तथा मुद्राशास्त्रीय प्रमाण नहीं छोड़े हैं, उनके बारे में हमें साहित्यिक प्रमाणों से ही ज्ञात होता है किन्तु उनकी ऐतिहासिकता में सन्देह नहीं किया जा सकता। तब विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता मतभेद का विषय क्यों बना दी जाय ? केवल इस आधार पर कि उनकी रचना बहुत बाद में हुई, साहित्यिक अनुश्रुतियों की प्रामाणिकता पर संदेह नहीं किया जा सकता। अतः निस्सन्देह अभिलेखात्मक तथा मुद्राशास्त्रीय प्रमाण चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के अस्तित्व की पुष्टि करते हैं किन्तु वे ५७ ई० पू० के विक्रमादित्य के अस्तित्व का निषेध नहीं कर सकते, जिसकी सूचना अन्य स्रोतों से भी मिलती है।

(२) द्वितीय चन्द्रगुप्त का शकों पर विजय चतुर्थ शती ई० के अन्तिम चरण में शकों की अन्तिम पराजय की ओर संकेत करता है। किन्तु इसके बहुत पूर्व ५७ ई० पू० में भारतीय अनुश्रुतियों के अनुसार, जिसकी पुष्टि शकों के इतिहास से भी होती है, शकों का पराजय विक्रमादित्य के नेतृत्व में गणसंघ द्वारा हुआ था, जिसके परिणामस्वरूप भारतवर्ष ने (५७ + ७८) १३५ वर्ष तक, जब तक शकों का द्वितीय आक्रमण न हो गया, उसी प्रकार शान्ति का उपभोग किया था जिस प्रकार उसने शकों के अन्तिम पराजय के बाद से लेकर हूणों के आक्रमण के समय तक किया था। अतः द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य भी उन्हीं कारणों से 'शकारि' कहला सकता है जिन कारणों से प्रथम शती ई० पू० विक्रमादित्य कहलाता था।

(३) विक्रमादित्य उज्जयिनी के शासक का व्यक्तिगत नाम था। उसकी उपाधियाँ अथवा विरुद 'विषमशील', 'साहसांक' तथा 'शकारि' थीं। द्वितीय चन्द्रगुप्त तथा अन्य गुप्त राजाओं (समुद्रगुप्त और स्कन्दगुप्त) ने विक्रमादित्य की उपाधि धारण की थी, यह उनका व्यक्तिगत नाम नहीं था। चतुर्थ शती ई० में विक्रमादित्य उपाधि की कल्पना ही इससे प्राचीन काल में विक्रमादित्य नाम की सूचना देती है जिसने बाद के राजाओं के अनुगमन करने के लिए एक आदर्श उपस्थित किया। हमें युरोपीय इतिहास में भी समानान्तर दृष्टान्त

प्राप्त होते हैं। प्रारम्भ के व्यक्तिगत नाम—सीज़र, एलेग्जेण्डर, नैपोलियन, कैसर आदि परवर्ती राजाओं द्वारा उपाधि के रूप में ग्रहण किये जाते थे। गुप्तों तथा अन्य परवर्ती भारतीय राजाओं के आदर्श मालवगणतन्त्र के नायक विक्रमादित्य ही थे जो प्रथम शती ई० पू० में विद्यमान थे।

(४) गुप्त राजाओं का अपना एक संवत् था जिसकी स्थापना ३१९-२० ई० में प्रथम चन्द्रगुप्त द्वारा हुई थी। उनके सभी राजकीय लेखों में हम गुप्त संवत् का ही उल्लेख पाते हैं। स्वयं द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के लेख जो मध्य-भारत में प्राप्त हुए हैं, गुप्त संवत् में है। स्कन्दगुप्त के गिरनार-अभिलेख की तिथि गु० सं० १३८ है। जब गुप्त-शक्ति का ह्रास होने लगा तथा अन्ततोगत्वा मालवा से उसका अन्त हो गया तब वहाँ स्वयं मालव संवत् का साधिकार प्रयोग विना द्वितीय चन्द्रगुप्त के नाम से संबन्धित किये ही होने लगा। एक मन्दसोर का अभिलेख[1] कुमारगुप्त[2] के शासन काल में एक मन्दिर-निर्माण का उल्लेख करता है। किन्तु घटना की तिथि मालव संवत् ४९३[3] है। उसी मन्दिर के पुनरुद्धार की तिथि मालव संवत् ५२९[4] है। मालवा में गुप्तशासन के तुरन्त पश्चात् ही यशोधर्मन् के मन्दसोर अभिलेख में मालव-संवत् ५८९[5] है। यह तथ्य उस कल्पना के पंख तोड़ देता है जिसमें द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य को मालव संवत् से संबन्धित बताया जाता है। कोटाराज्य में उपलब्ध शिवगण के कनस्वा अभिलेख की तिथि मालवेशों का संवत् ७९५ है[6] तथा ग्वालियर राज्य में उपलब्ध ग्यारसपुर अभिलेख की तिथि ९३६ मालवकाल[7] है। जब गुप्त राजाओं का स्वयं अपना संवत् था, उन्होंने अपने अभिलेखों में मालव-संवत् का प्रयोग नहीं किया और मालवा में उनके पतन के तुरन्त पश्चात् वहाँ मालव-संवत् का ही प्रयोग होने लगा था तथा मालव-संवत् गुप्त साम्राज्य के बाद भी समीपवर्ती स्थानों में जीवित रहा, तो यह कल्पना के बाहर की वस्तु

---

१. फ्लीट : गुप्त अभिलेख संख्या १८।

२. 'कुमारगुप्ते पृथिवीं प्रशासति' वही।

३. मालवानां गणस्थित्या याते शतचतुष्टये।
त्रिनवत्यधिकेऽब्दानामृतौ सेव्यघनस्तने॥ वही।

४. वही।

५. फ्लीट, गुप्त अभिलेख, संख्या ३३।

६. इ० ऐ० भाग १९ पृ. ५९।

७. आर्क्या० सर्वे० रि० भाग १०, फलक २।

हो जाती है कि द्वितीय चन्द्रगुप्त अथवा किसी अन्य गुप्त राजा की विक्रमादित्य उपाधि कैसे मालव संवत् से संबन्धित हो सकी ?

(५) सभी भारतीय अनुश्रुतियों के अनुसार विक्रमादित्य की शक्ति का केन्द्र उज्जयिनी ही था। गुप्त सम्राट् पाटलिपुत्र के शासक थे; अधिक से अधिक उज्जयिनी उनकी प्रादेशिक राजधानी थी जहाँ उपराज अथवा राज्यपाल शासन करते थे। किन्तु इन कारणों से ही वे उज्जयिनी अथवा अवन्ती के अधिपति नहीं कहे जा सकते। मुगल सम्राटों ने भी अपनी प्रादेशिक राजधानी तथा अल्पकालीन वासस्थान आगरा, लाहौर, अजमेर तथा श्रीनगर को बनाया था किन्तु उन्हें 'दिल्ली का बादशाह' कहा जाता था, प्रान्तीय राजधानियों का नहीं।

(६) युग का वैभव जो कालिदास के ग्रंथों में प्रतिबिम्बित हुआ है गुप्त युग का ही आवश्यक रूप से नहीं हो सकता। निस्सन्देह कालिदास विक्रमादित्य के समकालीन थे किन्तु उनके विक्रमादित्य भारतीय अनुश्रुतियों के अनुसार ५७ ई० पू० में विक्रम संवत् के प्रवर्तक थे तथा उन्होंने उज्जयिनी में, न कि पाटलिपुत्र में शासन किया था। कालिदास को गुप्त युग में घसीट लाकर और उन्हें गुप्त-सम्राटों के वैभवशाली शासन से आच्छादित चतुर्थ और पञ्चम शती ई० में विक्रमादित्य के अस्तित्व का प्रमाण बनाकर भारतीय परम्पराओं के प्रति बहुत बड़ा अन्याय किया गया है। कालिदास को गुप्तकाल में रखने वाले मत के तर्कों की परीक्षा यहाँ असंगत न होगी :

१. संस्कृत साहित्य का पुनर्जागरण-काल

मैक्समूलर ने छठी शती[1] ई० में संस्कृत साहित्य की पुनर्जागृति का सिद्धान्त प्रचलित किया था। उनके अनुसार भारत चतुर्थ शती ई० पू० से तृतीय शती ई० तक विदेशी शासन में रहा। बौद्ध धर्म का देश में बोलबाला था, जिसके द्वारा ब्राह्मण धर्म और साहित्य को दबा दिया गया था तथा संस्कृत साहित्य के स्वतन्त्र एवं पूर्ण विकास के लिए कोई चारा नहीं था। अतः कालिदास की अद्भुत काव्य-सर्जना इस काल में नहीं हुई होगी। अतः महाकवि अवश्य ही साहित्य के इस बन्ध्या-युग के पश्चात् ही हुये होंगे। गुप्त-सम्राटों के शासन-काल में ही ब्राह्मण धर्म तथा साहित्य ने पुनर्जीवन प्राप्त किया। अतः इन कारणों से कालिदास तथा उनके पोषक विक्रमादित्य इसी काल के हैं। वे विद्वान् भी, जो मैक्समूलर के इस पुनर्जागरण सिद्धान्त से

१. इण्डिया ह्वाट कैन इट टीच अस ? (१८८३) पृ. २८१ और आगे।

सहमत नहीं हैं, यह स्वीकार करते हैं कि गुप्तकाल में संस्कृत साहित्य को पुनर्जीवन मिला तथा कालिदास इसी युग के थे और उनके पोषक विक्रमादित्य भी इसी युग में हुए[1]।

२. अश्वघोष से कालिदास का परवर्तित्व

अश्वघोष के 'बुद्धचरित'[2] का कालिदासकृत रघुवंश से बहुत निकट साम्य है। दोनों ग्रन्थ महाकाव्य हैं। तुलना के बाद इस बात की स्थापना की गई कि साहित्यिक गुणों में बुद्धचरित रघुवंश से हीन है। अतः यह कल्पना की जाती है कि अश्वघोष उस काल के हैं जिस समय संस्कृत काव्य-शैली अपने शैशव में थी तथा कालिदास ने बाद में आकर उनका अनुकरण किया और उनके आदर्श को विकसित किया। बौद्ध अनुश्रुतियों के अनुसार अश्वघोष कनिष्क के समकालीन थे जिसकी तिथि या तो प्रथम शती ई० का उत्तरार्ध या द्वितीय शती का पूर्वार्द्ध निश्चित की जाती है। कालिदास, जिन्होंने उनकी शैली[3] का अनुगमन किया अवश्य ही कुछ बाद में, कम से कम कुछ शतियों पीछे हुए होंगे।

३. हूणों का उल्लेख

रघु के दिग्विजय के संबन्ध में कालिदास ने हूणों का उल्लेख किया है। कहा जाता है हूणों ने प्रथम बार पंचम शती के उत्तरार्द्ध में भारत पर आक्रमण किया जब कि उन्हें स्कन्दगुप्त ने मार भगाया था। इस घटना के पश्चात् ही भारतवासी हूणों से अभिज्ञ हो सके। अतः कालिदास को ४५० ई० सन् के पश्चात् ही होना चाहिये।

४. ज्यौतिष-सम्बन्धी प्रमाण

अनेक भारत-पुरोविदों का अनुमान है कि कुषण-काल में ही भारत यूनान और रोम के पाश्चात्य जगत् के सम्पर्क में आ गया था और इसी काल में उसने यूनान तथा रोम से ज्यौतिष विज्ञान के सिद्धान्त ग्रहण किये। कालिदास के ग्रन्थों में ज्यौतिष-सम्बन्धी ज्ञान पाया

---

१. दासगुप्त तथा डे : हिस्ट्री आफ् संस्कृत लिटरेचर।

२. ई. बी. कावेल : इण्ट्रोडक्शन टु दि बुद्धचरित आफ् अश्वघोष।

३. डा. भाउदाजी के साहित्यिक अवशेष पृ. ४१; पाठक : इण्ट्रोडक्शन टु दि मेघदूत, पृ. ७ और आगे।

जाता है अतः वह भारतीय इतिहास के कुषणकाल के पश्चात् हुआ था और उसके लिए केवल गुप्तकाल ही उपयुक्त काल है[1]।

५. राजनीतिक प्रमाण

कालिदास अपने रघुवंश में रघु की विजय का विस्तृत वर्णन करते हैं जिसमें सम्पूर्ण भारत, सिन्धु के उस पार के फारस के प्रदेश तथा मध्य एशिया भी निहित हैं। इसके अतिरिक्त उनके ग्रन्थों में शान्त तथा वैभवयुक्त राजनीतिक दशा का प्रतिबिम्ब मिलता है। यह स्थापित किया जा चुका है कि कालिदास के ग्रंथों में खींचा हुआ राजनीतिक चित्र समुद्रगुप्त तथा द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की विस्तृत विजयों तथा गुप्त-सम्राटों के शान्ति तथा समृद्धियुक्त शासनों पर आधारित है।

६. कालिदास और विक्रमादित्य की समकालीनता

कालिदास की रचना कहे जाने वाले ज्यौतिष-शास्त्रीय ग्रंथ ज्योतिर्विदाभरण में कहा गया है कि विक्रमादित्य की राजसभा नवरत्नों से अलंकृत थी, जिनके[2] नाम ये हैं—धन्वन्तरि, क्षपणक, अमरसिंह, शङ्कु, वेतालभट्ट, घटखर्पर, कालिदास, वराहमिहिर तथा वररुचि। एक स्वतन्त्र स्रोत 'खण्डनखण्डखाद्य' की 'आमराजटीका' से ज्ञात होता है कि वराहमिहिर का देहावसान शक संवत्[3] ५०९ में हुआ था। वराहमिहिर के समकालीन होने के नाते कालिदास भी छठी शती ई० में रहे होंगे।

७. दिङ्नाग का उल्लेख

मेघदूत में कालिदास निचुल तथा दिङ्नाग का उल्लेख करते हैं[4]। विद्वान् टीकाकार मल्लिनाथ ने, इस पर टीका करते हुए यह मत प्रकट किया है कि निचुल कालिदास के प्रशंसक व मित्र तथा दिङ्नाग (एक बौद्ध भिक्षु तथा लेखक) उनके प्रतिद्वन्द्वी एवं निन्दक थे और उन पर आक्षेप किया करते थे।

---

१. जेकोबी : जेड. डी. एम. डी. ३०, ३०२ और आगे।

२. धन्वन्तरिक्षपणकामरसिंहशङ्कुवेतालभट्टघटखर्परकालिदासाः।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य॥

३. नवाधिकपञ्चशतसंख्यशाके (५०९) वराहमिहिराचार्यो दिवंगतः।

४. स्थानादस्मात्सरसनिचुलादुत्पतोदङ्मुखः खं, दिङ्नागानां पथि परिहरन्स्थूलहस्तावलेपान्॥ पूर्वमेघ १४।

दिङ्नागकृत प्रमाणसमुच्चय की धर्मकृति टीका के आधार पर दिङ्नाग की तिथि पाँचवीं अथवा छठी शती ई० निश्चित की गई है। अतः कालिदास को भी इसी काल में रखना चाहिये।

भारतीय इतिहास के गुप्तकाल में (चौथी शती ई० से छठी शती ई०) कालिदास की तिथि रखने वाले सिद्धान्तों का संक्षेप में नीचे परीक्षण किया जाता है :

(१) यह कल्पना कि भारतीय इतिहास के तथाकथित बौद्धकाल में, जिसमें बौद्धधर्म और विदेशी आक्रमण तथा शासन का बोलबाला था, संस्कृत साहित्य तथा काव्य पूर्णरूप से विकसित न हो सका, प्रामाणिक नहीं है। ब्राह्मण धर्म या साहित्य न तो बौद्ध धर्म के उत्थान से ग्रसित हुआ और न विदेशी आक्रमणों से। बौद्ध लेखकों को संस्कृत में अपने ग्रंथों को लिखने के लिए बाध्य होना पड़ा तथा कई विदेशियों ने ब्राह्मण धर्म तथा साहित्य स्वीकार किया। इसी काल में सूत्र-साहित्य के अधिकांश भाग की रचना हुई। द्वितीय शती ई० पू० शुंग शासनकाल में पतञ्जलि ने अष्टाध्यायी पर महाभाष्य लिखा तथा मनुस्मृति की रचना हुई।[1] रामायण तथा महाभारत के कई भाग रचे गये। महाभाष्य में बहुत से अवतरण उद्धृत किये गये हैं जिनकी शैली, भाषा तथा छन्द सभी काव्यशैली के हैं।[2] रुद्रदामन् का जूनागढ़ अभिलेख (द्वितीय शती ई०) काव्य शैली के संस्कृत गद्य में लिखा गया है तथा उसमें वैदर्भी[3] रीति के सभी अच्छे गुण हैं। गद्य में काव्यात्मक शैली का प्रयोग श्लोकबद्ध काव्यों के पहले होने की ओर संकेत करता है जिनका गद्य-लेखकों ने अनुसरण किया। यह भी समझा जाता है कि याज्ञवल्क्य स्मृति की रचना आन्ध्रकाल में हुई तथा सभी इसे स्वीकार करते हैं कि अश्वघोष ने बुद्धचरित की रचना कुषण-काल में की। इस प्रकार की साहित्यिक गतिविधि के काल को साहित्य पर अत्याचार का युग नहीं कह सकते। इस प्रकार काव्यशैली गुप्तकाल के बहुत पहले ही विकसित हुई और कालिदास के ग्रंथों की रचना प्रथम शती ई० पू० में असम्भव नहीं है।[4]

---

१. का० प्र० जायसवाल : मनु एण्ड याज्ञवल्क्य।

२. कीलहार्न : महाभाष्य की भूमिका।

३. ए० इ० भाग ८।

४. तुलनार्थ, डा० जी० ब्यूलर, इण्डि० एण्टि० १९१३; कीलहार्न, इण्डो० वाल्यू० १४ पृ० ३२६।

(२) यहाँ पर अपनाई गयी वाद-पद्धति बौद्ध साहित्य के विकास-पथ के विरुद्ध है। यह सुविज्ञात है कि प्रारम्भिक बौद्ध साहित्य जनता की सुविधा के लिए प्राकृत अथवा पालि में लिखा गया था। किन्तु समयानुसार बौद्ध लेखकों ने यह अनुभव किया कि संस्कृत भाषा प्राकृत की अपेक्षा अधिक सुसंस्कृत और अभिव्यक्ति का प्रभावपूर्ण माध्यम है। फलतः उन्होंने साहित्यिक संस्कृत ग्रन्थों के नमूने पर संस्कृत भाषा में लिखना प्रारम्भ कर दिया। यह प्रवृत्ति महायान के उदय के साथ अधिक प्रमुख हो गई। अश्वघोष का संस्कृत में काव्यग्रंथ की रचना करना इस बात को सिद्ध करता है कि उसके पूर्व उसके नमूने के लिए संस्कृत का काव्य ग्रंथ रहा होगा। रघुवंश तथा बुद्धचरित का निकट साम्य इस बात की ओर संकेत करता है कि रघुवंश को नमूने की भाँति उपयोग में लाया गया। यदि 'बुद्ध चरित' 'रघुवंश' से हीन है तो यह अपूर्ण अनुकरण का दोष है। कालिदास जैसे उत्कृष्ट काव्य-प्रतिभावाले व्यक्ति ने बुद्धचरित जैसे ग्रंथ को नमूना नहीं बनाया होगा। कालिदास बड़े आदर के साथ अपने पूर्ववर्ती प्रतिभाशाली कवियों का उल्लेख करते हैं, यथा, भास, कवि-पुत्र, सौमिल्ल आदि।[1] किन्तु वे अश्वघोष का उल्लेख नहीं करते। यह अनुल्लेख इस बात की ओर संकेत करता है कि कालिदास के पहले अश्वघोष का अस्तित्व नहीं था। इन विचारों के आधार पर कालिदास को अश्वघोष के बाद नहीं रखा जा सकता। वे बाद के लेखकों के सम्मुख आदर्श रखने के लिए कई शती पहले हुए होंगे।

(३) हूणों के उल्लेख का गलत अर्थ लगाया गया है। रघु के दिग्विजय के वर्णन में वे रघु के द्वारा पराजित लोगों में वर्णित हैं न कि भारत में आक्रान्ता या विजेता के रूप में। उनका स्थान भी भारत से बाहर बताया गया है। चीनी इतिहास से ज्ञात होता है कि हूणों ने तृतीय शती ई० पू० से प्रथम शती ई० के मध्य में वलख तक अपना शक्तिशाली साम्राज्य स्थापित किया था।[2] हूणों का साम्राज्य भारत की ठीक देहली पर था तथा भारतवासी हूणों से परिचित थे। यह अनुमान कर लेना कि भारतवासियों को भारत के बाहर के लोगों का तनिक भी ज्ञान नहीं था उनके भौगोलिक तथा जातीय ज्ञान के प्रति अन्याय करना है।[3] पारसीक, पह्लव, पारद, शक, हूण, कम्बोज, किरात

---

१. 'प्रथितयशसां भाससौमिल्लकविपुत्रमिश्रादीनां प्रबन्धानतिक्रम्य वर्तमानकवेः कालिदासस्य'—मालविकाग्निमित्र की भूमिका।

२. गुत्सलैफ (Gultslaff) हिस्ट्री आफ् चाइना १८३४, पृ० २२०-४९।

३. तुलनार्थ—महाभारत में भिन्न भिन्न जातियों तथा लोगों का उल्लेख।

चीनी लोगों का, जो भारत के पड़ोसी थे, भारतीयों को भली-भाँति ज्ञान था। कालिदास हूणों, पारसीकों कम्बोजों में भिन्नता भली-भाँति स्पष्ट करते हैं[1]। अतः यह निष्कर्ष निकालना पूर्णरूप से ठीक होगा कि कालिदास को हूणों का उल्लेख करते समय प्रथम शती ई० पू० मध्यएशिया की जातिगत स्थिति का ज्ञान था। अतएव उन्हें केवल इसलिये पाँचवीं तथा छठी शताब्दी में नहीं घसीटा जा सकता कि उन्हें हूणों का ज्ञान था।

(४) भारतवासियों को विदेशियों से कला तथा विज्ञान सीखने में मानसिक घृणा नहीं थी यह एक सन्देहरहित तथ्य है किन्तु ज्यौतिष-शास्त्रीय सिद्धान्त सीखने के समय को पीछे खींच लाना अनावश्यक है। तर्क उपस्थित करने वाले इस बात को भूल जाते हैं कि यूनानियों व रोमवासियों ने स्वयं ७०० ई० पूर्व में बाबुल एवं चैल्डीज़ के निवासियों से ज्यौतिष सिद्धान्त सीखा था। भारतवासियों का इन मध्यपूर्व के देशों से सीधा संपर्क भारत में ग्रीक आक्रमण (३२६ ई० पू०) से बहुत पहले से था तथा उनसे ज्यौतिष के सिद्धान्त सीखने में भारतीयों के लिए कोई बाधा नहीं थी। भारतीय तथा यूनानी ज्यौतिष के सिद्धान्तों में साम्य उनकी उत्पत्ति एक देश में होने के कारण है[2]। रामायण में, जिसकी रचना प्रथम शती ई० से पूर्व हुई थी, नक्षत्रविज्ञान का विकसित ज्ञान दिखलाई देता है।[3] कालिदास एक ज्यौतिषशास्त्रीय शब्द 'जामित्र' का उल्लेख करते हैं जिसकी समता यूनानी शब्द डायमिट्रन (Diametren) से दिखाई गई है। किन्तु कुछ विद्वानों ने यह भी मत प्रकट किया है कि इन दोनों शब्दों की स्वतन्त्र उत्पत्ति हो सकती है अथवा डायमिट्रन संस्कृत जामित्र का यूनानी रूपान्तर हो सकता है।[4] कालिदास अपने ज्यौतिषशास्त्रीय उल्लेखों के लिए आर्यभट्ट के भी ऋणी नहीं हैं क्योंकि वे यथातथ्य वैज्ञानिक सिद्धान्तों का वर्णन नहीं करते हैं, बल्कि ज्यौतिषविज्ञान की प्रचलित धारणाओं का, जिनका बाद में सिद्धान्तीकरण हुआ, उल्लेख करते हैं।

(५) राजनैतिक प्रमाणों से निकाले गये निष्कर्ष भी मनमाने हैं।

---

१. रघुवंश, ४, ६०–७०।

२. एस० बी० दीक्षित : अर्ली हिस्ट्री आफ् इण्डियन एस्ट्रॉनामी १३७-३९, मैक्समूलर इण्डिया—ह्वाट कैन इट टीच अस ? पृ० ३२७।

३. बालकाण्ड, सर्ग १८, ९–१५, अयो० १५–३।

४. एस० पी० पण्डित : रघुवंश की भूमिका।

कालिदास ने महाकाव्य की रचना की थी न कि तत्कालीन इतिहास की। समुद्रगुप्त तथा चन्द्रगुप्त द्वारा किये गये विजय रघु के विजय से हीन पड़ जाते हैं। रघु के विजय का वर्णन अंशतः मौर्यों और शुङ्गों के विजयों तथा विक्रमादित्य के धर्मविजय पर आधारित है। देश में शान्ति और समृद्धि गुप्तकाल की ही विशेषता नहीं है। शुङ्गकाल का भी अधिकांश भाग शान्तिपूर्ण था। विक्रमादित्य की राजनैतिक तथा सैनिक सफलताओं के परिणामस्वरूप भी भारत ने विदेशी शासन से मुक्ति का भोग किया तथा १३५ वर्ष तक (५७ ई० पू० में स्थापित विक्रम संवत् से लेकर ७८ ई० में शकों के द्वितीय आक्रमण तक) देश में शान्ति तथा समृद्धि बनी रही। रघु के वंश का उन्नीसवें अध्याय में अकस्मात् एवं दुःखपूर्ण अन्त तथा वंश के अन्तिम विलासी राजा अग्निवर्ण का वर्णन शुङ्ग वंश के अंतिम राजा अत्यधिक कामी देवभूति[1] के आचरण एवं दुःखद अन्त का स्मरण दिलाता है। कालिदास इन राजनैतिक गति-विधियों तथा घटनाओं से परिचित थे जिनका प्रतिबिम्ब हम उनके ग्रन्थ में पाते हैं। गुप्तकाल की घटनाओं से कालिदास के ग्रन्थों की घटनाओं का समीकरण करना आवश्यक नहीं है।

(६) कुछ विद्वान् वराहमिहिर से कालिदास की समकालीनता दिखलाने के लिए 'ज्योतिर्विदाभरण' के साक्ष्य को स्वीकार करते हैं और आमराज के प्रमाणों पर विश्वास करके कि वराहमिहिर की मृत्यु ५०९ शकाब्द में हुई थी, कालिदास को पाँचवीं तथा छठी शती में खींच लाते हैं। कुछ अन्य विद्वान् जो ज्योतिर्विदाभरण को कालिदास की रचना नहीं मानते तथा उसे बाद की रचना स्वीकार करते हैं, इसमें उपलब्ध प्रमाणों को बिलकुल साफ अस्वीकार कर देते हैं। प्रस्तुत लेखक के मत से, यद्यपि यह ग्रन्थ बहुत बाद की रचना है, इसमें प्रामाणिक परम्परा विद्यमान है। अतः इस परिस्थिति में या तो हम ५६ ई० पू० में विक्रमादित्य की परम्परा को स्वीकार करें या आमराज के प्रमाणों को बिलकुल हटा दें। किन्तु ऐसा करने के पहले यह जान लेना अच्छा होगा कि वराहमिहिर के सम्बन्ध में आमराज द्वारा प्रयुक्त संवत् ७८ ई० में स्थापित होनेवाला शक संवत् ही है या कोई अन्य शक-संवत् है जो वराहमिहिर की

---

१. अतिस्त्रीसंगरतमनङ्गपरवशं शुङ्गम्''''''हर्षचरित पृ० १९९।
देवभूतिं तु शुङ्गराजानं व्यसनिनं''''''विष्णुपुराण ४-२४-३९।

ज्योतिषशास्त्रीय परम्परा में प्रचलित था। इस सम्बन्ध में वराहमिहिर के निम्नलिखित श्लोक उपादेय हैं :

> भुवनायकोपदेशान्नरिनर्तीवोत्तरा भ्रमद्भिश्च ।
> यैश्चारमहं तेषां कथयिष्ये वृद्धगर्गमतात् ॥
> आसन् मघासु मुनयः शासति पृथिवीं युधिष्ठिरे नृपतौ ।
> षड्द्विकपञ्चद्वियुतः (२५२६) शककालः तस्य राज्ञः ॥
>
> (बृहत्संहिता १३, २–३)

उद्धृत द्वितीय श्लोक की प्रथम पंक्ति से यह स्पष्ट है कि युधिष्ठिर-संवत् के प्रारम्भ तथा शक-संवत् की स्थापना में जिसका जहाँ उल्लेख है, २५२६ वर्षों का अन्तर है। युधिष्ठिर-संवत् का वर्तमान वर्ष ५०५२ है अतः उपरिलिखित शक-संवत् का प्रारंभ (५०५२–२५३६ = २५२६) वर्ष पूर्व अर्थात् विक्रम-संवत् के ५१५ वर्ष पूर्व हुआ। आमराज के अनुसार वराहमिहिर की मृत्यु शक-संवत् ५०९ में हुई। अतः यह घटना ५१८–५०९ विक्रम-संवत् से ९ वर्ष पहले घटित हुई थी। उद्धृत प्रथम श्लोक से भी यही संकेत मिलता है। ५१८ ई० पू० में प्रारम्भ होनेवाले शक-संवत् का ज्ञान गर्गसंहिता के लेखक को था जिसकी रचना शुङ्गकाल में हुई थी। अतः आमराज द्वारा प्रयुक्त शक-संवत् के उल्लेख से हम वराहमिहिर तथा कालिदास दोनों को प्रथम शती ई० में रख सकते हैं। प्राचीन अनुश्रुति को लिखते हुए आमराज ने कदाचित् कुछ वर्षों की गलती कर दी होगी जो ऐसी स्थिति में असम्भव भी नहीं जान पड़ती। अतएव किसी को भी यह निष्कर्ष निकालने की छूट है कि वह इन दो महान् व्यक्तियों को विक्रमादित्य का समकालीन तथा उनके दरबार का अलंकरण बताये।

वराहमिहिर को, जैसा कि उनके द्वारा रचित बृहत्संहिता के अन्तःसाक्ष्यों से स्पष्ट है, पाँचवीं अथवा छठी शती में नहीं रखा जा सकता। इस ग्रंथ में मध्यदेश के उल्लेख के सम्बन्ध में भारत का प्रादेशिक विभाजन विस्तार से वर्णित है जो गुप्तों के अभिलेखों से ज्ञात प्रादेशिक विभागों से मेल नहीं खाता।

(७) मेघदूत में 'निचुल' शब्द का अर्थ है 'एक प्रकार का वृक्ष' तथा दिङ्नाग का अर्थ है 'दिग्गज' अथवा 'दिक्पाल'। मेघदूत को यह राय दी गई है कि वह निचुल तरु के नीचे आराम करे और दिग्गजों के हिलते हुए शुण्डों से बचे। मल्लिनाथ की टीका में 'निचुल' तथा 'दिङ्नाग' का व्यक्तियों के रूप में

उल्लेख कल्पनाप्रसूत है और विशेषतः इस तथ्य को दृष्टि में रखकर कि कालिदास इस प्रकार के उल्लेखों के लिए प्रसिद्ध नहीं हैं, मल्लिनाथ के इस सुझाव को गम्भीरतापूर्वक ग्रहण नहीं किया जा सकता। निचुल नाम का कोई भी कवि या आश्रयदाता संस्कृत साहित्य के इतिहास में नहीं दिखाया जा सकता। बौद्ध ग्रंथों में दिङ्नाग का उल्लेख बहुत ही अस्पष्ट रूप में हुआ है तथा दिङ्नागाचार्य का उल्लेख भी कम मिलता है जिसके अप्राप्य ग्रंथों पर धर्मकीर्ति ने टीका लिखी थी। अब वह भी प्राप्त नहीं है। किन्तु यदि यह भी मान लिया जाय कि दिङ्नाग एक व्यक्ति थे, तो केवल यही अनुमान किया जा सकता है कि वे धर्मकीर्ति के पूर्व हुए होंगे। उनकी कोई निश्चित तिथि नहीं बताई जा सकती और कालिदास को गुप्तकाल में नहीं लाया जा सकता।

तृतीय अध्याय

उत्पत्ति तथा माता-पिता

(१) गर्दभिल्ल

बृहत्कथामंजरी तथा कथासरित्सागर जैसे हिन्दुओं के ग्रन्थ विक्रमादित्य की उत्पत्ति तथा माता-पिता पर कुछ भी प्रकाश नहीं डालते। उनमें विक्रमादित्य के जन्म की कहानी उज्जयिनी के शासक महेन्द्रादित्य से आरम्भ होती है।[1] जैन पट्टावलियों[2] तथा जीवनवृत्तात्मक ग्रन्थों[3] से इस समस्या पर कुछ प्रकाश पड़ता है। उनके अनुसार विक्रमादित्य के पिता का नाम गर्दभिल्ल था। गर्दभिल्ल व्यक्तिवाचक नाम नहीं वरन् यह वंश-नाम है। यह बात पुराणगत साक्ष्यों से प्रमाणित होती है। पुराणों के अनुसार[4] सात (या दस) राजाओं का एक गर्दभिल्ल (गर्दभिन) वंश आन्ध्रों के समकालीन राज-वंशों में एक था। इसकी पुष्टि जैन ग्रंथ हरिवंश[5] से भी होती है जिसके तिथि सम्बन्धी इतिहास में रासभ (गर्दभिल्ल) शासकों का उल्लेख है। उनका शासनकाल कुल मिलाकर एक सौ वर्ष था। हमने जो कुछ कहा उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि विक्रमादित्य का वंश गर्दभिल्ल कहलाता था। वंश का यह अभिधान क्यों था, कहना कठिन है। प्रभावकचरित में यह वर्णन प्राप्त होता है कि गर्दभिल्ल रासभी विद्या (गदहों का खेल) जानता था जिससे वह शत्रुओं में खलबली मचा देता था।[6] यह विद्या कोई सैनिक-यन्त्र-न्यास या

---

१. बृहत्कथामंजरी १०, १; कथासरित्सागर १८, १।

२. पट्टावलिसमुच्चय पृ. १७, १५०, १६६।

३. प्रभावकचरित पृ. २२–२५ (कालकाचार्य-कथा)।

४. विष्णुपुराण २४, ४.१३; वायुपुराण ३७, ३५२, ३५८ आदि।

५. अध्याय ६०, श्लोक ४९०।

६. प्रभावकचरित।

सैनिक व्यवस्था थी जिसके लिए गर्दभिल्ल इतने प्रख्यात थे और बाद में उसी नाम से जाने गये। यह भी संभव है कि उनकी सेना का वेसर महागुल्म (खच्चरों का रेजीमेंट) बड़ा प्रबल था जिसके नाम पर उस परिवार का नाम पड़ गया।

२. गर्दभिल्ल मालवों की एक शाखा

जैन विद्वान् मेरुतुङ्ग की विचारश्रेणि से ज्ञात होता है कि गर्दभिल्ल एक बहुत बड़े समुदाय की एक शाखा थी[1]। यह ग्रंथ विशाला (उज्जयिनी) का राजवंशिक इतिहास देते हुए विक्रमादित्य को 'मालवराय' बताता है। यहाँ 'मालव' शब्द जनता के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, यह इस बात से सिद्ध होता है कि विशाला क्षेत्र का, जिस पर विक्रमादित्य शासन करते थे, पहले ही उल्लेख हो चुका है। हम दूसरे साधनों से भी जानते हैं कि मालवों की ऐसी शाखायें थीं भी। नंदसा-यूप-अभिलेख[2] के अनुसार 'इक्ष्वाकुओं द्वारा स्थापित और प्रथितयश राजर्षियों के मालव वंश में उदित विजय पर नृत्य करनेवाले, जयसोम के पुत्र, प्रभाप्रवर्धन के पौत्र, सोगियों के नायक सोम ने कई शत-सहस्र गायों को दक्षिणा (रूप में दिया)।' यह अभिलेखात्मक प्रमाण इस बात की पुष्टि करता है कि सोगी मालवों की एक उपजाति थी। उसी प्रकार गर्दभिल्ल को भी मालवों की उपजाति माना जा सकता है। विक्रमादित्य[3] भारतीय इतिहासप्रसिद्ध मालवों की गर्दभिल्ल शाखा में उत्पन्न हुये थे।

३. मूलवंश : सूर्यवंश

हम इस प्रश्न का अन्वेषण और आगे करते हैं कि गर्दभिल्ल-मालव भारतवासियों के किस संजाति के थे। साहित्यिक ग्रंथों को इस प्रश्न से कोई सम्बन्ध नहीं। नंदसायूप-अभिलेख मालव जाति को 'इक्ष्वाकुप्रथित राजर्षिवंश'[4] कहता है। इक्ष्वाकु अयोध्या के राजवंश के संस्थापक थे। नंदसा-अभिलेख यह संकेत करता है कि मालव सूर्यवंशी क्षत्रिय थे। मालवों

---

१. हो ही मालवराया नामेण विक्कमाइच्चो।

२. ए० इ० भाग २६, पृ० ११८-२५।

३. बृहत्कथामंजरी तथा कथासरित्सागर में विकमादित्य की मालवों से उत्पत्ति स्पष्ट होती है, जहाँ पर शिव का माल्यवान् (= मालव) गण (जनतन्त्र) स्वयं विक्रमादित्य के रूप में अवतरित होता है।

४. इक्ष्वाकुप्रथितराजर्षिवंशे मालववंशे।

का प्रारम्भिक इतिहास महाभारत में प्राप्त होता है। उसके अनुसार मालव तत्कालीन प्रमुख क्षत्रिय राजवंशों से सम्बन्धित थे। विराट के श्यालक कीचक की माता मालव-राजकुमारी थी।[१] मद्रराज अश्वपति की रानी—सावित्री की माता—भी मालव-राजकुमारी थी।[२] महाभारत के विशाल युद्ध में मालव कौरवों की ओर से लड़े थे। मालवों का मत्स्यों और मद्रों से वैवाहिक सम्बन्ध यह सिद्ध करता है कि मालव महाभारत काल की प्रमुख क्षत्रिय जातियों में समझे जाते थे। यूनानी लेखक, जिन्होंने सिकन्दर तथा मालव-क्षुद्रकों के बीच घोर युद्ध का वर्णन किया है, मालवों की सामाजिक स्थिति पर प्रकाश नहीं डालते। वे केवल इनकी शक्ति तथा गर्व का स्पष्ट संकेत करते हैं। यूनानियों के द्वारा मालवों का गर्व आक्रान्ताओं के लिए कभी उद्धत और प्रायः भयङ्कर समझा गया है। वर्णन क्षत्रियों के लिए उपयुक्त है जो कि वीरता और साहस के लिए विख्यात थे।[३]

४. मल्लों से उनका सम्भावित सम्बन्ध

हमने अब तक गर्दभिल्ल मालवों की उत्पत्ति इस संदिग्ध सुझाव के साथ पंजाब के मालवों से दिखाई है कि राजपूताना के मालव अपने को इक्ष्वाकु के सूर्यवंश की सन्तान मानते थे। इस संबन्ध में यह ध्यान रखना चाहिए कि 'मालव' शब्द स्वयं मूल या आधारिक शब्द नहीं है बल्कि यह व्युत्पन्न शब्द है जिससे लगता है कि पंजाब के मालव भी किसी जाति की शाखा थे। मालव अपत्य अर्थ में 'मलु' से बनाया जा सकता है। क्या यह सुझाव रखा जा सकता है कि ये मालव गोरखपुर मण्डलान्तर्गत प्रसिद्ध मल्लराष्ट्र से निकले थे? मल्ल से पहले माल्य या मालय व्युत्पन्न हुआ जो बाद में 'मालव' हो गया। इस सुझाव की कुछ पुष्टि मालवों की मुद्राओं से हो सकती है। डगलस महोदय[४] ने कुछ निश्चयात्मकता के साथ यह दिखाया कि 'मलय' अथवा 'मालय' 'मालव' से प्राचीन है। मालवा के लिए यूनानी शब्द 'मल्लोई' से भी यही स्पष्ट होता है। यवन शब्द 'मल्लोई' 'मलय' के लिए प्रयुक्त होता है और 'मालव' का ठीक रूपान्तर 'मल्लुओई' होगा।[५] डगलस महोदय 'मल' शब्द को

१. महाभारत, ५।

२. वही।

३. कर्टियस ९, अध्याय ४।
मैक्क्रिंडल, इन्वेजन आफ् इण्डिया बाई एलेग्जाण्डर पृ० २३४।

४. कतिपय मालव मुद्राओं पर, पृ० ४२-४७ (न्यूमिस० सप्ली० सं० ३७)।

५. वही।

मालव जाति के संस्थापक राजा का नाम मानते हैं।[1] हमें ज्ञात है कि मालव सूर्यवंशी इक्ष्वाकु के वंशज थे। वाल्मीकि-रामायण[2] के अनुसार लक्ष्मण के पुत्र चन्द्रकेतु का विरुद 'मल्ल' था तथा उसने एक मल्लराष्ट्र की स्थापना की थी जहाँ पर उसके वंशज मल्ल कहे जाते थे। मल्लों का सूर्यवंशी होना बौद्ध साहित्य से भी सिद्ध होता है।[3] अतः, यद्यपि मल्ल को राजपूताना में एक राजा बताना सम्भव नहीं, राजपूताना के मालव तथा मालवा की उत्पत्ति को अन्त में गोरखपुर जिले के मल्लों तक ले जाया जा सकता है। अधिक संभव है कि उनकी एक शाखा पंजाब की ओर महाभारत के बहुत पूर्व ही चली गयी हो और मालवों की पूर्वज बनी हो। मालवों ने इस तथ्य को स्मरण रखा था तथा इसकी अभिव्यक्ति नंदसायूप अभिलेख में कृत (विक्रम) संवत् के तृतीय शतक में हुई।[4]

५. विदेशी मूल का सुझाव

द्वितीय या तृतीय शती के कतिपय मालव मुद्राओं के त्रुटिपूर्ण पाठ ने एक काल्पनिक सुझाव को जन्म दिया था कि मालव एक विदेशी जाति के वंशज थे। इन सिक्कों के अभिलेख अस्पष्ट हैं जिन्हें निश्चित रूप से नहीं पढ़ा जा सकता। किन्तु विद्वानों ने उन पर **भपंयन, मगज, मह्नग, मगजस** इत्यादि विचित्र नाम पढ़े हैं। यदि इनका पाठ ठीक है तो ये नाम अभारतीय हैं। इस भ्रमपूर्ण पाठ के आधार पर वि० ए० स्मिथ ने अपना मत दिया कि ये उनकी विदेशी उत्पत्ति की ओर संकेत करते हैं[5]। इसके विरुद्ध बहुत सी आपत्तियाँ उठाई जा सकती हैं। इन सिक्कों के अक्षर इतने अस्पष्ट हैं कि ये पर्याप्त निश्चय के साथ नहीं पढ़े जा सके हैं। एलन के मत में या तो वे अतिभ्रमात्मक अभिलेख हैं अथवा वे मूल अभिलेख 'मालवानां जयः' के लिए प्रयुक्त हैं।[6] काशी प्रसाद जायसवाल के मतानुसार वे जाति, उपजाति तथा नेता के प्रारम्भिक अक्षरों के समुच्चय हैं। यदि यह स्वीकार भी कर लिया जाय कि इन सिक्कों पर व्यक्तिगत नाम हैं तो भी उनकी विदेशी उत्पत्ति की पुष्टि नहीं होती। 'सिक्कों के

---

१. वही।

२. चन्द्रकेतोश्च मल्लस्य मल्लभूम्यां निवेशिता।
चन्द्रकान्तेति विख्याता दिव्या स्वर्गपुरी यथा॥ ७।१०२, ९।

३. महापरिनिब्बानसुत्त, दिव्यावदान।

४. ए० इ० भाग २६।

५. कैटलॉग ऑफ काइन्स इन इण्डियन म्यूजियम्, भाग १, पृ० १७४-१७६।

६. दि कैटलॉग आफ् कायन्स आफ् ऐंश्येंट इण्डिया, पृ० ११८।

अभिलेख के व्यक्तिगत नाम बहुत ही विचित्र हैं तथा वे स्वयं बहुत सी पहेलियाँ हैं।' जायसवाल का मत है कि ये प्रारम्भिक अक्षर हैं, यही ठीक व्याख्या प्रतीत होती है। ये नाम विचित्र अवश्य हैं किन्तु उन्हें विदेशमूलक मानना न्याय्य नहीं है। ये लेख ब्राह्मी में तथा देश की भाषा में हैं और यदि जायसवाल के मत को स्वीकार कर लिया जाय तो, सभी तो नहीं किन्तु उनमें से अधिकांश संस्कृतमूलक हैं तथा पूर्णरूपेण समझने योग्य हैं[1]।

एक सबल सम्भावना यह भी है कि कुछ मालव सिक्कों के साथ प्राप्त ये विचाराधीन सिक्के मालव सिक्के ही न हों तथा बाहर से यात्रा करके अपने प्राप्ति-स्थान तक आये हों। ऐसे अविश्वसनीय प्रमाणों के आधार पर कोई सिद्धान्त नहीं बनाया जा सकता और फिर मालवों की एक उपजाति सोगी के सामाजिक स्तर पर नंदसायूप-अभिलेख के साक्ष्य को दृष्टि में रखकर कि वे इक्ष्वाकु के सूर्यवंशी थे, वि० ए० स्मिथ का मत स्वीकार नहीं किया जा सकता। फिर भारत में प्रथम विदेशी आक्रमण के बहुत पूर्व ही भारतीय इतिहास में मालव ज्ञात थे।

विक्रमादित्य की उत्पत्ति के बारे में बहुत बाद के एक जैन ग्रंथ 'विक्रमार्क-सरव-प्रबन्ध' में एक विचित्र उल्लेख है। इसके अनुसार विक्रमादित्य का जन्म हूण वंश में हुआ था। हूण वंश में उत्पन्न, गन्धर्वसेन के पुत्र, विक्रमादित्य ने पृथिवी को मुक्त कर दिया।[2] प्रत्यक्ष रूप से यह प्रमाण निराधार है। हूणों ने उज्जयिनी पर कभी शासन नहीं किया। वे पाँचवीं शती के अन्तिम दिनों में भारतवर्ष में घुसे तथा छठी शती के प्रथम चरण में पूर्वीय मालवा तक ही सीमित थे। उन्हें सदैव दैवी प्रकोप समझा गया न कि देश का रक्षक। हूणों से विक्रमादित्य के प्राचीन वंश की भ्रान्ति सम्भवतः राजपूताना में शासन करनेवाले हूण वंश के निमित्त होने के कारण हुई जो अपने को भारतवर्ष के एक महान् पुरुष से, जिसकी देश में व्यापक लोकप्रियता थी, सम्बन्धित करना चाहते थे।

६. विक्रमादित्य के माता-पिता

विक्रमादित्य के माता-पिता के नाम विभिन्न स्रोतों में भिन्न-भिन्न तरह से दिये गये हैं जिनकी तालिका नीचे दी जाती है:—

---

१. एस. के. चक्रवर्ती, ऐंश्येण्ट इण्डियन न्यूमिस्मेटिक्स, पृ. १९४।

२. हूणवंशे समुत्पन्नो विक्रमादित्यभूपतिः। गन्धर्वसेनतनयः पृथ्वीमनृणां व्यधात्॥ पुरातन प्रबन्धसंग्रह में संकलित सिंधी जैन ग्रंथमाला सं. २।

	बृहत्कथा-मंजरी	कथासरित्सागर	प्रभावक-चरित	भविष्य-पुराण	द्वात्रिंशत्पुत्तलिका	लोकप्रिय कथायें
	१	२	३	४	५	६
पिता	महेन्द्रादित्य	महेन्द्रादित्य	गर्दभिल्ल	गन्धर्वसेन	गर्दभ के वेष में गन्धर्व	गन्धर्वसेन
माता	×	सौम्यदर्शना	×	वीरमती	मदनरेखा (जैन संस्करण में)	×

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट हो जाता है कि पिता का अधिकतम ठीक और अधिकृत नाम महेन्द्रादित्य था। किन्तु वे वंश के उपनाम गर्दभिल्ल तथा अपने लोकप्रिय नाम गन्धर्वसेन से भी प्रसिद्ध थे। द्वात्रिंशत्पुत्तलिका ग्रन्थ गन्धर्व (सेन) तथा गर्दभिल्ल दोनों को एक बताकर उनका साम्य सिद्ध करता है। विक्रमादित्य की माता के तीन नाम पाये जाते हैं। इनमें सौम्यदर्शना ही व्यक्तिगत नाम मालूम होता है तथा अन्य दो वीरमती और मदनरेखा विरुद या लोकप्रिय नाम लगते हैं।

कुछ विद्वानों ने महेन्द्रादित्य का समीकरण गुप्त सम्राट् कुमारगुप्त प्रथम से दिखाने का प्रयास किया है क्योंकि कुमारगुप्त ने यही उपाधि धारण की थी। किन्तु यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि विक्रमादित्य के पिता का व्यक्तिवाचक नाम महेन्द्रादित्य था न कि उपाधि। इसके अतिरिक्त कुमारगुप्त ने पाटलिपुत्र पर शासन किया था। यद्यपि वह अवन्ती का अधिपति था किन्तु उसने उज्जयिनी को अपनी द्वितीय राजधानी कभी नहीं बनाया। ऐसा प्रतीत होता है कि गुप्तों के समय में पूर्वी मालवा की राजधानी विदिशा अधिक प्रसिद्ध थी। इसके अतिरिक्त कथासरित्सागर से ज्ञात है कि विक्रमादित्य महेन्द्रादित्य की बुढ़ापे की सन्तान थे, किन्तु यह सुज्ञात तथ्य है कि कुमारगुप्त प्रथम का पुत्र स्कन्दगुप्त, जब कि उसके पिता जीवित ही थे काफी वयस्क हो गया था। इन तथ्यों के आधार पर महेन्द्रादित्य का समीकरण गुप्तवंश के सम्राट् कुमारगुप्त प्रथम से करना स्वीकार नहीं किया जा सकता।

सोमदेव भट्ट ने महेन्द्रादित्य की वीरता तथा उदारता का निम्नलिखित ज्वलन्त चित्र उपस्थित किया है : 'अवन्ती-नगर में एक विश्वविजयी महेन्द्रादित्य नामक रिपु-सूदन राजा, अमरावती में इन्द्र की भाँति, रहता था। जहाँ

तक उसकी वीरता का प्रश्न है वह विभिन्न शस्त्रों को चलाने में पारंगत था। सौन्दर्य में वह स्वयं कुसुमायुध था। दान में उसका हाथ खुला रहता था किन्तु तलवार की मूठ पर कसा रहता था'।[1] जैन ग्रन्थों तथा पुराणोंके अनुसार गर्दभिल्ल (महेन्द्रादित्य) अवन्ती में गर्दभिल्ल वंश का संस्थापक था। यह सोमदेव के अस्पष्ट किन्तु व्यंजक वर्णन से मिलता-जुलता है। उसी के नेतृत्व में मालवों की एक शाखा दक्षिणपूर्वी राजपूताना से दक्षिण-पश्चिम की ओर बढ़ी और अवन्ती पर अधिकार कर लिया।

अवन्ती के अधिकृत हो जाने के थोड़े ही समय पश्चात् महेन्द्रादित्य को शकों के विनाशकारी प्रथम आक्रमण से पराजित होना पड़ा तथा उसे वन की ओर भागना पड़ा।[2] किन्तु उसने मालवों को जो नेतृत्व प्रदान किया था, उससे एक लक्ष्य के प्रति उनमें लगन पैदा हो गई और उन्होंने अवन्ती को पुनः अधिगत करने की भावना को नहीं छोड़ा तथा उसके आत्मज विक्रमादित्य के नवीन नेतृत्व में एक गौरवपूर्ण इतिहास का निर्माण किया।

महेन्द्रादित्य का व्यक्तिगत धर्म शैव था। इस तथ्य की पुष्टि 'बृहत्कथा-मंजरी' तथा 'कथासरित्सागर' से होती है। यह वह समय था जब मौर्य-साम्राज्य के पतन के पश्चात् बौद्ध तथा जैनधर्म अवन्ती की ओर प्रसार पाने का प्रयास कर रहे थे। शैव राजवंश और जैन प्रचारकों में मतभेद उठ खड़ा हुआ। धार्मिक मतभेद की यह प्रक्रिया कालकाचार्य-कथा में अभिव्यक्ति पाती है। यद्यपि उसमें मतभेद का व्यक्तिगत कारण गर्दभिल्ल द्वारा कालक की बहिन को रोक रखना दिया गया है। व्यक्तिगत कारण में इस सम्भावना को टाला नहीं जा सकता कि आकर्षक लड़कियों को बलपूर्वक रोक लेना भारतीय राजाओं के लिए असाधारण नहीं था, किन्तु उसमें एक गहरे कारण के होने का सन्देह होता है। हिन्दू ग्रंथ महेन्द्रादित्य के विलासी चरित्र का उल्लेख नहीं करते जब कि वे अन्य राजाओं के विलासी चरित्र का वर्णन करने में नहीं हिचकते। हमारे पास गर्दभिल्ल द्वारा जैनधर्म पर अत्याचार का कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है तथापि दोनों धर्मों का मतभेद अवश्य हुआ होगा जिसके कारण कालक तथा महेन्द्रादित्य के बीच झगड़ा हुआ। अपमानित और व्यथित कालक ने विदेशी शकों से सहायता ली जिसका फल महेन्द्रादित्य का उन्मूलन हुआ।

---

१. कथासरित्सागर १८-१, ९-१३।

२. प्रभावकचरित, कालकाचार्य-कथा।

चतुर्थ अध्याय

जन्म तथा प्रारम्भिक जीवन

१. पृष्ठभूमि

विक्रमादित्य के जन्म की पीठिका उसी रंग में अंकित हुई है जिसे इतिहास के सभी महान् पुरुषों के जन्म के सम्बन्ध में पाते हैं। चित्र तिमिराच्छन्न है और पृथ्वी के भार को हटाने के लिए दैवी सहायता की अपेक्षा की गई थी। क्षेमेन्द्र तथा सोमदेव दोनों ने म्लेच्छों द्वारा पददलित पृथ्वी की कष्टपूर्ण दशा का वर्णन किया है :

'इन्द्र के नेतृत्व में देवतागण कैलाश पर बैठे हुए शिव के पास पहुँचे और कहा : हे देवाधिदेव ! दिति के पुत्र असुरों ने, जो प्राचीन काल में आप के द्वारा मारे गये थे, पुनः म्लेच्छों के रूप में जन्म लिया है। उन्होंने प्रसन्न देवताओं की दशा तिनकों के बराबर कर दी है। अब केवल आप ही शरण हैं[1]।'

'जिस समय उत्तुङ्ग कैलाश पर, जिसकी घाटियों को सुरवृन्द देखा करते हैं, जो उदीची के स्मित सा सुन्दर है, जो सबको पराजित करने में सशक्त है, शिव पार्वती के साथ विराजमान थे, म्लेच्छों से त्रस्त देवतागण इन्द्र के नेतृत्व में उनके पास गये और बैठकर शिव की प्रशंसा करने लगे। जब उन्होंने उनके आने का कारण पूछा तो उन्होंने उनसे प्रार्थना की : हे देवाधिदेव, वे असुर, जिनका आपने और विष्णु ने संहार किया था, पृथ्वी पर म्लेच्छों के रूप में फिर उत्पन्न हुए हैं। वे यज्ञ और अन्य कर्मों में बाधा डालते हैं। वे साधुओं की कन्याओं को उठा ले जाते हैं। सच तो यह है कि उन्होंने कौन सा अपराध छोड़ रखा है ? अब आप जानते हैं देव ! कि देवलोक पृथिवी से ही पोषण पाता है क्योंकि ब्राह्मणों द्वारा जो कुछ भी अग्नि में आहुति दी जाती है वही स्वर्गवासियों का पोषण करती है। किन्तु, चूंकि म्लेच्छों ने पृथ्वी को रौंद डाला है, शुभ शब्द कभी भी आहुति के साथ सुनाई नहीं पड़ता तथा देवता लोग

१. बृहत्कथामंजरी १०, १, ८-१०।

यज्ञभाग एवं अन्य पूर्त्ति के साधनों के विच्छिन्न हो जाने से शक्तिहीन हो गये हैं। अतः इस सम्बन्ध में विचार कीजिये तथा किसी जननायक को पृथ्वी में अवतरित कीजिये जो म्लेच्छों के नाश में सबल हो।'[1]

उपर्युक्त दोनों अवतरणों में विनाश के पात्र म्लेच्छ ही थे, जिन्होंने पृथ्वी को पीड़ा पहुँचाई थी और अप्रत्यच्च रूप से देवताओं को भी व्यथित किया था। यह ध्यान रखना चाहिए कि यहाँ म्लेच्छ शब्द का प्रयोग किया गया है न कि काल्पनिक 'दैत्य' या 'दानव' शब्द का। संस्कृत साहित्य में 'म्लेच्छ' शब्द विदेशियों के लिए प्रयुक्त हुआ है, जिस प्रकार यूनान में बर्बर शब्द विदेशियों के लिए प्रयुक्त होता था। यह स्पष्ट है कि भारत को विदेशी आक्रमण का भय था। प्रथम शती ई० पू० में यह आक्रमण शक-आक्रमण के अतिरिक्त अन्य नहीं था, जिन्होंने मध्य एशिया तथा हिन्दूकुश के दक्षिणी प्रदेशों में सम्मुख आनेवाली सभी शक्तियों को नष्ट-भ्रष्ट कर डाला था। भारतवर्ष में शकों के आक्रमण के ऐतिहासिक तथ्य ने अमानवीय तत्वों में रँग कर साहित्यिक अभिव्यक्ति पायी है।

२. विक्रमादित्य का जन्म

महेन्द्रादित्य तथा उसके पुत्र विक्रमादित्य शकों से भयाक्रान्त तिमिराच्छन्न पीठिका में प्रकट होते हैं। कथासरित्सागर[2] के अनुसार महेन्द्रादित्य को पुत्रार्थ विविध प्रकार की तपस्या तथा व्रत करने पड़े थे। महेन्द्रादित्य की पुत्र की अभिलाषा तथा देवताओं का शिव के यहाँ पहुँचना एक ही समय हुआ। जब देवताओं ने शिवजी की इस प्रकार प्रार्थना की, तो उन्होंने उनसे कहा, 'जाओ, इस बात के लिए चिन्ता करने की कोई आवश्यकता नहीं। निश्चिन्त हो जाओ। विश्वास रखो, मैं शीघ्र ही एक ऐसा उपाय करूँगा जिससे कठिनाई समाप्त हो जायगी।' इस प्रकार कह कर शिवजी ने देवताओं को विदा किया और जब वे चले गये तो पार्वती के साथ बैठे हुए पवित्र शिव ने माल्यवन्त नामक गण को बुलाया और आज्ञा दी, 'वत्स! मनुष्य की स्थिति में उतरो और उज्जयिनी नगरी में राजा महेन्द्रादित्य के वीर पुत्र के रूप में जन्म ग्रहण करो।'[3]

उपर्युक्त उद्धरण में तीन तथ्य दिखाई पड़ते हैं। प्रथम, विक्रमादित्य

---

१. कथासरित्सागर १८, १।

२. वही १८, १, १५।

३. वही।

बड़ी-बड़ी प्रार्थनाओं के पश्चात् बहुत बाद में उत्पन्न हुए तथा उस समय उनके पिता अधिक अवस्था पार कर चुके थे। द्वितीय, विक्रमादित्य का जन्म एक गण (जनतान्त्रिक राज्य) में हुआ था। तीसरे, गण का नाम मालव (माल्यवंत= माल्य = मालय = मालव) था।

'और जब उचित समय आया तो उन्होंने (रानी ने) एक वैभवशाली पुत्र उत्पन्न किया जिसने कक्ष को उसी प्रकार भास्वर कर दिया जैसे सूर्य आकाश को कर देता है और जब उसका जन्म हुआ तो आकाश सचमुच प्रभापूर्ण हो गया, आकाश से पुष्पों की वर्षा हुई तथा देवताओं ने दुन्दुभि-नाद किया। उस समय सम्पूर्ण नगर उत्सव के आनन्द में मग्न हो गया और ऐसा मालूम होने लगा मानो प्रमत्त, भूताविष्ट अथवा वातहत हो। (और) उस समय राजा ने निरन्तर धन की इतनी वर्षा की कि बौद्धों को छोड़ कर कोई भी अनीश्वर नहीं रह गया (जब अनीश्वर शब्द बौद्धों के लिए प्रयुक्त होता है तब उसका अर्थ होगा 'नियन्ता में विश्वासहीन' किन्तु अन्य स्थानों पर धनहीन)।'[1]

३. नाम और विरुद

कथासरित्सागर में उल्लिखित साहित्यिक अनुश्रुति के अनुसार शिव ने महेन्द्रादित्य को पुत्र के नाम तथा विरुद के लिए सुझाव दिया था। '(और) उस समय भगवान् (शिव) ने, जिनका मुकुट चन्द्रकला से शोभायमान है, राजा से स्वप्न में कहा, मैं तुमसे प्रसन्न हूँ। हे राजन्! तुम्हें एक पुत्र होगा जो अपनी शक्ति से पृथ्वी के सभी भागों का विजय करेगा। यह जन-नायक यक्षों, राक्षसों, पिशाचों आदि को अपने वश में करके उन पर शासन करेगा × × × × तथा म्लेच्छों का वध करेगा। इस कारण उसका नाम विक्रमादित्य तथा अपने शत्रुओं के लिए विषम स्वभाव-वाला होने के कारण उसका नाम विषमशील होगा।'[2] × × × 'शिव के आदेशानुसार महेन्द्रादित्य ने जन्म के समय उचित संस्कारों के साथ अपने पुत्र का नाम विक्रमादित्य और उपनाम विषमशील रखा।'[3] साहित्यिक अनुश्रुति से ज्ञात होता है कि बालक का व्यक्तिवाचक नाम विक्रमादित्य और

१. कथासरित्सागर १८, १।

२. कथासरित्सागर, १८, १।

३. वही।

विरुद विषमशील था। विक्रमादित्य के नाम या उपनाम के सम्बन्ध में यह महत्त्वपूर्ण बात स्मरण रखनी चाहिए। बहुत से विद्वान् भ्रम से दोनों को एक समझ बैठते हैं। लेकिन जहाँ तक मालव विक्रमादित्य का सम्बन्ध है यह व्यक्तिवाचक नाम था और जहाँ तक बाद के राजाओं का सम्बन्ध है जिन्होंने विक्रमादित्य उपाधि ग्रहण की थी, यह विरुद था। विषमशील के अतिरिक्त विक्रमादित्य का दूसरा महत्त्वपूर्ण विरुद 'साहसाङ्क' था। इसका ज्ञान कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तल की कतिपय पाण्डुलिपियों[1] तथा कुछ अन्य स्रोतों[2] से होता है। यह विरुद बाद में साहसपूर्ण कठिन कार्य सम्पादित करने के कारण जिनके लिए विक्रमादित्य विख्यात थे धारण किया गया था।

४. शिक्षा

महेन्द्रादित्य ने अपने पुत्र की शिक्षा के लिए सर्वोत्कृष्ट संभव साधन प्रस्तुत किये। विक्रमादित्य की शिक्षा उनके चौलकर्म के पश्चात् 'लिपि' और 'संख्या'[3] के प्रथम पाठ से प्रारम्भ हुई। उनका गम्भीर अध्ययन उपनयन के समय आरम्भ हुआ और कुशाग्रबुद्धिवाला होने के कारण उन्होंने अल्पकाल में ही ज्ञान प्राप्त कर लिया। 'जब उनका यज्ञोपवीत संस्कार हुआ और आचार्यों के संरक्षण में रखे गये वे (आचार्य) उनको शास्त्र-ज्ञान देने के निमित्त-मात्र थे, जो उनके अन्दर स्वयं ही अनायास उद्भासित हो गया था। (और) जिस शास्त्र व कला को वे सीखने के लिए जाते थे, तत्तज्ज्ञों की दृष्टि में सर्वोत्कृष्ट मात्रा में ज्ञान प्राप्त करते हुए देखे जाते थे। और जब लोगों ने कुमार को दैवी शस्त्रों से युद्ध करते देखा, वे महान् धनुर्धारी राम और अन्य चरितनायकों की कहानियों की ओर कम ध्यान देने लगे।'[4] उपर्युक्त उद्धरण यह स्पष्ट कर देता है कि विक्रमादित्य को युद्ध और शान्ति दोनों की कलाओं की शिक्षा दी गई थी। शारीरिक विकास पर भी ध्यान दिया गया था और उनका शरीर सुगठित, आकर्षक और आदर्श था। इन्दुमती के स्वयंवर में भिन्न-भिन्न राजाओं

---

१. आर्ये रसभावविशेषदीक्षागुरोः श्रीविक्रमादित्यसाहसाङ्कस्य'''।

२. व्योमार्णवार्कसंख्याते साहसाङ्कस्य वत्सरे।

महोबादुर्ग अभिलेख इण्डि० एण्टि०, भाग १९, पृ० १७९।

चतुर्भूतारिशीतांशु(१६५२)भिरभिगणिते साहसाङ्कस्य वर्षे।

रामदासकृत सेतुबन्धिका, निर्णयसागर बम्बई संस्करण १९३५, पृ० ५८४।

३. तुलनार्थ—वृत्तचौलकर्मा लिपिसंख्यानं चोपयुञ्जीत। रघुवंश ३, २८।

४. कथासरित्सागर १८, १।

का, जो वहाँ इकट्ठे हुए थे, परिचय कराते हुए कालिदास ने अवन्ती (उज्जयिनी) के राजा के शरीर का एक शब्द-चित्र उपस्थित किया है—'ये अवन्ती के राजा हैं जो दीर्घ एवं सुदृढ़ बाहुओंवाले, विशाल वक्षवाले तथा वर्तुल क्षीण कटिवाले हैं और त्वष्टा के द्वारा सावधानी से अलंकृत सूर्य के सदृश दिखाई पड़ते हैं।''[1]

५. विवाह और पत्नियाँ

कथासरित्सागर के अनुसार जब विक्रमादित्य विवाह की अवस्था को पहुँचे, बहुत-सी राजकुमारियाँ उनके पिता से पराजित राजाओं द्वारा समर्पित की गईं। कन्योपायन इस प्रसङ्ग में कुछ भी विचित्र नहीं था। इसका राजनीतिक महत्त्व था तथा प्राचीन भारत में इसकी प्रथा थी।[2] अतः यह उचित ही था कि महेन्द्रादित्य ने, जिसने अवन्ती में राज्य स्थापित किया था, अपने पुत्र का विवाह पराजित राजाओं की कन्याओं से किया। शासक अभिजाततन्त्र को विशाल रंगमहल का बड़ा शौक था और विक्रमादित्य ने इसमें बहुसंख्यक राजकुमारियों का स्वागत किया। उनके पिता के निधनोपरान्त विजय प्रसंग में जब सुदूरवर्ती राजाओं ने अपनी अधीन मैत्री को मिटाने के लिये युवती राजकुमारियों का उपहार दिया, उनकी पत्नियों की संख्या बढ़ गयी। विक्रमादित्य के कम से कम सात रानियाँ थीं जिनमें मलयावती तथा मदनलेखा अधिक प्रसिद्ध थीं।

६. एक महती विपत्ति

गर्दभिल्ल का बाल-परिवार पुष्पित हो रहा था। किन्तु इसके पूर्व कि वह पूर्णतया स्थिर और स्थापित हो सके, शकों के विनाशकारी आक्रमण के रूप में उस पर विपत्ति का पहाड़ टूट पड़ा। यह घटना उस समय घटित हुई जिस समय विक्रमादित्य अपने माता-पिता के संरक्षण में बहुत छोटे थे। कथासरित्सागर तथा बृहत्कथामंजरी दोनों में विक्रमादित्य के जन्म के पूर्व शकों के अत्याचारों का उल्लेख है। फिर भी इनमें शकों द्वारा महेन्द्रादित्य के पराजय का वर्णन नहीं है बल्कि उन्हें शत्रुनाशक ही कहा गया है। ऐसा मालूम होता है कि महेन्द्रादित्य को इस महती विपत्ति के पूर्व सीमान्त सिन्ध पर म्लेच्छों

---

१. रघुवंश ६, ३२।

२. सेल्यूकस ने चन्द्रगुप्त मौर्य को अपनी कन्या दी थी। स्ट्रैबो, भाग २, अध्याय २, समुद्रगुप्त ने अनेक राजकुमारियाँ प्राप्त की थीं। फ्लीट, गुप्त इन्स० सं० १।

के विरुद्ध कुछ सफलता प्राप्त हुई थी। किन्तु दोनों ग्रन्थों की पृथ्वी की दशा के वर्णन को दृष्टि में रखकर यह निश्चित प्रतीत होता है कि महेन्द्रादित्य म्लेच्छों द्वारा पराजित हुए। जैन स्रोत इस सम्बन्ध में बहुत स्पष्ट हैं। पट्टावलियों, निशीथसूत्र तथा प्रभावकचरित सभी में जैन संत कालक की प्रेरणा से शकों द्वारा गर्दभिल्ल (= महेन्द्रादित्य) के पराजय का उल्लेख पाया जाता है।[१]

७. भारतवर्ष में प्रथम शक-आक्रमण

वह आपत्ति, जिसका ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, प्रथम शती ई० पू० में शकों का प्रथम आक्रमण था। इस तथ्य की पुष्टि स्वतन्त्र रूप से चीन, फारस, मध्य एशिया तथा हिन्दूकुश पर्वत के दक्षिणी प्रदेशों के प्राचीन इतिहास से होती है। यह वह समय था जब शक सीस्तान पहुँच गये थे तथा उन्होंने सिन्ध के उस पार आधिपत्य जमा लिया था।[२] उन्हें अपने पह्लव अधिपति के अधिक अत्याचार सहने पड़ते थे तथा वे किसी नये भू-प्रदेश की खोज में थे जहाँ वे शान्ति से जीवन बिता सकें। शकों की यह परिस्थिति जैन प्रचारकों तथा उज्जयिनी के शासक गर्दभिल्ल के मतभेद के साथ ही उत्पन्न हुई। किन्तु यह शकों को भारत की ओर गमन करने की एक घटना मात्र थी। गर्दभिल्ल से पीडित होकर कालकाचार्य सिन्धु नदी के उस पार (शककुल) शकों के पास पहुँचे। लोभी शक, जिन्हें आवश्यकता भी थी, भारत की ओर आने के लिए अत्यन्त इच्छुक थे। उन्होंने नौकाओं से सिन्धु को पार किया तथा सर्वप्रथम सौराष्ट्र पर आक्रमण किया और उस पर अधिकार कर लिया। यहाँ भारतीयों से किसी संघर्ष का उल्लेख नहीं होता। ऐसा प्रतीत होता है कि यह शकों के लिए सरल अभियान था। फिर भी वे सीधे आगे न बढ़ सके। वे सौराष्ट्र में ठहर गये। वहाँ उन्होंने आधार का निर्माण किया, अपनी शक्ति को संगठित किया तथा वर्षा ऋतु समाप्त होने पर मालवा पर आक्रमण करना आरम्भ कर दिया। गर्दभिल्ल महेन्द्रादित्य शकों के आक्रमण से असावधान और अपनी शक्ति पर अत्यधिक विश्वस्त था। इस अज्ञात अवस्था में ही उस पर आक्रमण हुआ। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उसने बड़ी वीरता तथा दृढ़ता से युद्ध किया। किन्तु शकों की संख्या तथा गति अधिक शक्तिमती सिद्ध हुई। वह पराजित

---

१. द्रष्टव्य—पीछे पृ० २८-३१।

२. द्रष्टव्य—पीछे पृ० ४६-४८।

हुआ तथा बन्दी कर लिया गया। किन्तु कालकाचार्य के हस्तक्षेप से उसे देश-निष्कासन की आज्ञा मिली।[1]

८. देश-निष्कासन तथा गर्दभिल्ल महेन्द्रादित्य के कष्ट

जैन ग्रंथों के अनुसार[2] गर्दभिल्ल महेन्द्रादित्य का निष्कासन हुआ और अपने परिभ्रमण में ही वे सिंह द्वारा मारे गये। उनका वनों में घूमना एक तथ्य है किन्तु सिंह द्वारा उनकी मृत्यु अनुमान-मात्र है जिसका स्पष्टीकरण ब्राह्मणग्रंथों से हो जाता है। उनके अनुसार जिस समय विक्रमादित्य अवन्ती पर अपना शासन स्थापित करने में सफल हुये उस समय गर्दभिल्ल-महेन्द्रादित्य जीवित थे। ब्राह्मण ग्रन्थों में जान-बूझ कर या भूल से देश-निष्कासनवाले तथ्य को छोड़ दिया गया है तथा राज्यारोहण के पश्चात् विक्रमादित्य द्वारा महेन्द्रादित्य को लौटा लाने का वर्णन है। 'तब उसके पिता राजा महेन्द्रादित्य ने यह देख कि उनका पुत्र पूर्ण युवक, अधिक शक्तिमान् तथा प्रजाप्रिय हो गया है, उसे विधिपूर्वक अपने राज्य के उत्तराधिकारी के रूप में अभिषिक्त किया तथा वृद्ध होने के कारण अपनी पत्नी तथा मन्त्रियों के साथ वाराणसी चले गये[3]। संभव है कि उल्लिखित (जीवन से) विश्राम ग्रहण करना महेन्द्रादित्य के अन्तिम दिनों में स्वयं इच्छा से उद्भूत हो तथा इसके पूर्व देश-निष्कासन रहा हो जिसको हिन्दू स्रोतों में छोड़ दिया गया है।

९. विक्रमादित्य की दुर्दशा तथा शक्ति-संचय

शकों के अवन्ती पर आधिपत्य के परिणामस्वरूप न केवल महेन्द्रादित्य अपितु उनका सम्पूर्ण कुटुम्ब छिन्न-भिन्न हो गया। विक्रमादित्य अपने पिता से अलग हो गये तथा अपनी प्राणरक्षा के लिए अपनी माता तथा कुछ सहायकों के साथ उन्हें भागना तथा छिपना पड़ा। विक्रमार्क-सत्त्व-प्रबन्ध से हमें ज्ञात होता है कि 'जब उनके वंश का मूल उज्जयिनी से उखाड़ दिया गया, विक्रमादित्य

---

१. प्रभावकचरित ४, ८१।

२. वही।

३. ततश्च यौवनस्थं तं विलोक्य प्राज्यविक्रमम्।
अभिषिच्य सुतं राज्ये यथाविधि जनप्रियम्॥
महेन्द्रादित्यस्य नृपतिः सभार्यां सचिवोऽपि सः।
वृद्धो वाराणसीं गत्वा शरणं शिश्रिये शिवम्॥ कथासरित्सागर १८. ५९-६०।

का एकमात्र मित्र भट्टमात्र था[१]। ये वर्ष विक्रमादित्य की कठिनाइयों तथा परीक्षा के थे। किन्तु वे कठिनाइयों से विच्छिन्न होने तथा हार माननेवाले लोगों में से नहीं थे। वे एक प्रतिभाशाली नवयुवक थे तथा एक महान् भविष्य उनकी प्रतीक्षा कर रहा था। उनमें अपनी माँ के प्रेरणात्मक उपदेश से शत्रुओं से प्रतिशोध की भावना का क्षत्रिय आदर्श तथा अपने जनों की खोई हुई भाग्य-लक्ष्मी को पुनः प्राप्त करने की भावना बनी हुई थी, यद्यपि उनकी कठिनाइयाँ भिन्न-भिन्न प्रकार की तथा अनेक थी और उनकी अवस्था निस्सहाय थी।

इसी परिस्थिति में उनकी तैयारी आरम्भ हुई। विक्रमादित्य के संमुख सबसे बड़ी समस्या कुशल-सेना-संचालन तथा शक आक्रमणों के विरुद्ध युद्ध का संगठन करने की थी। इस योजना के लिये विक्रमादित्य को बड़ी ही कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। सभी जैन प्रबन्ध विक्रमादित्य की आर्थिक कठिनाइयों का वर्णन करते हैं। साथ ही आवश्यक धन एकत्र करने एवं उनके दृढ़ मनोयोग का भी वर्णन करना नहीं भूलते। एक प्रबन्ध में धन एकत्र करने के कई उदाहरणों में से एक निम्न प्रकार से है : 'धन प्राप्त करने के लिए एक बार अपनी माता से आज्ञा लेकर विक्रमादित्य अपने मित्रों के साथ चल पड़े। रत्नों की एक खान का स्मरण कर उधर ही बढ़े······[२]।' विक्रमादित्य के इस प्रयास की तुलना चाणक्य के नन्दों से युद्ध करने के निमित्त सेना संगठित करने के प्रयास से की जा सकती है।

---

१. उज्जयिन्यां उच्छिन्नवंशो विक्रमादित्यनामा जननीसहायोऽस्ति। तस्य भट्टमात्रो नाम मित्रः। पुरातन प्रबन्धसंग्रह में संकलित, पृ. १।

२. द्रव्यार्जनाय मित्रेण सह जननीमापृच्छ्य चचाल। वज्राकरं स्मृत्वा तदुपरि प्रस्थितः। वही।

पंचम अध्याय

अवन्ती की पुनर्प्राप्ति तथा मालव गण की स्थापना

१. दृढ संकल्प

शकों द्वारा अपनी जाति के पराजय तथा पलायन के बीच विक्रमादित्य असह्य पीड़ा का अनुभव कर रहे थे। किन्तु अपनी भावनाओं को आँसू बनानेवाले तथा कठिन परिस्थितियों के सम्मुख झुकनेवाले व्यक्ति नहीं थे; उन्होंने अवन्ती को पुनः प्राप्त करने तथा अपनी जाति को एक बार फिर दृढ रूप से स्थापित करने का संकल्प किया। कठिनाइयाँ तथा बाधाओं ने, जो उन्हें सहनी पड़ीं, उनके दृढ निश्चय को और भी दृढ कर दिया तथा उन्हें कार्य करने की प्रेरणा प्रदान की। विक्रमादित्य लौह-संकल्प तथा निर्भीक साहस के व्यक्ति थे[1] जिसकी पुष्टि 'विक्रमार्क-सत्त्व-प्रबन्ध'[2] की कहानियों से होती है। उन्होंने शकों के पराजय तथा उनके विरुद्ध युद्ध की तैयारी में अपनी सारी शक्ति लगा दी। उनके अविचल सहायकों—माता तथा मित्र भट्टमात्र से उनका साहस बढ़ा, यद्यपि अपनी आपत्ति के प्रारम्भिक दिनों में वे अपने पिता से छूट गये थे। शकों के निष्कासन में ऐसा जान पड़ता है कि सम्मिलित प्रयास में उनके पिता भी मिल गये। कथासरित्सागर[3] के अनुसार इनके पिता महेन्द्रादित्य अब भी जीवित थे तथा उन्होंने ही विक्रमादित्य का राज्यारोहण-संस्कार किया था। इससे उपर्युक्त बात की पुष्टि हो जाती है।

२. मालव अब भी जीवित थे

यद्यपि मालवों को शकों के कारण अवन्ती से खिसकना पड़ा तथा सम्पूर्ण मालवा पर एक भारी धक्का लगा किन्तु मालव जाति नष्ट नहीं हुई।

---

१. उत्साह इव साकारः प्रत्यक्ष इव विक्रमः। बृहत्कथामंजरी १०, १-६०।

२. पुरातन-प्रबन्ध-संग्रह में संकलित (सिंघी जैन ग्रन्थमाला)।

३. कथासरित्सागर १८, पृ० ५९-६०।

उन्हें उत्तर-पूर्व की ओर खिसकना पड़ा जो उनके लिये पीछे हटने का प्राकृत मार्ग था जिनमें उनकी राजनीतिक तथा आर्थिक दशा शकों द्वारा पराजित होने के कारण गड़बड़ हो गई। विक्रमादित्य को सहायतार्थ अपने लोगों (मालवों) पर प्रमुख रूप से निर्भर रहना पड़ा तथा उन्होंने पहले उन्हीं के बीच तैयारी आरम्भ कर दी।

२. मालवों के मित्र

शकों का पहला आक्रमण मालवों के लिये ही विपत्तिकारक न था बल्कि समीपवर्ती अन्य राज्यों के लिये भी भयंकर था। मालव गणतन्त्रों की विशाल श्रृङ्खला में जिन्होंने पूर्वी पंजाब, राजपूताना, आकर अवन्ती, सिन्ध और सौराष्ट्र पर आधिपत्य जमाया था केवल एक कड़ी मात्र थे। पुरातात्त्विक तथा साहित्यिक प्रमाण प्रथम शती ई० पू० में इन क्षेत्रों में गणराज्यों का अस्तित्व सिद्ध करते हैं। हम संक्षिप्त रूप से इनका निम्नलिखित परिचय देंगे :

(१) **यौधेय**—ये पूर्वी-दक्षिणी पंजाब को अधिगत किये हुये थे। यह पूर्वी पंजाब, सतलज तथा यमुना को घाटियों के समस्त क्षेत्रों में प्रचुर परिमाण में प्राप्त यौधेयों के सिक्कों से स्पष्ट है। पुरालिपिशास्त्रीय आधार पर इन सिक्कों की तिथि द्वितीय शती ई० पू० से लेकर चतुर्थ शती ई० प० है। सिक्कों के प्रारम्भिक वर्ग में ब्राह्मी में 'यौधेयानाम्' (यौधेयों का) लेख है। बाद के सिक्कों पर अधिक विधानात्मक अभिलेख 'यौधेयगणस्य जयः'[१] (यौधेय गण का विजय) है। रुद्रदामन के जूनागढ़ अभिलेख[२] तथा समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति[3] में यौधेयों का महान् शक्ति के रूप में उल्लेख हुआ है।

(२) **मद्र**—मूलतः इन्होंने पंजाब के पूर्वी भाग पर आधिपत्य जमाया था। किन्तु प्रथम शती ई० पूर्व में दक्षिण की ओर जाकर बस गये थे। इन्होंने अपना अस्तित्व चतुर्थ शती तक बनाये रखा। समुद्रगुप्त के अधीनस्थ मित्रों की सूची में यौधेयों के साथ इनका भी उल्लेख हुआ है।[४]

(३) **शिबि**—सिकन्दर के नेतृत्व में यूनानियों के आक्रमण के समय शिवि मालवा के समीपवर्ती (पंजाब के दक्षिणी-पश्चिमी) प्रदेश में ही थे। जब मालव दक्षिण-पूर्व की ओर गये, शिबियों ने भी उनका अनुगमन किया

१. वि. ए. स्मिथ : कैटालॉग आफ् क्वायन्स इन इण्डियन म्यूजियम, भाग १, पृ. १८१।

२. एपिग्राफिया इण्डिका भाग ८, पृ० ४४।

३. फ्लीट : गुप्त इन्सक्रिप्शन्स, सं० १।

४. वही।

तथा मालवा में जाकर बस गये। उनके बहुत से सिक्के चित्तौर के समीप नगरी में प्राप्त हुए हैं। सिक्कों पर अभिलेख है 'मझिमिकाय शिबि जनपदस' (माध्यमिका[1] के शिबियों के देश का)।

(४) आर्जुनायन—आर्जुनायनों के सिक्के राजपूताना से प्राप्त हुए हैं जिन पर लिखा है 'आर्जुनायनानां जयः' (आर्जुनायनों का विजय)। पुरालिपिशास्त्र के आधार पर ये सिक्के प्रथम शती ई० पू० के हैं।[2] समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति में भी उनका उल्लेख आता है।[3]

(५) उत्सव संकेत—महाभारत पुष्कर अथवा राजपूताना में अजमेर के पास इनकी स्थिति बतलाता है। उत्सवसंकेत मालवों के पड़ोसी थे।[4]

(६) शूद्र—सिंध में इन्होंने नगर गणतन्त्र स्थापित किया था[5]। ये शकों द्वारा बड़ी सरलता से पराजित हो गये, किन्तु जाति के रूप में जीवित रहे।

(७) आभीर—मूलतः ये सिन्ध में रहते थे, किन्तु शकों के दबाव के कारण लगता है, उस समय पूर्व की ओर जाकर बस गये। इसका उल्लेख समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति में भी गणतन्त्र के रूप में हुआ है।[6]

(८) कुकुर—ये सौराष्ट्र के रहनेवाले थे। ये भी शकों द्वारा अधिकृत किये गये थे किन्तु जाति के रूप में इन्होंने अपना अस्तित्व कायम रखा। इनका वर्णन महाक्षत्रप रुद्रदामन् के द्वारा पराजित जन के रूप में हुआ है।[7]

(९) वृष्णि—ये महाभारत के प्रसिद्ध वृष्णियों के वंशज थे जिसमें श्रीकृष्ण का जन्म हुआ था। प्रथम शती ई० पू० में ये सौराष्ट्र में थे। इनके सिक्के देश के इसी भाग में प्राप्त हुए हैं जिन पर प्रथम शती ई० पू० की लिपि में यह अभिलेख है 'वृष्णिराजन्यगणस्य त्रतस्य'[8] (देशरक्षण वृष्णिराजन्य-गण का)।

---

१. आर्कोलॉजिकल सर्वे आफ् इण्डिया भाग १४ पृ० १४६।
२. वि० ए० स्मिथ : कैटालॉग आफ् कायन्स इन इण्डियन म्यूजियम पृ० १६६।
३. फ्लीट : गुप्त इन्सक्रिप्शन्स, संख्या १।
४. महाभारत, सभापर्व, ३२।
५. वही।
६. फ्लीट : गुप्त इन्सक्रिप्शन्स, संख्या १।
७. एपि० इण्डि०, भाग ८, पृ० ४४।
८. कनिंघम, कायन्स आफ् ऐंश्यण्ट इण्डिया, पृ० ७०; महाभारत, सभापर्व, ३२।

(१०) **राजन्य**—मथुरा के समीपवर्ती भूप्रदेश को ये अधिकृत किये हुए थे[1]।

(११) **महाराज जनपद**[2]।

(१२) **वामरथ**[3]।

(१३) **शालंकायन**[4]।

(१४) **औदुम्बर**—महाभारत में[5] ये पंजाब के अन्य गण राज्यों के साथ उल्लिखित हैं। इनके सिक्के जिसे लिपिशास्त्रीय आधार पर प्रथम शती ई० पूर्व में रखे जा सकते हैं, उत्तरी पंजाब[6] में पाये गये हैं। उनकी एक शाखा कच्छ में चली गई थी जहाँ प्लिनी ने[7] उन्हें स्थित बताया है। उनके सिक्के आर्जुनायनों के सिक्कों से मिलते-जुलते हैं।

(१५) **मालवक्षुद्रक**—यूनानी साक्ष्यों के अनुसार चतुर्थ शती ई० पू० में मालव तथा क्षुद्रक पंजाब के दक्षिणी-पश्चिमी भाग को अधिकृत किये हुए थे और उन्होंने सिकन्दर के विरुद्ध, जिस समय वह झेलम नदी से वापस जा रहा था, एक संघ का निर्माण किया था। वाह्लीक यवनों (बैक्ट्रियन ग्रीक) तथा मगध साम्राज्य के दबाव के कारण वे दक्षिण-पूर्व की ओर चले गये तथा आधुनिक मालवा और राजपूताना के दक्षिणपूर्वीय भाग में बस गये। ऐसा प्रतीत होता है कि पतंजलि के युग के पश्चात् क्षुद्रक मालवों में घुल गये, किन्तु मालवों का उल्लेख समुद्रगुप्त[8] के समय चतुर्थ शती ई० तक होता है। उनकी बहुत-सी उपशाखायें थीं जिनमें एक अवन्ती पर अधिकार जमाये थी तथा दूसरी दक्षिणी-पूर्वी राजपूताना और पूर्वी मालवा[9] में थीं। ७१ ई० पू० में अवन्ती पर शकों के प्रथम बार तथा ७८ ई० में द्वितीय बार अधिकार

---

१. वही, पृ० ६९।

२. वही।

३. पाणिनि पर पातञ्जल भाष्य ४, १, १५०।

४. वही ५, १, ५८।

५. महाभारत सभापर्व, ३२।

६. कनिंघम, कायन्स आफ् ऐंश्यण्ट इण्डिया, पृ० ६९।

७. कनिंघम द्वारा उद्धृत, वही।

८. फ्लीट : गुप्त इन्सक्रिप्शन्स, संख्या १।

९. कनिंघम, आर्के० स० रि० भाग १४, पृ० १५०। वि० स्मिथ : कैटालॉग आफ् कायन्स, इण्डियन म्यूजियम।

करने के पश्चात् मालकों का अधिकांश राजपूताना के दक्षिणी-पूर्वी भाग में ही रह गया।

ऊपर वर्णित गणराज्यों में से अधिकांश मूलतः पंजाब के ही थे। सिकन्दर महान् के नेतृत्व में यवन आक्रमण के सबल विरोध के पश्चात् वे झुके अवश्य पर इस आक्रमण के बाद भी जीवित रहे। तथापि शीघ्र ही बाद में वे मौर्य और शुङ्गों के साम्राज्यों—वाह्लीक के यवनों के नवीन आक्रमणों—द्वारा हस्तगत कर लिये गये। उन्हें अच्छी तरह दबा दिया गया। किन्तु यह स्वतन्त्रता-प्रेमी जाति भूप्रदेश के अधिकार की अपेक्षा स्वतन्त्रता को अधिक पसन्द करती थी। अतः वे अपने मूल निवासस्थान पंजाब को छोड़ कर दक्षिण-पूर्व चले गये तथा उपर्युक्त क्षेत्रों में नये वासस्थान का निर्माण किया। वे राजपूताना के चारों ओर श्रृंखलाबद्ध हो गये। शुङ्गों की अवनति के पश्चात् जिस समय टिमटिमाते हुए मगध साम्राज्य पर काण्वों का शासन था, इन गणतन्त्रों को अपनी शक्ति को पुनः प्राप्त करने का सुन्दर अवसर प्राप्त हुआ। वे राजपूताना, मध्यभारत, मालवा, सौराष्ट्र तथा सिन्ध में एक सुदृढ़ श्रृङ्खला बनाने में सफल हुए। ये गणतन्त्र विदेशी आक्रमणकारियों के सबसे बड़े शत्रु थे। जिस प्रकार से पंजाब के गणतन्त्रों ने सिकन्दर के नेतृत्व में होनेवाले यवनों के आक्रमण का सबल विरोध किया था उसी प्रकार लगभग ढाई सौ वर्षों के पश्चात् भारतवर्ष के एक भिन्न प्रदेश में शकों के भी दाँत खट्टे कर दिये थे। शकों का भय, भारत में प्रथम और द्वितीय यवन आक्रमण से भी अधिक गम्भीर था। कई प्रकार से इन गणतन्त्रों द्वारा किये गये कार्य पंजाब में इनके पूर्वजों द्वारा किये गये कार्यों से भिन्न थे।

४. संघ-निर्माण

भारतवर्ष में शकों का प्रथम आक्रमण एक झंझावात जैसी घटना थी तथा अकस्मात् घट गई। गणराज्य अपनी रक्षा के लिए संघ का निर्माण न कर सके। अतः इन परिस्थितियों के कारण सिन्ध व सौराष्ट्र को पराजित और अधिकृत होना पड़ा तथा उज्जयिनी में मालवों के गर्दभिल्ल शाखा को तो अत्यधिक क्षति का सामना करना पड़ा। इसे छिन्न-भिन्न कर दिया गया। निःसन्देह यह गर्दभिल्लों के लिए बहुत ही बड़ी आपत्ति थी, किन्तु साथ ही यह एक आँख खोलनेवाली घटना तथा पड़ोसी गण-राज्यों के लिए एक चुनौती थी।

गणतन्त्रों के सदस्य कितने ही वीर तथा स्वतन्त्रताप्रेमी क्यों न हों लेकिन अलग-अलग रूप से गणतन्त्र छोटे राज्य थे और एक संगठित और विस्तृत

विदेशी या साम्राज्यवादी आक्रमण से टक्कर लेने योग्य न थे। यह सिन्ध तथा सौराष्ट्र के समर्पण और अवन्ती के गर्दभिल्लों की पराजय से सिद्ध हो चुका था। इससे एक बड़े उपदेश का काम किया गया। गणतन्त्रों के पास रक्षार्थ एक सुन्दर उपाय भी था। उनके लिए किसी भी बाह्य भय के विरुद्ध संघ-निर्माण कर लेना नियम-सा हो गया था। प्राचीन काल में इस प्रकार के संघों के बहुत से उदाहरण हैं। मगध के अजातशत्रु के साम्राज्यवादी युद्ध में वज्जि तथा मल्लों ने संघ का निर्माण किया था।[1] सिकन्दर के आक्रमण के विरुद्ध मालवों तथा क्षुद्रकों ने अपना संघ बनाया था[2]। विक्रमादित्य ने इस पुरातन परम्परा से लाभ उठाया। अपने मालवगण के संगठन के साथ ही साथ उन्होंने शकों के विरुद्ध राजपूताना, मध्यभारत, पूर्वी पंजाब के गणतन्त्रों का भी एक सुदृढ़ तथा सफल संगठन किया। यह विक्रमादित्य के लिए अद्भुत सफलता थी जिसकी प्रतिध्वनि अभिज्ञानशाकुन्तल[3] में मिलती है, जहाँ उन्हें सौ गणों (गणशत) का, जिसका अभिप्राय बहुसंख्यक गणतन्त्र है, नेता कहा गया है।

५. शकों का निष्कासन

विक्रमादित्य ने संगठित संघ का नेता बन कर अवन्ती की ओर प्रस्थान किया जहाँ घृणित शकों ने उज्जयिनी को अन्याय से अधिकृत कर लिया था। शकों तथा गणतान्त्रिक सेनाओं के बीच घोर युद्ध हुआ किन्तु उसका विस्तृत विवरण नहीं प्राप्त होता। प्रभावकचरित में प्राप्त कालकाचार्य-कथा के अनुसार शकों के उज्जयिनी पर अधिकार करने के कुछ ही काल पश्चात् श्री विक्रमादित्य ने शकों के वंश का उन्मूलन कर दिया तथा विश्वव्यापी सम्राट् की भाँति चमक उठे[4]। मेरुतुंगाचार्य की **विचारश्रेणी** में लगभग वैसा ही वर्णन मिलता है—'कुछ काल बीत जाने पर शक वंश का उन्मूलन करने के पश्चात्, विक्रमादित्य नाम का एक मालवप्रमुख होगा[5]।' इन अभिलेखों की पुष्टि पट्टावलियों

१. कल्पसूत्र १२८।

२. कर्टियस, भाग ९, अध्याय ४; मैक्रिण्डल : इन्व० इण्डि० बाई एलेग्जाण्डर, पृ० २३४।

३. अंक ७, ३४।

४. शकानां वंशमुच्छेद्य कालेन कियताऽपि हि।
राजा श्रीविक्रमादित्यः सार्वभौमोपमोऽभवत् ॥ ६, ९०।

५. कालान्तरेण कवणि उप्पाडित्ता सगाण तं वंसं।
हो ही मालवराया नामेण विक्कमाइच्चो ॥
पट्टावलिसमुच्चय में उद्धृत परिशिष्ट, सी, १९९।

से होती है जिसके अनुसार गर्दभिल्ल (महेन्द्रादित्य) के शासन के पश्चात् शक शासन उज्जयिनी में चार वर्ष रहा, तत्पश्चात् उसका पुत्र विक्रमादित्य गद्दी पर बैठा।

६. राष्ट्रीय संवत् का प्रवर्तन

देश के बहुरंगी इतिहास में शकों का पराजय एक ऐतिहासिक महत्त्व की घटना थी। विदेशी शकों के अत्याचारपूर्ण शासन से देश मुक्त हो गया। इस सफलता का श्रेय कई गणराज्यों के सम्मिलित प्रयास को था जिसमें मालवों ने प्रमुख रूप से भाग लिया था। विक्रमादित्य को शकों पर विजय के कारण 'शकारि'[1] की उपाधि मिली। इस घटना ने देश में शान्ति तथा समृद्धि के युग का प्रारम्भ किया जिसे आलंकारिक भाषा में कृत (सत्ययुग = स्वर्णयुग) कहा गया। भारतीय इतिहास की इस राष्ट्रीय महत्त्व की घटना की स्मृति में एक संवत् की स्थापना की गई। प्रारम्भ में इस संवत् का नाम 'कृत' था क्योंकि इसने शकों के निष्कासन के पश्चात् मालव-गण की सुदृढ़ नींव के समय आलंकारिक भाषा में कृतयुग (स्वर्णयुग) का प्रारम्भ किया। बाद में यह संवत् 'मालवगण-संवत्', 'मालवों का संवत्', 'मालवेशों का संवत्' कहा गया। अन्ततोगत्वा नवीं शती के मध्य में इस संवत् को 'विक्रम-संवत्' या 'राजा विक्रम संवत्' कहा जाने लगा। इस बात की व्याख्या पहले की जा चुकी है कि संवत् के नाम में किस प्रकार परिवर्तन हुए[2]। इसमें कोई सन्देह नहीं कि संवत् की स्थापना का प्रमुख उत्तरदायित्व विक्रमादित्य को ही था। सभी लोकप्रिय तथा जैन अनुश्रुतियाँ इस बात पर सहमत हैं। कालकाचार्य-कथा के अनुसार 'उसने (विक्रमादित्य) एक उच्च तथा महत्त्वपूर्ण सफलता प्राप्त करने के पश्चात् पृथ्वी को भारमुक्त करके अपना संवत् चलाया[3]।' वर्तमान ज्योतिष की परम्परा विक्रमादित्य को भारतीय संवत्सरों के संस्थापकों की श्रेणी में रखती है[4]। किन्तु गणतन्त्र के नेता होने के कारण, राज्य के लिये

---

१. 'शकारि' का अर्थ है 'शकों का शत्रु'। यह विक्रमादित्य का बहुत महत्त्वपूर्ण विरुद था।

२. देखिये, पीछे अध्याय १।

३. स चोन्नतमहासिद्धिः सौवर्णपुरुषोदयात् ।
मेदिनीमनृणां कृत्वाऽचीकरद् वत्सरं निजम् ॥ प्रभावकचरित, ४, ९-१।

४. युधिष्ठिरो विक्रमशालिवाहनो नराधिनाथो विजयाभिनन्दनः ।
इमे तु नागार्जुनमेदिनीविभुर्बली क्रमात् षट् शककारकाः कलौ ॥

विधान के अनुसार संवत् को अपना नाम नहीं दे सकते थे यद्यपि लोगों द्वारा इस संवत् के सम्बन्ध में उनका नाम बराबर स्मरण किया गया। भारतवर्ष से गणतन्त्रों की परम्परा के मिट जाने के बाद भी विक्रमादित्य का नाम कृष्ण और बुद्ध की भाँति जीवित रहा तथा दशम शती के पश्चात् राजकीय कार्यों में भी उनका नाम संवत् के साथ जुट गया।

७. विजय-मुद्राओं का प्रवर्तन

गणराज्यों के शकविजयरूप इस महती सफलता को चिरस्मरणीय बनाये रखने के लिए उन्होंने विजय-मुद्राओं का प्रचलन किया। ये 'स्मारक मुद्रायें' थीं किन्तु बाद में भी उनका अनुकरण होता रहा। बहुत से सिक्कों का पता लगा है जिन पर 'जय मालवानाम्', 'मालवानां जयः', अथवा 'मालवगणस्य जयः' (मालवों का विजय या मालवगण का विजय)। मालवों के सहधर्मी देशभक्तों—राजस्थान, मध्यभारत और पंजाब के अन्य गणतन्त्रों—ने भी मालवों का अनुगमन किया तथा विजय मुद्राओं का प्रचलन किया[1]।

१. वी० ए० स्मिथ : कैटालॉग आफ् क्वायन्स, इण्डियन म्यूजियम भाग १, ट्राइबल क्वायन्स।

षष्ठ अध्याय

राज्यारोहण तथा उपाधियाँ

१. विक्रमादित्य का नेतृत्व

शकों के पराजय तथा उज्जयिनी की पुनर्प्राप्ति में महत्त्वपूर्ण भाग लेकर विक्रमादित्य ने मालव गणतन्त्र के नेतृत्वपद के लिये अपने को पूर्ण योग्य बना लिया था तथा उन्हें नेता अथवा प्रमुख (अध्यक्ष) ठीक ही बनाया गया। तथापि उनके सिंहासनारोहण का वर्णन कथासरित्सागर में भिन्न प्रकार से दिया हुआ है। उससे हमें ज्ञात होता है कि उस समय उनके पिता महेन्द्रादित्य जीवित थे तथा उन्होंने अपने पुत्र को युवा, जनप्रिय तथा प्राज्यविक्रम (अतिपराक्रमी) देखकर विधिवत् राज्यतिलक किया[1]। इसमें महेन्द्रादित्य का समावेश राज्यारोहण को अगणतान्त्रिक अथवा राजतान्त्रिक बना देता है। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि कथासरित्सागर के निर्माता सोमदेव की शैली तथा विचारधारा स्वकालीन राजतान्त्रिक व्यवस्थाओं से प्रभावित रही तथा विक्रमादित्य का राज्यारोहण कुछ अस्पष्ट तथा धुँधला हो गया है। तथापि इस तथ्य को भी ध्यान में रखना चाहिये कि पंजाब के गणतांत्रिक मालव परिवर्तित एवं परीक्षा की घड़ियों में अभिजान-तांत्रिक हो गये थे। नेता का निर्वाचन तथा चुनाव कुछ ही कुटुम्बों में सीमित रह गया था। अन्ततोगत्वा यह आनुवंशिक हो गया, यद्यपि नेता अब भी गण के प्रति उत्तरदायी और अधीन था तथा सिद्धान्ततः जन-सम्मत होता था। यह न केवल जैन तथा पौराणिक साक्ष्य से ही किन्तु नंदसा-यूप लेख जैसे आभिलेखिक साक्ष्यों से भी सिद्ध होता है जिसमें दो-तीन पीढ़ियों तक मालव गण का नेतृत्व पिता से पुत्र को मिलना वर्णित है[2]।

---

१. ततश्च यौवनस्थं तं विलोक्य प्राज्यविक्रमम्।
अभिषिच्य सुतं राज्ये यथाविधि जनप्रियम् ॥ १८, १-५९।

२. एपि० इ०, भाग २७।

२. राजतान्त्रिक उपाधियाँ निषिद्ध

यद्यपि गणतान्त्रिक विधान में नायक की शक्ति तथा सम्मान बढ़ गया था किन्तु फिर भी दर्पपूर्ण राजतान्त्रिक उपाधियों को धारण करना गण को स्वीकृत नहीं था। कौटिल्य से हमें ज्ञात होता है कि दक्षिण तथा पश्चिम के गणतन्त्र राजतान्त्रिक उपाधियाँ नहीं धारण करते थे यद्यपि उसी काल में पूर्वी गणतन्त्र 'राजा' की उपाधि धारण करते थे जो सामान्यतः राजतान्त्रिक उपाधि थी। दक्षिण तथा पश्चिम के गणतन्त्र वार्ताशस्त्रोपयोगी (आर्थिक तथा सैनिक औचित्य पर आधारित विधान से सम्बन्धित) थे[१]। अतएव विक्रमादित्य अपने नाम के आगे कोई उपाधि नहीं लगा सकते थे। इस तथ्य की पुष्टि अभिज्ञान-शाकुन्तल की एक हस्तलिपि[२] से होती है। इस हस्तलिपि के अनुसार सूत्रधार नाटक का परिचय देते हुये अपने आश्रयदाता का नाम श्रीविक्रमादित्य बताता है। निस्संदेह उसी हस्तलिपि से हमें ज्ञात होता है कि विक्रमादित्य ने साहसाङ्क उपाधि धारण की थी। विक्रमादित्य की यह उपाधि भोजदेव ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सरस्वतीकण्ठाभरण'[३] में दी है। कथासरित्सागर के अनुसार वे विषमशील कहे जाते थे[४]। विक्रमादित्य का सर्वाधिक लोकप्रिय तथा प्रसिद्ध विरुद 'शकारि' था जिसके रूपान्तर 'शकाराति' तथा 'शकान्तक' भी पाये जाते हैं[५]। ध्यान देने की बात यह है कि ये उपाधियाँ राजतान्त्रिक नहीं थीं किन्तु विक्रमादित्य द्वारा रणक्षेत्र तथा शासन में कुशलता द्वारा अर्जित थीं। जैन लेखक भी, जो उनकी सफलताओं और पौरुष का उल्लेख करते हैं, उन्हें सम्राट् नहीं कहते। वे केवल इतना ही कहते हैं, 'वे सार्वभौम सम्राट् की तरह चमक उठे[६]।' अन्तिम पद इस बात का संकेत करता है कि विक्रमादित्य ने कोई राजतान्त्रिक उपाधि नहीं धारण की।

३. विक्रमादित्य को उपदेश

जिस प्रकार मालवों में नेता के पद को आनुवंशिक बनाने की प्रवृत्ति थी

---

१. अर्थशास्त्र, ११, १-१६० ।
२. देखिये, पीछे अध्याय १ ।
३. काले श्रीसाहसाङ्कस्य के न संस्कृतवादिनः ।
४. १८, १ ।
५. अभिनन्दनकृत रामचरित २, ८, २ पर क्षीरस्वामी की टीका ।
६. प्रभावकचरित ।

उसी प्रकार राजतान्त्रिक उपाधियाँ धारण करने की ओर भी उनका झुकाव बढ़ता जा रहा था। जैन ग्रन्थ प्रबन्धकोश[1] में एक बड़ी मनोरंजक कहानी है। इसमें यह कहा गया है कि एक बार विक्रमादित्य गर्वाभिभूत हो राजतान्त्रिक शासक की तरह व्यवहार करना चाहते थे, जिसके लिए उन्हें एक बहुत बड़ा प्रतिघात मिला और वे विनम्र पड़ गये। कहानी उद्धृत करने योग्य है। यह इस प्रकार है :

'जिस समय विक्रमादित्य उज्जयिनी में राज्य कर रहे थे एक समीपवर्ती ग्राम में रहनेवाले ब्राह्मण ने हल चलाते समय चमकीली मणि पायी। उसका मूल्यांकन करने के लिए वह उज्जयिनी के जौहरी के पास गया। जौहरी उस मणि को देखकर आश्चर्यान्वित रह गया और परखने में अपनी अयोग्यता बताकर ब्राह्मण को विक्रमादित्य के पास जाने की राय दी। विक्रमादित्य भी उस रत्न का मूल्यांकन करने में असफल हुए। वे ब्राह्मण से रत्न लेकर बलि के वासस्थान की ओर चले जो विश्व में सबसे बड़े मणि-पारखी समझे जाते थे। बलि के द्वार की रक्षा नारायण कर रहे थे जिनको विक्रमादित्य ने नमस्कार किया। नारायण ने पूछा, 'किस लिए यहाँ आये हो?' विक्रमादित्य ने उत्तर दिया कि 'जाकर उनसे (बलि से) कहिये कि राजा एक अत्यावश्यक कार्यवश आये हैं तथा उन्हें कुछ कहना है।' नारायण बलि के पास पहुँचकर बोले, 'राजा आये हैं तथा द्वार पर प्रतीक्षा कर रहे हैं।' बलि ने चौंक कर पूछा, 'नारायण! जाकर पूछिये तो क्या वे राजा युधिष्ठिर हैं?' विक्रमादित्य ने उत्तर दिया, 'नहीं, लगता है वे केवल युधिष्ठिर को ही अपना राजा समझते हैं। उनसे जाकर कहिये कि माण्डलिक आये हैं।' ऐसा बताये जाने पर बलि ने पुनः पूछा, 'माण्डलिक? क्या वे रावण हैं?' नारायण द्रुतगति से विक्रमादित्य के पास पहुँचे और वही प्रश्न किया। विक्रमादित्य अपनी स्थिति को दुहराते हुए बोले, 'उनसे जाकर कहिये कुमार आये हैं।' बलि ने नवीन उपाधि सुनकर पूछा, 'क्या वे कार्तिकेय, लक्ष्मण या नागपुत्र धवलचन्द्र हैं?' नारायण ने इस प्रश्न को विक्रमादित्य से दुहराया। विक्रमादित्य ने उत्तर दिया कि 'जाकर कहिये कि वण्ठ आये हैं।' नारायण के द्वारा ऐसा ही कहे जाने पर बलि ने पुनः पुछवाया, 'क्या वे हनुमान् हैं?' नारायण विक्रमादित्य के पास वापस चले आये तथा उनसे यह प्रश्न किया

---

[1] २, १७, १० (विक्रमादित्यप्रबन्ध)।

जिसका उत्तर उन्होंने बड़ी निराशा से दिया, 'जाइये' उनसे कह दीजिये कि 'तलारक्ष' आया है।' नारायण झट से विक्रमादित्य के पास पहुँचे तथा कहा, 'क्या तुम विक्रमादित्य हो ?' उत्तर मिला 'हाँ'।'

हमें उपर्युक्त कथा का विश्लेषण करना चाहिए और उसमें प्रयुक्त विभिन्न उपाधियों में निहित अर्थ भी देखना चाहिए। हमें यह भी देखना चाहिए कि अन्तिम उपाधि के अतिरिक्त अन्य उपाधियाँ क्यों नहीं उपयुक्त हुईं। उपाधियों की निम्नलिखित व्याख्या हो सकती है :

(१) **राजा**—साधारण तौर पर इस शब्द का अर्थ शासक अथवा राज्य करनेवाला है। अमरसिंह अपने शब्दकोश में 'राजन्' शब्द से व्युत्पन्न विशेषणों में बहुत सूक्ष्म अन्तर करते हैं। उनके अनुसार 'राजन्वत्' का अर्थ है 'उत्तम व न्यायप्रिय व्यक्ति द्वारा शासित प्रदेश'।[1] कालिदास अपने रघुवंश में[2] इस भाव में कि 'पृथ्वी इस राजा के कारण ही राजन्वती कही जाती है' यह सूक्ष्म अन्तर दर्शाते हैं। सम्भवतः इस अन्तर को मस्तिष्क में रखकर विक्रमादित्य ने सोचा कि वह एक उत्तम और न्यायप्रिय शासक होने के कारण बलि से राजा कहकर अपना परिचय दे सकता है। बलि ने उन्हें नीचा दिखाने के लिए स्मरण दिलाया कि वे राजतान्त्रिक उपाधि 'राजा' नहीं धारण कर सकते और यह उपाधि युधिष्ठिर जैसे पुण्यात्मा शासकों के ही योग्य है।

(२) **माण्डलिक**—इस शब्द का अर्थ है, 'द्वादश राजाओं के समूह का अधिपति[3]।' विक्रमादित्य संघ के प्रधान थे और उन्होंने अपना प्रभाव बहुत से समकालीन शासकों पर फैला दिया था। उन्होंने समझा कि यह पूर्णरूपेण उचित ही है यदि वे अपना परिचय माण्डलिक के रूप में दें। तथापि बलि ने विक्रमादित्य द्वारा धारण की गयी इस राजतान्त्रिक उपाधि को तिरस्कारपूर्वक अस्वीकार कर दिया और साम्राज्यवाद के वास्तविक स्वरूप की ओर संकेत किया जिसे रावण जैसे शक्तिशाली तथा आसुरिक राजा ही प्राप्त कर सकते थे।

---

१. सुराज्ञि देशे राजन्वान् स्यात्ततोऽन्यत्र राजवान्। अमरकोश २, १३।

२. कामं नृपाः सन्तु सहस्रशोऽन्ये राजन्वतीमाहुरनेन भूमिम्। ६, २२।

३. अमरकोश, ८, ३।

(३) **कुमार**—साधारणतया राजनीतिक अर्थ में इसका तात्पर्य है, 'राजकुमार' या 'युवराजकुमार'[1] तथा सैनिक (पौराणिक) अर्थ में इसका तात्पर्य है युद्ध के देवता 'कार्तिकेय'।[2] कालिदास रघुवंश में इस शब्द का प्रयोग दूसरे अर्थ में करते हैं। कुमार की उपाधि उपर्युक्त अन्य उपाधियों की अपेक्षा कुछ निम्न श्रेणी की थी। किन्तु यह विक्रमादित्य की सैनिक योग्यता दिखाने के लिए सार्थक थी। बलि इस उपाधि को भी स्वीकार करने को प्रस्तुत नहीं थे क्योंकि यह सैनिकता और रक्तप्लावन से सनी हुई थी। एक सच्चे गणतान्त्रिक नेता से यह आशा नहीं की जाती कि वह केवल सैनिक विभव के लिए युद्ध छेड़े। युद्ध लड़ने के लिए विक्रमादित्य बाध्य थे तथा उन्होंने अपने को एक सफल सेनानायक सिद्ध कर दिया था। किन्तु अपनी सैनिकता पर गर्व करना तथा उसकी डींग हाँकना बलि के प्रतिकूल था विशेषतः विक्रमादित्य जैसे गणतंत्र के नायक के लिए और भी।

(४) **वण्ठ**—वण्ठ शब्द का अर्थ है 'स्वामी की सेवा में पूर्वरूप से रत सेवक'।[3] गणतन्त्र के नेता ने सोचा कि चूंकि जनता की सेवा में उसने अपने को उत्सर्ग कर दिया है अतः वण्ठ की उपाधि बलि से परिचय देने के उपयुक्त होगी। बलि को पूर्ण विश्वास नहीं हुआ कि विक्रमादित्य का अहं पूर्ण रूप से समाप्त हो गया है अतः उन्होंने इस उपाधि पर भी आपत्ति की।

(५) **तलारक्ष**—इस शब्द का शाब्दिक अर्थ है 'पृथिवी का रक्षक'। विक्रमादित्य की यह नीरस और कर्तव्यपरक उपाधि बलि के लिए सन्तोषजनक थी। यहाँ इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि भारतीय नरेशों के द्वारा यह उपाधि कभी भी धारण नहीं की गई। वस्तुतः यह राजतान्त्रिक उपाधि थी भी नहीं।

उपर्युक्त कथा से यह संकेत मिलता है कि मालवों के गणतान्त्रिक विधान में अध्यक्ष अथवा नेता राजकीय अथवा राजतान्त्रिक उपाधि नहीं धारण कर सकते थे। संभव है गणतन्त्र के कुछ महत्त्वाकांक्षी सदस्य राजकीय उपाधियों के लिए लुभायमान हो गये हों। लेकिन गण सम्मिलित रूप से व्यक्तियों से अब भी प्रबल था तथा व्यक्तिगत सदस्यों को इस तरह की उपाधियाँ धारण

---

१. युवराज्यक्ष कुमारो, वही ७, १२।

२. ३, ५; अमरकोश १, ४०।

३. 'वठि चर्यायाम्'। पाणिनीय व्याकरण, सिद्धान्त-कौमुदी, भ्वादिप्रकरण।

करने की स्वीकृति नहीं थी। आठवीं अथवा नवीं शती के पश्चात् प्राचीन भारतीय परम्पराओं में भ्रान्ति उत्पन्न हो गयी तथा विक्रमादित्य का जीवन जनता के सम्मुख समय के अनुसार प्रस्तुत किया गया। हिन्दू तथा जैन दोनों ही अनुश्रुतियाँ विक्रमादित्य तथा गर्दभिल्ल को भूभृत्, राजा, नृपति, देव, आदि उपाधियों से विभूषित करती हैं जिनमें सभी का अर्थ राजा है। इस भ्रान्ति के होने का कारण यह है कि विक्रमादित्य के बारे में अनुश्रुतियों को उन लोगों ने लिपिबद्ध किया जो अब गणतान्त्रिक नहीं रह गये थे तथा जो जनतान्त्रिक अनुश्रुति के प्रति उदासीन हो गये थे। उन्होंने विक्रमादित्य की सैनिक, शासन-सम्बन्धी तथा सर्वहितवादी गुणों की प्रशंसा की क्योंकि वे अब भी उनसे परिचित थे। किन्तु वे जनतन्त्र के विधानों को एकदम भूल गये थे। कृष्ण तथा बुद्ध के समानान्तर उदाहरण वर्तमान हैं। पुराविदों के अतिरिक्त आज कौन इस बात को जानता है कि कृष्ण एक गणसंघ के नेता थे तथा बुद्ध गण-तन्त्र के अध्यक्ष के पुत्र थे?

सप्तम अध्याय

युद्ध तथा प्रभुत्व

१. शक आक्रमणों से युद्ध अनिवार्य

विक्रमादित्य के नेतृत्व में गणतान्त्रिक मालवों ने जो युद्ध किये सच पूछिये तो वे भारतवर्ष में शकों के प्रथम आक्रमण के परिणाम थे। अवन्ती से शकों का निष्कासन ही पर्याप्त नहीं था। विशेषतः मध्य भारत, तथा राजस्थान और साधारण तौर से सम्पूर्ण भारत तब तक सुरक्षित नहीं था जब तक शक अपरान्त (उत्तरी कोंकण), सुराष्ट्र (काठियावाड़) और सिन्धु (सिन्ध) अथवा भारत के पश्चिमी सीमान्त के समीपवर्ती भागों में ठहरे हुए थे। भारत तब तक भी सुरक्षित नहीं था जब तक वह विच्छिन्न अथवा राजनीतिक रूप से असंगठित था और देश के भिन्न-भिन्न राज्यों को संगठित करने का उपाय शीघ्रातिशीघ्र नहीं निकाला जाता। प्रथम कार्य विदेशियों के विरुद्ध कठोर युद्ध का था। दूसरा आन्तरिक समस्याओं का समाधान या तो अनुनय से किया जा सकता था या बलप्रयोग से। विक्रमादित्य के सम्मुख मौर्यों का प्राचीन उदाहरण था। मौर्य गणतान्त्रिक जाति के थे किन्तु चन्द्रगुप्त मौर्य के नेतृत्व में उन्होंने युद्ध तथा विजय का जीवन बिताया। तथापि विक्रमादित्य तथा चन्द्रगुप्त मौर्य के जीवनचरित में काफी विभिन्नता थी। शक्ति तथा भूप्रदेश की वृद्धि के साथ मौर्य गणतन्त्र की मूलभूमि समाप्त हो गयी क्योंकि चन्द्रगुप्त मौर्य ने असुरविजयी (साम्राज्य-विस्तार करनेवाले) की भाँति विजयप्राप्ति की थी तथा अन्ततोगत्वा वह सम्राट् बना था। दूसरी ओर विक्रमादित्य राज्य-विस्तार कर लेनेवालों में (असुरविजयी) नहीं, किन्तु धर्मविजयी[1] (वह विजेता जो केवल अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए न कि अन्य राजाओं अथवा राज्यों के भूप्रदेश को अपने राज्यों में सम्मिलित

---

१. इससे स्पष्ट हो जाता है कि विक्रमादित्य को भारतवासी क्यों स्मरण करते हैं जब कि चन्द्रगुप्त मौर्य को लोग भूल गये हैं?

करने के लिए विजय करता है) थे । मालव गणतन्त्र नष्ट नहीं हो सका अपितु उसका पुनः दृढ़ संगठन (मालवगणस्थिति) हुआ तथा विक्रमादित्य गणतान्त्रिक ही रहे, यद्यपि उनमें कुछ राजतान्त्रिक प्रवृत्ति आ गई थी। समय की माँग के अनुसार विक्रमादित्य को, प्रथम तो शकों को निकाल कर भारत को मुक्त करने और सम्भव विदेशी आक्रमणों से देश की रक्षा करने के लिए तथा दूसरे, जैसा कि उनके युद्धों के वर्णनों से प्रतीत होता है, अपने प्रभुत्व तथा ख्याति के लिए युद्ध करना पड़ा।

२. युद्ध तथा विजय के साहित्यिक वर्णन

बृहत्कथामंजरी में विक्रमादित्य के सैनिक पराक्रम के उल्लेख बिखरे हुए हैं जिनको निम्नलिखित प्रकार से रखा जा सकता है :

(१) 'राजा विषमशील (विक्रमादित्य) ने जो एक महान् धनुर्धर थे और म्लेच्छोन्मूलन की कला में दीक्षित थे, अपने पिता के निधन के बाद पृथ्वी का शासन किया।'[1]

(२) 'हे देव ! दक्षिणापथ के भूपतियों ने लक्ष्मी-रक्षा में महौषधि-तुल्य आपके शासन की मालिका को अपने किरीटकोटि पर धारण कर लिया।'[2]

(३) 'सच है, त्रिजगज्जयी श्रीविक्रमादित्य विजय प्राप्त करते हैं।'[3]

(४) 'तत्पश्चात् वे पापी म्लेच्छ नरेश मार डाले गये।'[4]

(५) विक्रमादित्य ने बड़ी सरलता से सब पर विजय पायी। म्लेच्छों, कम्बोजों, यवनों (यूनानियों), बर्बरों सहित नीच हूणों, तुषारों, पारसीकों को, जिन्होंने अपने आर्याचार का त्याग कर दिया था तथा जो (सांस्कृतिक रूप से) पतित हो गये थे, भ्रूभंग मात्र से मारकर विक्रमादित्य ने पृथ्वी का भार उतार डाला।'[5]

---

१. राजा विषमशीलोऽथं जनके प्रशमं स्थिते।
शशास वसुधां धन्वी म्लेच्छोच्छादनदीक्षितः ॥ १०, १, २२ ।

२. देव दक्षिणदिग्भूपैर्युष्मच्छासनमालिका ।
किरीटकोटौ निक्षिप्ता लक्ष्मीरक्षामहौषधिः ॥ १०, १, १५ ।

३. सत्यं श्रीविक्रमादित्यो जयति त्रिजगज्जयी। १०, १, ३०।

४. अत्रान्तरे महतास्ते पापा म्लेच्छशकाधिपाः। १०, १, १५०।

५. अथ श्रीविक्रमादित्यो हेलया निर्जिताखिलः।
म्लेच्छान्कम्बोजयवनान्नीचान्हूणान्सबर्बरान् ॥
तुषारान्पारसीकांश्च त्यक्ताचारान्विशृङ्खलान्।
हत्वा भ्रूभंगमात्रेण भुवो भारमवारयत् ॥ १०, १, २८५–२८६ ।

(६) सिंहलेश्वर[1] तथा विदर्भराज[2] के भी प्रभुत्व स्वीकार करने का उल्लेख है।

कथासरित्सागर में विक्रमादित्य के युद्ध तथा विजयों का विस्तृत विवरण है :

(१) हे देव ! आपने अपरान्तसहित दक्षिणापथ को, सौराष्ट्रसहित मध्यदेश को और अंग-वंग-सहित पूर्वी प्रदेश को जीत लिया; कश्मीर एवं काष्ठासहित उत्तरी प्रदेश को करद बना लिया तथा विभिन्न दुर्गों व द्वीपों को जीत लिया; म्लेच्छ-वृन्दों को मार डाला और शेष को वश में कर लिया। बहुत से नरेश (विक्रमादित्य के सेनानायक) विन्ध्यशक्ति के शिविर में जा घुसे।[3]

(२) उन विशिष्ट राजाओं का भी उल्लेख हुआ है जिन्होंने विक्रमादित्य के सेनानायक विन्ध्यशक्ति के शिविर में प्रवेश किया था :

'प्रभो ! यह गौडाधिराज शक्तिकुमार हैं जो अपना सम्मान आपको समर्पित करने आये हैं। यह कर्णाटक के राजा जयध्वज हैं, यह लाट के राजा विजयवर्मन् हैं, यह कश्मीर के सुनन्दन हैं, यह सिन्धुराज गोपाल हैं, यह भिल्लराज विंध्यबल हैं और यह पारसीकों के राजा निर्मूक हैं'।[4]

(३) प्रेम तथा युद्ध की सौन्दर्यमूलक कहानियों में सिंहलनरेश[5] तथा कलिंगराज[6] का उल्लेख विक्रमादित्य के सम्मुख समर्पण के प्रसंग में हुआ है। उन्होंने अपनी कन्याओं को भी, राजनीतिक सम्बन्धों को मधुर बनाने के लिये, दिया।

---

१. क्रमेणाम्बुधिमुत्तीर्य यातोऽहं सिंहलेश्वरम्। १०, १, २३।

२. ततो विदर्भराजेन.................. । १०, १, १५०।

३. सापरान्तश्च देवेन निर्जितो दक्षिणापथः। मध्यदेशः ससौराष्ट्रः सवङ्गाङ्गा च पूर्वदिक्॥ सकश्मीरा च कौवेरी काष्ठाश्च करदीकृताः। तानि तान्यपि दुर्गाणि द्वीपानि विजितानि च॥ म्लेच्छसंघाश्च निहता शेषाश्च स्थापिता वशे। ते ते विक्रमशक्तेश्च प्रविष्टाः कटके नृपाः॥ २३, १, ७६-७८।

४. गौडशक्तिकुमारोऽयं कर्णाटोऽयं जयध्वजः।
लाटो विजयवर्मायं काश्मीरोऽयं सुनन्दनः॥
गोपालः सिन्धुराजोऽयं भिल्लो विन्ध्यबलोऽप्ययम्।
निर्मूकः पारसीकोऽयं नृपः प्रणमति प्रभो॥ १८, ३, २३।

५-६. १८, १, ८६ और आगे २।

३. विजित प्रदेशों और लोगों का समीकरण

(१) **दक्षिणापथ :** यह प्रदेशवाचक शब्द है जो नर्मदा के दक्षिण में स्थित भारत के भू-भाग का निर्देश करता है। इसमें सम्पूर्ण दक्षिण (दकन) और सुदूर दक्षिण समाहित है।[१]

(२) **अपरान्त :** इसका शाब्दिक अर्थ है पश्चिमी (अपर) सीमा (अन्त) अर्थात् देश का पश्चिमी सीमान्तप्रदेश। विस्तृत रूप में इस पद का अर्थ है कोंकण तथा मालाबार सहित पश्चिमी तट।[२] सीमित अर्थ में इससे 'उत्तरी कोंकण' का बोध होता है जिसकी राजधानी शूर्पार (आधुनिक सोपारा) थी।

(३) **मध्यदेश :** कुछ पुराणों[३] के अनुसार मध्यदेश में पाञ्चाल, कुरु, मत्स्य, यौधेय, पतच्चर, कुन्ति तथा शूरसेन के प्रदेश सम्मिलित थे; कुछ के अनुसार इसमें पूर्व में प्रयाग तक के प्रदेश सम्मिलित थे। बौद्ध ग्रन्थ मध्यदेश का पर्याप्त विस्तार प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार मध्यदेश की सीमा 'पूर्व में कजंगल नगर तथा उसके बाद महाशाल (मोटे तौर पर राजमहल की पहाड़ियाँ) तक, दक्षिणपूर्व में सालवती नदी, दक्षिण में सेतकण्णिक नगर, पश्चिम में थूण नगर व जिले तक तथा उत्तर में उशीरध्वज पर्वत तक थी'[४]। कथासरित्सागर में इसके उल्लेख से ऐसा जान पड़ता है कि इसमें उत्तरापथ (पंजाब और पश्चिमी सीमा प्रान्त) तथा सुराष्ट्र (काठियावाड़ और उत्तरी गुजरात) को छोड़ कर सम्पूर्ण उत्तरी भारत आ जाता है।

(४) **सौराष्ट्र :** साधारणतः इसका तात्पर्य है गुजरात या काठियावाड़ प्रायद्वीप। किन्तु कभी-कभी गुजरात, कच्छ और काठियावाड़ के सम्मिलित भू-प्रदेश के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है।

(५) **पूर्वदिक् :** इसका अर्थ है 'प्राची' अथवा यूनानी लेखकों का प्रसाई जो मध्यप्रदेश के पूर्व में पड़ता है। यह अस्पष्ट रूप से भारत के पूर्वी भाग का निर्देशक है।

(६) **अंग :** मोटे तौर पर इसमें बिहार का पूर्वी भाग, दरभंगा, मुंगेर तथा भागलपुर के जिले आते हैं। बौद्ध साहित्य[५] के षोडश महाजनपदों में यह एक है।

---

१. मत्स्यपुराण, अध्याय ११४; राजशेखरकृत बालरामायण।

२. मार्कण्डेयपुराण, अध्याय ५८।

३. गरुडपुराण, अध्याय १।

४. महावग्ग, ५, १५, १३।

५. अंगुत्तरनिकाय १, ४।

(७) **वंग** : इसमें बंगाल का दक्षिणी पूर्वी भाग सम्मिलित है। बुकानन के अनुसार इसका अर्थ पूर्वी बंगाल है[1], जब कि भाऊदा जी[2] के अनुसार ब्रह्मपुत्र और पद्मा के मध्यवर्ती भाग को वंग कहते हैं।

(८) **काश्मीर** : मोटे तौर पर आधुनिक काश्मीर उसका प्रतिनिधित्व करता है। कभी यह गन्धार-राज्य में भी मिला लिया गया था।

(९) **कौबेरी** : इस शब्द का पौराणिक अर्थ है 'उत्तरी प्रदेश' अतः यह सीमित अर्थ में उत्तरापथ का निर्देश कर सकता है जिसमें पंजाब तथा पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त सम्मिलित थे।

(१०) **काष्ठा** : संस्कृत में 'काष्ठा' शब्द का अर्थ है छोर, सीमा आदि[3]। इससे सुदूर उत्तरी पश्चिमी सीमा का अर्थ लगाया जा सकता है।

(११) **सिंहल** : लंका का अत्यन्त प्रसिद्ध द्वीप है।

(१२) **द्वीप** : ये भारतमहासागर में स्थित थे। कभी-कभी द्वीप का अर्थ प्रदेश भी होता है।

(१३) **कलिंग** : महानदी तथा गोदावरी के बीच का भू-प्रदेश कलिंग नाम से अभिहित किया जाता है। महाभारत[4] के अनुसार वैतरणी नदी तक उड़ीसा का एक बड़ा भाग इसमें सम्मिलित था। तथापि कालिदास[5] उत्कल का कलिंग से पृथक् उल्लेख करते हैं।

(१४) **विदर्भ** : यह आधुनिक बरार है।

(१५) **म्लेच्छ** : यूनानियों के 'बर्बरों' की भाँति 'म्लेच्छ' शब्द का अर्थ 'विदेशी' था। किन्तु प्रथम शताब्दी ई० पू० के संदर्भ में यह विशेष रूप से शकों के लिए प्रयुक्त होता था। बृहत्कथामंजरी में एक स्थान पर म्लेच्छ-शक[6] शब्द आया है जो इस समीकरण की पुष्टि करता है।

(१६) **कम्बोज** : इस भू-प्रदेश में उत्तरी पश्चिमी कश्मीर, सीमाप्रान्त का उत्तरी सीमान्त तथा पामीर के पठार का दक्षिणी भाग सम्मिलित था।

---

१. बिवरिजकृत 'बुचननारिकार्ड्स' कलकत्तारिव्यू १८९४, पृ. २।

२. दे० उनकी पुस्तक 'लिटरेरी रिमेन्स'

३. कुमारसम्भव ३, ३५।

४. आदिपर्व, अध्याय २१५।

५. रघुवंश, सर्ग ४।

६. १०, १, १५०।

(१७) यवन । (१९) तुषार ।
(१८) हूण । (२०) पारसीक ।[1]

४. विस्तृत विजय की सम्भावना

इसके पहले कि हम ऊपर वर्णित विक्रमादित्य की व्यापक विजय या उसकी सम्भावना पर विचार करें, प्रथम शती ई० पू० में भारत की राजनीतिक अवस्था पर विचार कर लेना अच्छा होगा । उत्तर में मगध का विशाल साम्राज्य भग्न हो चुका था तथा कण्वों के दुर्बल हाथों में वह एक साधारण राजशक्ति बन कर रह गया था । बहुत से गणतन्त्र मगध के साम्राज्यवादी दबाव से मुक्त हो गये थे, जो पूर्वी पंजाब, राजस्थान, मध्यभारत व मालवा, सुराष्ट्र तथा सिन्ध में अपना अधिकार जमाये हुए थे और सम्मान एवं शक्ति के साथ शासन कर रहे थे । सुदूर पश्चिमोत्तर सीमा में वाह्लीक-यवन (बैक्ट्रियन ग्रीक) दुर्बल हो गये थे । वे गणतन्त्रों के पुनर्जीवन तथा पश्चिम से शक एवं पह्लवों के दबाव से मृतप्राय-से हो गये थे । शक्तिशाली कुषण अभी राजनीतिक मंच पर नहीं आये थे । दक्षिण में साम्राज्यवादी आन्ध्र भिन्न-भिन्न भागों में विभक्त होकर आन्ध्र, विदर्भ और कर्णाटक में शासन कर-रहे थे । कलिंग, सुदूर दक्षिण, सिंहल तथा अन्य प्रदेशों में केवल दुर्बल शासक रह गये थे । यह राजनीतिक विप्लव और विच्छिन्नता का युग था । इस परिस्थिति में किसी भी महत्त्वाकांक्षी तथा साधनसम्पन्न शासक के लिए, जो संगठित सेना का संचालन कर सकता हो, सम्पूर्ण देश पर सफल अभियान करने का सुन्दर अवसर था । इसके अतिरिक्त विक्रमादित्य का प्रभुत्व तथा प्रभाव वस्तुतः युद्धों और शस्त्र पर ही निर्भर नहीं था । उन्होंने प्रभुता के संघर्ष में समझौते कूटनीति, और धमकी के प्रभावशाली आयुधों का भी प्रयोग किया था । कालिदास रघु की दिग्विजय की नीति का वर्णन करते हुए अपने आश्रयदाता की ही विजय-नीति का वर्णन करते हैं : 'उसकी सेना चतुर्धा संविभक्त होकर अभियान करती थी । सबसे आगे प्रताप रहता था तत्पश्चात् शब्द, तदनन्तर पराग (धूल) और फिर सबसे बाद में रथ चलता था ।[2]' जो कुछ भी अब तक हमने देखा है उससे स्पष्ट है कि

---

१. संख्या १७ से २० तक की सुविख्यात जातियाँ थीं । उनमें से प्रथम ३ मध्यएशिया तथा पामीर के समीपवर्ती प्रदेश पर अधिकार किये हुए थीं । चतुर्थ फारस नामक देश के रहनेवाले थे ।

२. प्रतापोऽग्रे ततः शब्दः परागस्तदनन्तरम् ।
ययौ पश्चाद्रथादीनि चतुष्कन्धेन सा चमूः ॥ रघुवंश ४, ३० ।

विक्रमादित्य जैसे योग्य और महत्त्वाकांक्षी नेता के लिए, देशव्यापी आक्रमण के संगठन के लिये तथा सम्पूर्ण देश पर प्रभुता स्थापित करने के लिए पर्याप्त अवसर था।

५. भारत के बाहर आक्रमण

भारत में प्रभुत्व स्थापित कर लेने पर प्रभुशक्ति के ऊपर एक बड़ा उत्तरदायित्व आ पड़ा और वह उत्तरदायित्व था एक ओर सिन्ध पार और मध्य-एशिया की लोभी और लड़ाकू जातियों से और दूसरी ओर पारसीक साम्राज्य से भेद्य उत्तर पश्चिमी सीमाप्रान्त की रक्षा करने का। इन जातियों का निष्कासन और उन पर प्रभुत्व-संस्थापन भारत के किसी भी परम्परागत दिग्विजय के महत्त्वपूर्ण अंग रहे हैं। बृहत्कथामंजरी तथा कथासरित्सागर में वर्णित ये सभी विदेशी जातियाँ प्रथम शती ई० पू० भारत के समीप ही स्थित थीं। उनका अस्तित्व विक्रमादित्य के लिए एक चुनौती ही था। वे उनसे छुटकारा पाने के लिए उन्मूलन, निष्कासन और प्रभुता-स्थापन इन तीन नीतियों का अनुगमन करते हुए बढ़े।

६. अभियान-पथ

शकों के निष्कासन के पश्चात् विक्रमादित्य के सम्मुख सर्वप्रथम प्रश्न सिन्धु-सहित सौराष्ट्र का था, यद्यपि कथासरित्सागर में इसका उल्लेख मध्यदेश के विस्तृत विजय के लघु परिशिष्ट के रूप में हुआ है। शक अब भी सौराष्ट्र और सिन्ध में जमे हुए थे। अतः विक्रमादित्य के लिए यह नितान्त आवश्यक था कि वे पहले इन क्षेत्रों पर ध्यान देते तथा उनको यहाँ से निकाल बाहर करते। इस दिशा में विक्रमादित्य के अभियान का परिणाम यह हुआ कि अधिक संख्या में शकों का उन्मूलन कर दिया गया।[1] सुराष्ट्र तथा सिन्ध विदेशी प्रभुत्व से मुक्त हो गये तथा कुछ गणतन्त्रों ने भी, जिनको शकों ने कुचल डाला था, पुनर्जीवन प्राप्त किया[2]।

विक्रमादित्य के सम्मुख दूसरा प्रश्न था मध्यदेश में शक्ति का विस्तार तथा संगठन जो आगे चलकर उनकी शक्ति के विकास के लिये स्थिर आधार बन सके। मध्यदेश का सैनिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण भाग गणतन्त्रों द्वारा पहले से अधिकृत कर लिया गया था जो विक्रमादित्य के नेतृत्व में संघटित हुए थे।

---

१. म्लेच्छसंघाश्च निहताः शेषाश्च स्थापिता वशे। कथासरित्सागर १८, १, ७८।

२. कनिंघम, क्वायन्स ऑफ् ऐंश्येण्ट इण्डिया, पृ. ६६-६८।

कण्वों के शासन में मध्यपूर्व कुछ भी अवरोध न डाल सका। प्रारम्भिक अवरोध के पश्चात् अङ्ग (उत्तरी-पूर्वी बिहार), गौड (उत्तरी बंगाल), वंग (पूर्वी बंगाल) तथा कलिंग ने समर्पण कर दिया। कलिंगनरेश द्वारा अपनी कन्या कलिंगसेना को विक्रमादित्य को दे देने का वर्णन मिलता है।

उत्तर में अपनी स्थिति को सुदृढ़ करके विक्रमादित्य दक्षिण (दक्षिणापथ) तथा अपरान्त (उत्तरी कोंकण) पर विजय प्राप्त करने चले। अपरान्त सुराष्ट्र से पश्चिमी समुद्र (जिसे युरोपीय अब अरबसागर कहते हैं) का तटवर्ती प्रदेश था जहाँ शक निविष्ट थे। इसलिये इस प्रान्त से शकोन्मूलन आवश्यक था। ऐसा वर्णन मिलता है कि समीपवर्ती लाट का राजा भी विक्रमादित्य की विजयवाहिनी में सम्मिलित हुआ। इस नरेश ने अपरान्त के पूर्व ही आत्मसमर्पण किया होगा। सोमदेव ने दक्षिणापथ में किसी वास्तविक युद्ध का वर्णन नहीं किया। किन्तु इतना ज्ञात होता है कि विक्रमादित्य के एक सेनानायक विक्रमशक्ति ने दक्षिण में[1] कहीं अपना डेरा डाला था और कर्णाटकनरेश जयध्वज उसके शिविर में आकर मिला था। इस समय आन्ध्र से लेकर कर्णाटक पर्यन्त सम्पूर्ण दक्षिण पर आन्ध्रों का आधिपत्य था। कुछ काल के बाद आन्ध्र सातवाहनों के दक्षिणापथ के पश्चिमी भाग में उदय होने से इसका स्पष्टीकरण हो जाता है। जयध्वज सम्भवतः प्राक्-आन्ध्रकालीन साम्राज्यवादी नरेश था (जिसका वर्णन पुराणों में नहीं है)। ऐसा जान पड़ता है कि जयध्वज प्रथम शक आक्रमण से भयभीत होकर तथा भावी विदेशी आक्रमण की सम्भावना से डर कर स्वेच्छापूर्वक विक्रमादित्य के दिग्विजय अभियान में सम्मिलित हो गया तथा उसने अपनी विजयवाहिनी को विक्रमादित्य के उद्देश्य की पूर्ति में लगा दिया। सम्भवतः दक्षिण के अन्य आन्ध्र नरेशों ने भी वही नीति अपनायी। उनमें विदर्भ का राजा भी था जिसका पृथक् उल्लेख हुआ है।

सिंहल ने भी इसी नीति का अनुगमन किया। उसने बिना किसी प्रकार का युद्ध किये विक्रमादित्य का आधिपत्य स्वीकार कर लिया और अपने सेनापति के द्वारा उसे अपनी कन्या प्रदान की। भारत महासागर के अन्य द्वीपों ने भी आत्मसमर्पण किया। विजयवर्णन के इस भाग की कथा पूर्णरूपेण काव्यमूलक हो गई है जो अपनी प्रामाणिकता को कम कर देती है। किन्तु जब हम सुनते हैं कि चार शतियों के बाद सिंहल तथा अन्य द्वीपवासियों ने

१. कथासरित्सागर १८, १, ८६–८७।

समुद्रगुप्त की अधीनस्थ मित्रता स्वीकार कर ली तथा कन्योपायन भी किया[1], विक्रमादित्य का भारत महासागर की ओर अभियान असम्भव नहीं जान पड़ता।

उत्तरी प्रदेशों का अभियान इसके पश्चात् हुआ। वैयक्तिक रूप से पंजाब तथा पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त के राजाओं का उल्लेख नहीं हुआ है। आंशिक रूप से इन क्षेत्रों पर गणतान्त्रिक राज्यों का आधिपत्य था जो विक्रमादित्य के द्वारा संगठित संघ में सम्मिलित होने के लिये अत्यन्त उत्सुक थे, तथा कुछ भाग वाह्लीक-यवनों (बैक्ट्रियन ग्रीक) के अधिकार में थे जो अब पीछे खिसक रहे थे। काश्मीर के राजा का नाम सुनन्दन दिया हुआ है। सुदूर प्रत्यन्त देशों पर पहाड़ी जातियों का अधिकार था। काश्मीर ने बड़ी सरलता से समर्पण कर दिया किन्तु पहाड़ी जातियों ने बल-प्रयोग के पश्चात आधिपत्य स्वीकार किया।

विदेशी जातियों में, जिनसे शकों को पराजित करने के पश्चात् विक्रमादित्य द्वारा युद्ध करने और विजय प्राप्त करने का वर्णन आता है, पारसीक हैं। प्रथम शती ई० पू० के शक इतिहास से हमें ज्ञात होता है कि शकों का अधिपति कोई पह्लव राजा था। बृहत्कथामंजरी तथा कथासरित्सार में उल्लिखित पारसीक पह्लव ही थे। ये शकों द्वारा शासित भूप्रदेश के अधिपति थे। सिंध के शकों के निष्कासन के पश्चात् विक्रमादित्य का पह्लवों से संघर्ष हुआ होगा। शकों के पराजित करने के पश्चात् उनकी स्थिति प्रतिरोधात्मक नहीं थी बल्कि वे दृढ़तापूर्वक आक्रमण करते तथा परंपरागत विश्वविजेताओं की नीति का अनुगमन करते चले जा रहे थे। वे स्थलमार्ग से वोलन दर्रा होते हुए फारस की स्वाभाविक सीमा पर पहुँच गये होंगे तथा पह्लवों को उचित सीमा तक पीछे ढकेल दिया होगा। हम निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते कि उन्होंने फारस को रौंद दिया तथा पह्लवराज को उसके देश में पराजित किया। सोमदेव ने केवल एक ही निर्मूक राजा (न बोलनेवाले) अर्थात् जिसकी भाषा भारतीयों की समझ में नहीं आती थी, का उल्लेख किया है। केवल यही एक पारसीक नरेश जिसका सोमदेव की तालिका में उल्लेख है विक्रमादित्य की विजयवाहिनी में सम्मिलित हुआ था। यह बहुत संदेहास्पद है क्योंकि अन्य कोई भी विदेशी राजा उल्लिखित नहीं है यद्यपि पराजित विदेशी जातियों का उल्लेख हुआ है। यदि यह मान लिया जाय कि कालिदास रघुवंश में अपने आश्रयदाता

---

१. सैंहलकादिभिश्च सर्वद्वीपवासिभि······। फ्लीट : गुप्तलेख, संख्या १।

के दिग्विजय की झलक देते हैं, तो हमें ज्ञात होता है कि 'रघु ने स्थलमार्ग से पारसीकों को जीतना प्रारंभ किया।' कालिदास ने उनके देश में पारसीकों की हार का वर्णन नहीं किया। पारसीकों के पश्चात् जिस विदेशी जाति ने विक्रमादित्य का ध्यान आकर्षित किया वे यवन थे। हमें अशोक के अभिलेखों से ज्ञात होता है कि मौर्य साम्राज्य की पश्चिमोत्तर सीमा पर एक योन (यवन) नामक प्रांत था जहाँ आयोनियन (यूनानी) बस गये थे। फिर दूसरी शती ई० पू० में भारत में बाख्त्री यवनों का आक्रमण हुआ था तथा उन्होंने योन, कंबोज और गंधार के प्रांतों को जीत लिया था। वे अब दुर्बल हो चुके थे और काबुल की घाटी में दबकते चले जा रहे थे। विक्रमादित्य के उत्तरी प्रदेशों (कौबेरी) के विजय में यवनों से भी संघर्ष हुआ जिनको देश से निकाल दिया गया था किंतु उन्हें काबुल की घाटी में रहने दिया गया। वहाँ उनका पीछा अथवा उन पर विजय नहीं किया गया। यह अंतिम आक्रमण पह्लवों के पराजय के पश्चात् किया गया जिसको पहले स्थगित कर दिया गया था। इस क्रम की पुष्टि कालिदास से होती है जिन्होंने पारसीकों के पराजय के पश्चात् यवनों के पराजय का वर्णन किया है। विक्रमादित्य ने काबुल की घाटी से हिंदुकुश पर्वत पार करते हुए नीच तथा बर्बर हूणों को मध्य-एशिया के दक्षिणी भाग में पराजित किया। यहाँ दक्षिण-पूर्व की ओर जाते हुए विक्रमादित्य ने कंबोजों तथा तुषारों पर विजय प्राप्त किया जो नंगापर्वत के उत्तरी भूप्रदेश (उत्तरी-पश्चिमी काश्मीर), मुताव और कराकोरम की शृङ्खलाओं पर अधिकार जमाये हुए थे।

७. विक्रमादित्य के विजय-स्कंधावार पर टिप्पणी

कथासरित्सागर के उस अवतरण पर, जिसमें यह वर्णन किया गया है कि विक्रमादित्य के विजयी शिविर में गौड के शक्तिकुमार, कर्णाटक के जयध्वज तथा लाट के विजयवर्मा, काश्मीर के सुनंदन, सिंध के गोपाल तथा भिल्लराज विन्ध्यबल आदि सम्मिलित हुए थे, टिप्पणी करते हुए बहुत से विद्वानों का मत है कि चूँकि इन नरेशों का नाम इन प्रांतों के वंशेतिहास में नहीं उपलब्ध होता अतः उक्त वर्णन काल्पनिक तथा ऐतिहासिक रूप से महत्त्वहीन हैं। इस संबंध में इतना निवेदन किया जा सकता है कि उन राजाओं की वंशावली जिन्होंने इन प्रांतों पर प्रथम शती ई० पू० में शासन किया, किसी भी ज्ञात स्रोत में संचित नहीं है और न उनकी पुष्टि का कोई प्रमाण ही है। काश्मीर ही केवल एक अपवाद है जिसका इतिहास १२ वीं शती ई० पू०

में लिखा गया। राजतरंगिणी में संचित नरेशों की वंशाली में प्रथम शती ई० पू० के पहले सुनंदन के नाम का उल्लेख नहीं है। भारतीय कथाकारों के संमुख वास्तविक कठिनाई यह थी कि एक ही राजा के विभिन्न अभिधान और अनेक विरुद थे तथा वे कोई भी परिचित नाम रख लेते थे। तथापि यह असंभव नहीं था कि बृहत्कथा के मूल लेखक गुणाढ्य इन प्रांतों के नरेशों के (जिन्होंने प्रथम शती ई० पू० में राज्य किया) वास्तविक नाम न जानते रहे हों और उन्होंने संभव और उपयुक्त नाम का निर्माण कर लिया हो। किंतु इससे विक्रमादित्य के विजय-वर्णन के तथ्यों का अवमूल्यन नहीं होता।

८. रघु के दिग्विजय से तुलना

यह देखना नितान्त आवश्यक है कि विक्रमादित्य के राजकवि कालिदास ने अपने आश्रयदाता के दिग्विजय पर कुछ प्रकाश डाला है या नहीं। रघुवंश[1] में कालिदास ने रघु-दिग्विजय का वर्णन किया है। इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखना चाहिये कि कवि समकालीन राजनीतिक तथा सैनिक घटनाओं का वर्णन नहीं कर रहा है किन्तु वह अपने महाकाव्य में उन घटनाओं का वर्णन कर रहा है जो बहुत पहले घटी थीं। एक सफल कवि की भाँति कालिदास अपनी कलात्मक शक्ति तथा अपने ज्ञान पर उस अति प्राचीन काल को सच्चाई के साथ चित्रित करने का प्रयास कर रहे थे। वे अधिक से अधिक अपने समकालिक इतिहास से प्रेरित हुये होंगे तथा अस्पष्ट रूप से अपने समय की घटनाओं को भी प्रतिबिम्बित किया होगा। इस काव्य-सिद्धांत को दृष्टि में रखकर रघु के विजयों से विक्रमादित्य के विजयों का समीकरण नहीं कर सकते। रघु के दिग्विजय में हम अधिक से अधिक इतनी आशा रख सकते हैं कि विक्रमादित्य के विजयों को अज्ञात तथा अस्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित किया गया होगा।

रघु अयोध्या के राजा थे। न तो कभी विदेशियों ने उनकी राजधानी पर अधिकार किया था और न उन्हें विदेशी आक्रमण का भय ही था। ये क्षत्रियों के परम्परागत सार्वभौम प्रभुता के आदर्श से प्रेरित हुये थे। उन्होंने दिग्विजय आरम्भ किया। किन्तु वे सर्वप्रथम सुराष्ट्र तथा अपरान्त की ओर नहीं दौड़ पड़े, जिनसे विक्रमादित्य को सर्वप्रथम निपटना था क्योंकि वहाँ शकों का जोर था। वे धीरे- धीरे पूर्व की ओर बढ़े (स ययौ प्रथमं प्राचीम्)। पूर्वी जातियों पर

१. सर्ग ४ श्लोक ३२-८४।

विजय का वर्णन करते हुये कालिदास अंगविजय का वर्णन नहीं करते जिसका उल्लेख विक्रमादित्य के अधिकृत क्षेत्रों में हुआ है, किन्तु रघु के सम्मुख सुह्म (पश्चिमी बंगाल) तथा वंग (पूर्वी बंगाल) के पतन का वर्णन करते हैं। इसके बाद रघु उत्कल तथा कलिंग का विजय करते हैं। विक्रमादित्य के इस ओर के विजय में केवल कलिंग का उल्लेख हुआ है। महेन्द्र पर्वत के नरेश को पराजित करके रघु ने बड़ी सरलता से दक्षिणापथ में प्रवेश किया तथा कुछ काल तक मलयगिरि पर शिविर डालने के पश्चात् पाण्ड्य राजकुमारों को हराया, जो उसकी शक्ति को न रोक सके। विक्रमादित्य के दक्षिणापथ-विजय के वर्णन में पांड्य तथा मलय का व्यक्तिगत रूप से उल्लेख नहीं है। रघु सिंहल तथा भारत महासागर के अन्य द्वीपों में नहीं गये। पांड्य देश तथा मलय पर्वत से वे सह्य की ओर मुड़ गये तथा केरल (मालवार), केरल के समीप मुरल (जिसकी सिंचाई मुरला नदी से होती थी) तथा अपरांत (उत्तरी कोंकण) को जीत लिया। अपरांत में शकों के प्रभाव के कारण विक्रमादित्य को अपरांत-विजय बहुत कठिन पड़ा किंतु उन्होंने केरल तथा मुरल को अलग-अलग जीतने की बात नहीं सोची। रघु ने सुराष्ट्र तथा सिंध के शत्रुओं से लोहा नहीं लिया जो विक्रमादित्य के युद्ध के महत्वपूर्ण स्थल बने थे। यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिये कि विक्रमादित्य के शक अथवा म्लेच्छ रघु को नहीं तंग कर रहे थे। अतः कालिदास ने उनका उल्लेख नहीं किया है। तथापि रघु अपने दिग्विजय को पूरा करने के लिये स्थलमार्ग से पारसीकों के जयहेतु चल पड़े। विक्रमादित्य ने भी यही किया। फारस से रघु उत्तर दिशा (कौबेरी) की ओर गये। किंतु विक्रमादित्य की कौबेरी (उत्तर दिशा) कश्मीर के पास भारतवर्ष में है। उत्तर में रघु के द्वारा पराजित जातियों में यवन, हूण, कंबोज, किरात, उत्सवसंकेत और प्राग्ज्योतिष तथा कामरूप के राजा थे। किंतु विक्रमादित्य द्वारा पराजित जातियों में म्लेच्छ, शक, पारसीक, यवन, हूण, कंबोज तथा तुषार थे। किरात (हिमालय की मंगोलियन जाति), उत्सव-संकेत, प्राग्ज्योतिष तथा कामरूप के नरेशों का उल्लेख विक्रमादित्य द्वारा पराजित लोगों की तालिका में (यदि वे काष्ठाओं में समाहित नहीं हैं) नहीं हुआ है। यह तुलना इस बात को स्पष्ट कर देती है कि रघु के दिग्विजय से विक्रमादित्य के दिग्विजय का समीकरण नहीं किया जा सकता, यद्यपि रघु के दिग्विजय-वर्णन में अवश्यमेव विक्रमादित्य के दिग्विजय का प्रतिबिंब है।

कुछ लेखकों का मत है कि रघुवंश में कालिदास द्वारा वर्णित रघु के

वंश का इतना वैभव तथा उनके दिग्विजय गुप्तों के वैभवशाली इतिहास और समुद्रगुप्त तथा चंद्रगुप्त द्वितीय द्वारा किये गये विस्तृत विजयों पर आधारित है। हमें रघु के दिग्विजय की गुप्तों के दिग्विजय से तुलना करके देखना चाहिये कि रघु के दिग्विजय में कहाँ तक गुप्तों के दिग्विजय प्रतिबिंबित हुए हैं। समुद्रगुप्त के प्रयाग-प्रस्तर-स्तंभ-अभिलेख[1] और चंद्रगुप्त के मेहरौली-लौह-स्तंभ-अभिलेख[2] में गुप्तों के विजय का वर्णन है। समुद्रगुप्त के दिग्विजय में पूर्ण उत्तरापथ छूट जाता है। केवल शक-मुरुंडों से उसका कूटनीतिक संबंध था। पारसीकों, यवनों, हूणों, कंबोजों, किरातों, उत्सवसंकेतों तथा प्राग्ज्योतिष व कामरूप के राजाओं से, जिनका वर्णन रघु द्वारा पराजित जातियों के रूप में हुआ है, उसका कोई संबंध नहीं था। चंद्रगुप्त द्वितीय के दिग्विजय का वर्णन बहुत ही अस्पष्ट है, केवल बंग (बंगाल), उत्तरापथ तथा वाह्लीक देश के ही युद्ध का व्यक्तिगत रूप से उल्लेख हुआ है। उसके दिग्विजय का चित्र उसके मध्यभारत, मालवा तथा सुराष्ट्र के युद्धों के उल्लेख से पूर्ण हो जाता है। फिर भी उसके दिग्विजय का विस्तार रघु के दिग्विजय से बहुत कम पड़ता है। समुद्रगुप्त या चंद्रगुप्त के विजयों के विस्तार की अपेक्षा कथासरित्सागर तथा बृहत्कथामंजरी में वर्णित विक्रमादित्य के दिग्विजय का विस्तार[3] रघु के दिग्विजय के विस्तार से अधिक मिलता है। अतएव इस परिस्थिति में यह स्वीकार नहीं किया जा सकता कि रघु के दिग्विजय गुप्तों के दिग्विजय के प्रतिबिंब हैं। यदि अस्पष्ट और अपर्याप्त समानता ही समीकरण का प्रमाण माना जाय तो बहुत से मत गढ़े जा सकते हैं और हम सत्य तक नहीं नहीं पहुँच सकते। अतएव रघु के दिग्विजय का आधार गुप्तों का विजय मानना ठीक नहीं है।

९. विक्रमादित्य के दिग्विजय के समानांतर उदाहरण

पिछले पृष्ठों में हमने इस बात की स्थापना की है कि प्रथम शती ई० पू० की राजनीतिक परिस्थितियों में अवन्तिपति विक्रमादित्य के लिए सफल अभियान संगठित करना तथा अपना प्रभाव बढ़ाना पूर्णतः संभव था। तथापि यह प्रश्न किया जा सकता है कि क्या प्राचीन भारत में इस प्रकार के

---

१. फ्लीट गुप्तलेख संख्या १।

२. वही संख्या १२।

३. देखिये पीछे पृ० १०५-११२।

बहुत से ऐतिहासिक समानांतर ज्ञात हैं? उत्तर है, हाँ। छठी शती में मंदसोर-स्तंभलेख[1] के अनुसार यशोवर्धन ने बहुत विस्तृत विजय किया, 'लौहित्य (ब्रह्मपुत्र) की उपकंठभूमि से उड़ीसा के महेंद्र पर्वत तक और गंगा से आश्लिष्ट शिखर वाले हिमालय से लेकर पश्चिम समुद्र तक के भूमिभाग जिसके (यशोधर्मन् के) बाहुबल से गर्वहीन किये गये सामंतों द्वारा (उसके) चरणों पर अवनत होने से (उनके) चूड़ारत्नों की आभा से शबलित हो जाते हैं।' दूसरा प्रसिद्ध समानांतर कान्यकुब्ज, का **यशोवर्मन्** है जिसने सातवीं शती के अंत में राज्य किया। वाक्पतिराज के गौडवहो के अनुसार यशोवर्मन् ने देश के अधिकांश भाग को जीता तथा पारसीकों को भी अधीन किया। उसके विजयों की संभावना पर वि० ए० स्मिथ की यह टिप्पणी है: 'इस अनुमान में कुछ भी अविश्वसनीय नहीं है कि कन्नौज में अच्छी केंद्रीय स्थिति को धारण करनेवाले शक्तिशाली नरेश ने पूर्व में बंगाल, दक्षिण में नर्मदा और उत्तर में पर्वतों की तलहटी तक अपने हाथ बढ़ाये हों[2]।'

१०. विक्रमादित्य के युद्धों का स्वरूप

यह पहले ही दिखाया जा चुका है कि विक्रमादित्य के युद्धों का लक्ष्य साम्राज्य-विस्तार नहीं था और न लोगों का उन्मूलन ही। मौर्यों की भाँति उनकी आकांक्षा केन्द्रीय साम्राज्य स्थापित करने की भी नहीं थी और न गुप्तों की भाँति संघात्मक साम्राज्य स्थापित करने की। उनका एकमात्र लक्ष्य था देश के राजनीतिक संगठन के लिए अधिकृत राज्यों को किसी प्रकार की चोट पहुँचाये बिना भारत के बहुसंख्यक छोटे छोटे राज्यों पर राजनीतिक प्रभुता स्थापित करना। उनका यह प्रयास साम्राज्यवादियों के सैनिक-अभियान तथा गणतन्त्रों की क्षेत्रीय परम्परा का समन्वय था। इससे यह भली भाँति स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय जनता उन्हें आदर्श दिग्विजयी क्यों मानती है और अब भी उन्हें स्मरण करती है जब कि पराजित राज्यों को हस्तगत करनेवाले साम्राज्यवादी मौर्य और गुप्त विस्मृत हो चुके हैं। कथासरित्सागर[3] के अनुसार वे पराभूत भूपाल जो विक्रमादित्य की विजयवाहिनी में सम्मिलित हो गये थे, विक्रमादित्य से उचित सम्मान पाकर अपने-अपने राज्यों को वापस चले

---

१ फ्लीट गुप्त लेख ३३।

२. जे० आर० ए० एस० १९०८, पृ० ७०७।

३. सम्मानितविसृष्टेषु। १८, ३८।

गये। कालिदास रघु के दिग्विजय का इन शब्दों में वर्णन करते हुये निस्सन्देह विक्रमादित्य के दिग्विजय की प्रकृति का प्रदर्शन करते हैं—'धर्मविजयी राजा (रघु) ने महेन्द्रनाथ का, जिसे उसने पकड़ कर मुक्त कर दिया था, धन (जो स्वतन्त्रता का व्यर्थ वैभव है) तो छीन लिया किन्तु भू-प्रदेश नहीं छीना'[1]। विक्रमादित्य के दिग्विजय की दूसरी विशेषता यह है कि इसके उपलक्ष्य में उसने अश्वमेध यज्ञ नहीं किया। वह सम्भवतः इसलिए नहीं हुआ कि यह राजनीतिक आडम्बर विक्रमादित्य जैसे गणतन्त्र के नायक के लिए उपयुक्त नहीं था।

---

१. गृहीतप्रतिमुक्तस्य स धर्मविजयी नृपः।
श्रियं महेन्द्रनाथस्य जहार न तु मेदिनीम्॥ रघुवंश ४, ४३।

अष्टम अध्याय

विक्रमादित्य के समय मालव राज्य

१. गणतान्त्रिक रिक्थ

अवन्ती में स्थापित मालव राज्य गन्धर्वसेन गर्दभिल्ल तथा उसके पुत्र विक्रमादित्य से अत्यन्त प्रभावित प्रादेशिक रूप में एक नवीन सृष्टि थी। किन्तु इसके पीछे एक लम्बी परम्परा थी। मालव मूलतः पंजाब के निवासी थे तथा वहीं उन्होंने गणराज्य की स्थापना की थी। पश्चिमोत्तर भारत के राजनीतिक वातावरण ने उन्हें पंजाब छोड़ने के लिए बाध्य किया तथा उन्हें एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना पड़ा। उनका मूल प्रदेश उनके हाथ से निकल गया किन्तु उन्होंने अपनी गण-परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखा। जब वे अवन्ती पहुँचे वे एक नवीन स्थायी राज्य के निर्माण में समर्थ थे। इन नवीन परिस्थितियों ने जिनका उन्हें सामना करना पड़ा राज्य के विधान को प्रभावित किया किन्तु राज्य के मूलाधार गणतान्त्रिक ही रहे।

२. राज्य के मूलाधार

पंजाब में ही मालव अपना जातिगत स्तर पार कर चुके थे तथा उन्होंने प्रादेशिक आधार पर एक राज्य की स्थापना की थी जो विभिन्न तत्वों का समुच्चय था। पाणिनि अपनी 'अष्टाध्यायी'[1] में इस तथ्य का उल्लेख करते हैं: 'मालव संघ का ब्राह्मणेतर और क्षत्रियेतर व्यक्ति मालव्य कहा जायगा जब कि क्षत्रिय की संज्ञा मालव ही होगी। किन्तु दोनों दशाओं में बहुवचन 'मालवा' होगा।' व्याकरण का यह नियम स्पष्टतः विभिन्न सामाजिक तत्वों से निर्मित और प्राथमिक असभ्य जातिगत स्तर से भिन्न उन्नत प्रादेशिक राज्य के स्तर की ओर संकेत करता है। मालव अपनी परम्परा को नवीन वासस्थान राजस्थान तथा अवन्ती में भी लाये। बाद की परम्परायें विक्रमादित्य को एक राजतांत्रिक शासक के रूप में प्रस्तुत करती हैं जो प्रादेशिक था न कि जातिगत। दक्षिणी राजस्थान में प्राप्त नंदसा यूप अभिलेखों से प्रमाणित होता है कि

---

१. ५, ७, ११४।

तृतीय शती ई० तक मालव राज्य का आधार भौमिक था तथा मालवगण राज्य के विभिन्न सामाजिक वर्गों से निर्मित था।[1]

भूप्रदेश के अतिरिक्त मालव राज्य का दूसरा आधार सैनिक था। राज्य के विधान में सदस्यों की सैनिक योग्यता का विशेष महत्त्व था। सिकन्दर के शिविर के लेख इस बात का साक्ष्य उपस्थित करते हैं कि पंजाब के राज्यों में मालव और क्षुद्रक अपनी सैनिक कुशलता के लिये अत्यन्त प्रसिद्ध थे। उनके अनुसार मालवों की सैनिक शक्ति १००००० थी तथा उनका राज्य सैनिक था। मकदूनियावालों ने इस सेना को देखते ही अपना साहस खो दिया। 'जब उन्हें पता चला कि अभी एक युद्ध और लड़ना है जिसमें भारतवर्ष की सबसे बड़ी लड़ाकू जाति उनकी विरोधी होगी वे एक अप्रत्याशित भय से भयभीत हो गये तथा अपने राजा को संक्षुब्ध शब्दों में फटकारने लगे'[2]। यूनानी लेखकों के मालव राज्य की सैनिक-स्वरूप के प्रति ये विचार पाणिनि[3] के आयुधजीवी संघ (शस्त्रों पर अपनी जीविका चलानेवाले) तथा कौटिल्य[4] के शस्त्रोपजीवी संघ से मिलते-जुलते हैं। ये शब्द राजशब्दोपजीवी (राजा की उपाधि धारण करनेवाले) के विरोध में प्रयुक्त किये गये थे। मालवों ने राजस्थान तथा अवन्ती चले जाने के पश्चात् भी राजा की उपाधि का प्रयोग नहीं किया तथा शस्त्रोपजीवी बने रहे। मालव राज्य का सैनिक आधार इसके सम्पूर्ण अस्तित्वकाल में तब तक बराबर बना रहा जब-तक गुप्तों के साम्राज्यवाद ने उसे निगल नहीं लिया।

३. राज्य का संविधान

पंजाब में मालव राज्य का विधान गणतान्त्रिक था। इसके अनुसार राज्य के प्रत्येक सदस्य को पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त थी। इसमें कोई निर्वाचित राजा नहीं प्रत्युत निर्वाचित सदस्यों का समूह होता था। यहाँ तक कि राज्य के सैनिक अधिकारी भी निर्वाचित होते थे। यूनानी लेखक कर्टियस कहता है कि मालवों तथा क्षुद्रकों की सेना का संचालन करने के लिये एक अनुभवी नेता निर्वाचित हुआ था। सिकन्दर के साथ शान्तिवार्ता के समय उन्होंने

---

१. एपि० इण्डिका, भाग २७।

२. कर्टियस, भाग ९, अध्याय ४, मैक्क्रिण्डिल १, १ ए०, पृष्ठ २३४।

३. अष्टाध्यायी ५–३।

४. अर्थशास्त्र ९।

अपने राजदूतों को भेजा था जो नगरों तथा प्रदेशों के प्रमुख व्यक्ति थे। उन्हें सन्धि करने का सम्पूर्ण अधिकार दे दिया गया था[1]।

अपने नये राज्य अवन्ती में असाधारण परिस्थितियों के कारण उन्हें अपने गणतन्त्रीय विधान को परिवर्तित करना पड़ा। विदेशी आक्रमणों तथा युद्धों के काल में पुराना पूर्ण लोकतन्त्रात्मक विधान उन्हें अनुकूल नहीं जँचा। उसी समय मालव-गण के विधान में अभिजात तत्वों का समावेश हुआ। इस दिशा में पहिला परिवर्तन आनुवंशिक सिद्धान्तों के आधार पर कुछ ही कुटुम्बों को राज्य-प्रबन्ध का अधिकार सौंपना था, यद्यपि अभिजात शासक गणतन्त्र से बँधे थे। दूसरा परिवर्तन अभिजात घरानों से एक श्रेष्ठतम नेता का निर्वाचन था जिसके हाथ में राज्य-प्रबन्ध की शक्ति थी। यह प्रक्रिया गन्धर्वसेन तथा विक्रमादित्य तक आनुवंशिक नेतृत्व में परिवर्तित हो गई, क्योंकि हम उनके कुटुम्ब को कई पीढी तक राज्य करते हुये पाते हैं[2]। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि गणतन्त्र का विलयन हो गया अथवा नेता जनता के प्रति उत्तरदायी नहीं था। इतना हम निश्चित रूप से जानते हैं कि तृतीय शती के अन्त तक मालव-गण दक्षिणी राजस्थान में मालवगण-विषय (मालवों के द्वारा अधिकृत भू-प्रदेश) नाम से जीवित था। यह हमें नंदसा यूप अभिलेखों से ज्ञात होता है[3]। ये अभिलेख मालवों के विधान पर प्रकाश डालते हैं। उनसे ज्ञात होता है कि मालवों की सोगी उपजाति के नेता श्री सोम थे। उनके पिता जयसोम तथा पितामह प्रभाग्रवर्धन भी मालवों के नेता थे[4]। ये नेता बहुत ही शक्तिशाली थे। उनके अधिकार तथा प्रभाव विस्तृत थे। किन्तु उन्हें राजतान्त्रिक उपाधियों के धारण करने की आज्ञा नहीं थी। ऐसा प्रतीत होता है कि मालव विधान गणतन्त्र तथा अभिजात शासन का सम्मिश्रण हो गया था। नेता उच्चकुल का होता था किन्तु फिर भी मालवों को गण कहते थे तथा उनके सिक्के गण के नाम से ही चलते रहे[5]। समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति में उन्हें सीमान्त नरेशों के विरुद्ध प्रत्यन्त जातियों की श्रेणी में रखा गया है।

उपर्युक्त सम्मिश्रित संविधान केवल राजस्थान तथा अवन्ती के लिए

---

१. कर्टियस, भाग ९, अध्याय ४–७, मैक्रिंडल १, १, ए० पृ० २४८–५१।

२. देखिये—जैनपट्टावलियाँ।

३. एपि० इण्डिका, भाग २७।

४. वही।

५. आर्केलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया रिपोर्ट, भाग ६।

ही सीमित नहीं था। भारतीय इतिहास में ऐसे अन्य उदाहरण भी पाये जाते हैं। पालि ग्रंथों में हमें पेट्टनिकों का उल्लेख मिलता है जो आनुवंशिक शासक थे[१]। भारत में सिकन्दर के आक्रमण के समय यूनानियों ने व्यास नदी के किनारे यदि इससे अभिन्न नहीं तो बहुत-कुछ मिलते-जुलते राज्य को पाया था[२]। महाभारत में हमें ऐसे राजकुलों का उल्लेख मिलता है जो गणतन्त्रात्मक थे[३]। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में संघधर्मी (गणतान्त्रिक) राजकुलों (शासक परिवारों) का उल्लेख किया है[४]। पूर्णरूप से राजतन्त्रात्मक प्रवृत्ति की अभिवृद्धि को रोकने के लिये मालवजन शासककुलों को परिवर्तित कर दिया करते थे[५]। टेसिटस ने जर्मन जातियों के प्राचीन इतिहास में उनके सम्मिश्रित संविधान का, जिसमें लोकतन्त्रीय और अभिजाततन्त्रीय दोनों तत्त्वों का समावेश था, उल्लेख किया है[६]।

४. गणतन्त्रों का संघ

मालव जाति अनेक उपजातियों में विभक्त थी। अधिकतर विदेशी आक्रमणों के भय से उन्होंने अपने अन्दर तो संघ बनाया ही, अन्य गण-राज्यों के साथ भी संघ स्थापित किया। हमें उनके संघ के वास्तविक स्वरूप का पता नहीं है किन्तु अधिक सम्भव है कि उनका स्वरूप पहले तत्कालीन उत्तरी भारत के बौद्ध गणराज्यों के संघों से मिलता-जुलता रहा हो जो प्रत्येक सदस्य[७] की समान स्थिति तथा संघ के प्रत्येक घटक से प्रतिनिधियों की समान संख्या पर आधारित था। संघ-राज्यों के नेता का निर्वाचन राज्यों के सदस्यों में से होता था[८]। प्रस्तुत उदाहरण में विक्रमादित्य गणराज्यों (गणशत) के संघ के नेता थे। महाभारत में प्राचीन यादवों का इससे कुछ मिलता जुलता संघ उल्लिखित है[९]। मेसॉन-उरसेल आदि यादव गणतन्त्रों की व्याख्या करते हुए कहते हैं,

---

१. फ्लीट, कॉरपस इन्सक्रिप्शनम् इण्डिकेरम्, भाग ३।
२. मैक्रिंडल १, १, ए० पृ० १२१।
३. शान्तिपर्व, अध्याय १०७।
४. अध्याय ११।
५. नंदसा यूप अभिलेख, भाग २७।
६. टेसिटस भाग २, पृ० ३१८ (एवरीमैन्स लाइब्रेरी सीरीज)।
७. कल्पसूत्र, १२८।
८. अभिज्ञानशाकुन्तल ७, ३४।
९. पर्व १०, अध्याय १०७।

'हमें इस ग्रन्थ (महाभारत) से पता चलता है कि यादव छोटी छोटी जातियों के संघ थे। प्रत्येक में आनुवंशिक प्रमुख होता था और सर्वसामान्य समस्याओं का समाधान निर्वाचित सदस्यों का समूह करता था। ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ प्रत्येक राज्य राजतन्त्रात्मक थे किन्तु संघ गणतान्त्रिक[1]।' संघ से सम्बन्धित उपर्युक्त उल्लेख समीचीन है किन्तु लेखक को नायकत्व में आनुवंशिक राजत्व की भ्रान्ति हो गई है।

५. राज्य के अंग

विक्रमादित्य के समय में राज्य (राजतांत्रिक अथवा गणतान्त्रिक) को सात अंगों से संघटित समझा जाता था। विक्रमादित्य के समकालीन कालिदास[2] अपने रघुवंश में राज्य के अंगों का उल्लेख करते हैं। विक्रमादित्य के दूसरे समकालीन अमरसिंह अपने कोश में राज्य के अंगों को इस प्रकार गिनाते हैं: स्वामी, अमात्य (उच्चाधिकारी), सुहृत् (मित्र), कोश, राष्ट्र, दुर्ग तथा बल (सेना)[3]। इस धारणा ने राज्य में अङ्गांगी सम्बन्ध का भाव स्थिर कर दिया था। राज्यांगों की यह कल्पना अर्थशास्त्र[4] तथा मनुस्मृति[5] से ली गयी है जिनकी रचना क्रमशः मौर्य और शुंगकाल में हुई थी।

६. राज्य-प्रमुख

हम पहले ही देख चुके हैं कि राज्य का प्रथम तथा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंग स्वामी था, जो राज्य का प्रमुख होता था। नंदसा यूप-अभिलेखों के अनुसार उसे नेता[6] कहते थे। मालवा में आनुवंशिक नेतृत्व की प्रवृत्ति ने राज्य-प्रमुख की स्थिति को दृढ कर दिया था, यद्यपि गण का अस्तित्व समाप्त नहीं हुआ था। परिस्थितियों के अनुसार बहुत कुछ नेता के व्यक्तित्व और कार्यों पर ही निर्भर था। मालव राज्य के नेता विक्रमादित्य को शासक के सर्वोत्कृष्ट आदर्श जनसेवा से अधिक प्रेरणा मिली थी। उनके चरित्र की कुछ विशेषतायें कथासरित्सागर से स्पष्ट हो जाती हैं। 'यद्यपि वे बहुत कुछ शक्तिशाली जननायक थे किंतु उन्हें परलोक का भय था, वीरयोद्धा होने पर भी

---

१. ऐंश्येण्ट इण्डिया एण्ड इट्स सिविलीजेशन, पृ० ९०।

२. सप्तस्वङ्गेषु......। १, ६०; ४, १२; ८, १०; १२, १२; १३, ६८।

३. स्वाम्यमात्यसुहृत्कोशराष्ट्रदुर्गबलानि च।

४. ६, १, राज्याङ्गानि प्रकृतयः—...॥ अमरकोश २, ८, १७।

५. ९, २९४ : १५६।

६. एपि० इंडि० जिल्द २७।

उनका हाथ कठोर न था''''''वे पितृहीनों के पिता, मित्रहीनों के मित्र, निराश्रयों की शरण तथा अपनी प्रजा के क्या नहीं थे[1] ?' प्रबंधकोश में अंकित अनुश्रुति के अनुसार विक्रमादित्य ने राम को अपना आदर्श बनाया था। वे यह कहते हुए वर्णित हुए हैं, 'जिस प्रकार से राम ने अपनी प्रजा को अपने व्यवहार से प्रसन्न किया उसी प्रकार मैं भी करूँगा[2]।' उन्होंने दान देने, स्मारक निर्माण करवाने, सामाजिक मर्यादा को दृढ रखने तथा बड़ों का सम्मान करने में राम का अनुसरण किया। उन्हें अभिनव राम (नवीन राम) कहलाने में आनंद मिलता था[3]।

७. आदर्श

विक्रमादित्य के राजकवि कालिदास अपने साहित्यिक ग्रंथों में चरितनायकों के चित्रणों को आदर्श बनाते हुए स्वभावतः अपने आश्रयदाता के उच्चादर्श को प्रतिबिंबित करते हैं। 'रघु त्याग तथा भोग के अपूर्व सामञ्जस्य को व्यक्त करने वाले उच्चकोटि के निस्वार्थ राजा हैं।[4] कालिदास के राम दृढ नैतिक पवित्रता के मूर्त्तिमान स्वरूप थे जिन्होंने अपने जीवन में राजोचित विलास और वासनाओं तथा अपनी प्रजा की भलाई और संतुष्टि के लिये प्रत्येक वस्तु का परित्याग करके राजा के कठोर कर्म का पालन करते हुए एक उच्च आदर्श उपस्थित किया। उत्तरकालीन कोई भी राजकीय आदर्श इससे अधिक मर्यादा का उदाहरण नहीं दिखा सका और इस परिस्थिति में यह बिलकुल समुचित है कि रामराज्य लोकजीवन के लिए सामान्य अभिव्यक्ति बन जाय जिसमें जनता का स्वार्थ शासक के पहले रखा जाता है।[5] भारतवर्ष में विक्रमादित्य की प्रसिद्धि का रहस्य इस आदर्श के सन्निकट पहुँचना था। दुष्यन्त का चरित्रांकन करते हुए कालिदास कहते हैं कि शासक के कार्य के अंतर्गत सतत सावधानता और प्रयत्नशीलता आती हैं। इसमें विश्राम का स्थान नहीं[6]। उसे भारी तथा कठोर उत्तरदायित्वों को ग्रहण करना पड़ता है। कवि ने आगे कहा है कि शासक सूर्य, जिसके घोड़े एक बार ही जुतना जानते हैं, वायु

---

१. विक्रमादित्यप्रबंध न० १७।

२. वही।

३. विक्रमादित्य प्रबन्ध सं० १७

४. ए. बी. कीथ : ए हिस्ट्री ऑफ़ संस्कृत लिटरेचर।

५. वही, पृ० ९२।

६. अविश्रामोऽयं लोकतन्त्राधिकारः। अभिज्ञानशाकुन्तल, ५।

जो अहर्निश प्रवहमान रहता है और शेष जो सर्वदा अपने आभोग पर पृथ्वी का भार वहन किये रहता है, के समान होता है।

८. युग-निर्माता

राज्यप्रमुख इन उच्चादर्शों को धारण करने तथा तदनुसार जीवन व्यतीत करने के कारण अपने युग का निर्माण कर सकता है। उसे अपने युग का वास्तुकार कहना चाहिए। यह तथ्य कालिदास[1] के ग्रंथों में प्रतिबिम्बित हुआ है। यह विक्रमादित्य की सृजनात्मक प्रतिभा तथा उच्चादर्श का साहित्यिक प्रलम्बन प्रतीत होता है और उनके द्वारा प्रवर्तित संवत् का निदर्शन करता है।

९. कर्तव्य

राज्यप्रमुख को साधारण तौर पर तीन काम करने पड़ते थे—सैनिक, न्याय-सम्बन्धी तथा शासनसम्बन्धी। वह युद्धकाल में सैन्य-संचालन, प्रशासन के विवरण का निरीक्षण, राज्यशासनों का प्रवर्तन और न्याय के अध्यक्ष पद को सुशोभित करता था। कथासरित्सागर में विक्रमादित्य के बहुविध कार्यों की परम्परा निम्नलिखित शब्दों में है : 'तथा विक्रमादित्य'''समय पाकर उसी प्रकार प्रकाशमान हुए जिस प्रकार से सूर्य मध्याह्न में होता है। अहंकारी राजा भी जब उनके आनमित धनुष की डोरी कसी हुई देखता है, उस अस्त्र से एक शिक्षा ग्रहण करता है और प्रत्येक दिशा में उसी प्रकार झुक जाता है। दैवी शक्ति की तरह वेतालों, राक्षसों तथा अन्य पिशाचों को अपने शासन में लाते और कुकर्मियों और कुपथगामियों को धर्मानुसार दण्ड देते थे। विक्रमादित्य की सेनाओं ने शान्ति फैलाते हुए उसी प्रकार पृथ्वी का भ्रमण किया जिस प्रकार रविरश्मियाँ प्रत्येक दिशा में प्रकाश फैलातीं हैं'[2]। बहुत-सी साहित्यिक अनुश्रुतियों तथा लोक-कथाओं में विक्रमादित्य अपूर्व न्याय करने, सत्कर्मियों को पुरस्कृत करने और कुकर्मियों को दण्ड देने में अत्यन्त प्रसिद्ध थे। अतः प्रजा को प्रसन्न रखना उनका आवश्यक कर्तव्य था[3]। शासक का दूसरा महत्त्वपूर्ण कर्तव्य था बाह्य एवं आभ्यन्तरिक संकटों से अपनी प्रजा की रक्षा करना। इसके लिए कवि[4] के द्वारा वह गोप्ता (रक्षक) कहा गया है। शासक का एक अन्य महत्त्वपूर्ण कर्तव्य यह था कि जीवन की भौतिक आवश्यकताओं को पूरा करते हुए वह

---

१. विक्रमोर्वशी।

२. १८, १, ६१-६४।

३. राजा प्रकृतिरञ्जनात्। रघु० १७, ६५, शकुन्तला ५, ४।

४. रघु० १५, ४४।

अपनी प्रजा का पोषण करे[1]। शासक के इन कर्तव्यों में राज्य के आवश्यक कार्य आ जाते हैं और आदर्श शासक को इन्हें यथासाध्य उत्तम रीति से करना पड़ता था।

१०. मन्त्रि-परिषद्

एक तांत्रिक राजा की भाँति गणराज्य के शासक विक्रमादित्य को भी मन्त्रि-परिषद् प्राप्त थी जो उन्हें राज्यप्रमुख के कर्तव्य में सहायता पहुँचाती थी। विक्रमादित्यसम्बन्धी साहित्यिक अनुश्रुतियों से हमें ज्ञात होता है कि उनके सुमति नामक महामन्त्री तथा वज्रायुध नामक प्रतिहार थे[2]। मालवों में आनुवंशिक शासकत्व की वृद्धि के साथ सम्भवतः मन्त्रियों का पद भी आनुवंशिक हो गया था। यह इस बात से प्रमाणित होता है कि विक्रमादित्य के राज्यकाल में सुमति का पुत्र महामति महामंत्री तथा वज्रायुध का पुत्र भद्रायुध प्रतिहार था[3]। यह कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है जैसा कि हम परवर्ती साक्ष्यों से जानते हैं। मन्त्रित्व बहुधा आनुवंशिक ही था[4]।

जहाँ तक परिषद् के संगठन का प्रश्न है निश्चित रूप से कुछ भी ज्ञात नहीं है। विक्रमादित्य के समकालीन तथा उनकी सभा में रहनेवाले अमर-सिंह ने[5] निम्नलिखित मन्त्रियों का उल्लेख किया है :

(१) महामात्र अथवा प्रधान (प्रधानमंत्री)
(२) मंत्री, धीसचिव अथवा अमात्य (परामर्शदाता मंत्री)
(३) कर्मसचिव (शासनमंत्री)
(४) पुरोधा अथवा पुरोहित (धर्मविभाग का मंत्री)
(५) प्राड्विवाक (विधिसम्बन्धी मंत्री)
(६) अक्षदर्शक (प्रशासकीय लेखों का मंत्री)

११. केन्द्रीय शासन का संगठन

चूँकि हमारे पास प्रत्यक्ष प्रमाण बहुत थोड़े हैं अतः यह कहना अत्यन्त कठिन है कि विक्रमादित्य के केन्द्रीय शासन का संगठन किस प्रकार होता

---

१. प्रजानां वृत्ते स्थितः। वही, ५, ३३।
२. कथासरित्सागर १८, १, १४।
३. वही ५२-५४।
४. अन्वयप्राप्तसाचिव्यः। फ्लीट : गुप्त अभिलेख, सं० १०।
५ अमरकोश २, ८, ४, ५।

था। अमरसिंह अपने कोश में कुछ विभागाध्यक्षों का उल्लेख करते हैं जिन्हें 'अध्यक्ष' अथवा 'अधिकृत'[1] कहते थे। कालिदास ने उन विभागाध्यक्षों को तीर्थ[2] कहा है। तत्कालीन साक्ष्यों से विभिन्न विभागाध्यक्षों के अभिधान ज्ञात नहीं होते। किन्तु विक्रमादित्य के कुछ शतियों पूर्व कौटिल्य ने १८ विभागाध्यक्षों[3] के अभिधान बतलाये हैं। हम बड़ी सरलतापूर्वक स्वीकार कर सकते हैं कि मालवगणतन्त्र की विशिष्ट आवश्यकताओं के अनुकूल कुछ आवश्यक परिवर्तनों के साथ वेही विभागाध्यक्ष विक्रमादित्य के समय तक रहे होंगे।

(१) मन्त्री और पुरोहित[4] (वे सम्मिलित रूप से राज्य की धार्मिक और उच्चप्रकार की नीति के लिए उत्तरदायी थे।)

(२) समाहर्त्ता (राजस्वमंत्री)
(३) सन्निधाता (अर्थमंत्री)
(४) युवराज
(५) सेनापति (सेना का मंत्री)
(६) प्रदेष्टा (शासन-न्यायालय का प्रधान न्यायाधीश)
(७) व्यावहारिक (व्यवहार का प्रधान न्यायाधीश)
(८) नायक (सेना का अध्यक्ष)
(९) कर्मान्तिक (उद्योग-व्यवसाय का मंत्री)
(१०) मन्त्रिपरिषदध्यक्ष (मन्त्रिपरिषद् का अध्यक्ष)
(११) दण्डपाल (जिस पर सेना के पोषण का भार था)
(१२) अन्तपाल (सीमाप्रान्तों का मंत्री)
(१३) दुर्गपाल (सुरक्षासचिव)
(१४) पौर अथवा नागरिक (राजधानी का शासक)
(१५) प्रशास्तृ (प्रशासकीय विधि का मंत्री)
(१६) दौवारिक (राजभवन का अध्यक्ष)
(१७) अन्तर्वंशिक (राजरक्षकों का अधिकारी)
(१८) आटविक (वनविभाग का मंत्री)

यहाँ इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि उपर्युक्त १८ विभागाध्यक्ष मौर्यों

१. अमरकोश २, ८, ६।
२. रघुवंश १७, ६८।
३. अर्थशास्त्र, भाग २।
४. अमरकोश २, ८, ५ में हमे पुरोधा शब्द मिलता है।

के समान विशाल साम्राज्य के लिए आवश्यक थे। जहाँ तक विक्रमादित्य के अन्तर्गत मालवराज्य का सम्बन्ध है, ४, १६, १७ संख्याओं के विभागाध्यक्ष व्यर्थ प्रतीत होते हैं। किन्तु चूँकि मालवों में आनुवंशिक नेतृत्व की प्रवृत्ति बढ़ रही थी अतः सम्भव है कि वे भी रहे हों।

१२. प्रादेशिक विभाग

मालवों का उन क्षेत्रों पर अधिकार था जिन्हें आज मालवा तथा दक्षिणी पूर्वी राजस्थान कहते हैं। मौर्यों के समय में ये भूप्रदेश अवन्तिराष्ट्र के अंग थे[1]। तृतीय शती ई० में इन प्रदेशों का उत्तरी-पूर्वी भाग 'मालवगण विषय'[2] नाम से अभिहित था। परवर्ती ग्रन्थों में मालवों के अधिकृत क्षेत्र को अवन्ती अथवा मालव कहते थे[3]। मालव राज्य किन प्रशासकीय घटकों में विभक्त था यह स्थिर करना अत्यन्त कठिन है। अधिक सम्भव है कि बड़े-बड़े विभागों का आधार मालवों की विभिन्न उपजातियों द्वारा अधिकृत भूप्रदेश थे। अमरसिंह[4] ग्रामप्रमुख को स्थायुक और ग्रामसमूह के अधिकारी को गोप कहते हैं[5]। वे 'श्रेणयः' अथवा नगरनिगमों[6] का भी उल्लेख करते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि ग्रामों तथा नगरों में स्वायत्त शासन था।

१३. राज्यकर-सम्बन्धी प्रशासन

सरकारी राज्य करके बहुत तथा विभिन्न प्रकार के साधन थे। सम्भवतः वही साधन राजतान्त्रिक या गण-तान्त्रिक दोनों कोशों की पूर्त्ति करते थे। कालिदास निम्नलिखित अवतरण में आय के विभिन्न साधनों का जो राजा के लिए लाभकारी थे उल्लेख किया है—'पृथ्वी ने उसके द्वारा रक्षा के अनुपात में पारितोषिक दिया। उसके लिए उसने खानों से रत्न, क्षेत्रों से सस्य और वनों से हाथी उत्पन्न किये[7]। अमरसिंह करों तथा आय के अन्य साधनों को निम्न प्रकार से गिनाते हैं[8]।

---

१. महाबोधिवंश ९८।
२. नंदसा यूप-अभिलेख, एपि. इंडिका, जिल्द २७।
३. प्रभावकचरित, ४।
४. अमरकोश २, ८, ७।
५. गोपो ग्रामेषु भूरिषु। वही.।
६. पौराणां श्रेणयोऽपि च। वही २, ८, १८।
७. खनिभिः सुषुवे रत्नं क्षेत्रैः सस्यं वनैर्गजान्।
दिदेश वेतनं तस्मै रक्षासदृशमेव भूः ॥ रघु० १७, ६६।
८. अमरकोश २, ८, २७-२८।

(१) भागधेय (उपज में राज्य का भाग)
(२) बलि (राज्य के प्रमुख अधिकारी अथवा अमात्य के आरामों के लिए अधिक कर)
(३) शुल्क (चुंगी)
(४) उपायन (अधिकृत अथवा संवस्थ घटकों से कर)
(५) उपहार।

उपर्युक्त साधनों के अतिरिक्त व्यापार अथवा व्यवसाय भी राज्य की आय का एक महत्त्वपूर्ण स्रोत रहा है। कालिदास के ग्रंथों में हमें सामुद्रिक व्यापार का उल्लेख मिलता है। 'धनमित्र नामक व्यापारी समुद्रों में व्यापार करते समय पोत भग्न हो जाने से जलमग्न हो गया था[१]।' कालिदास 'चीनांशुक' (चीनी रेशम) का भी उल्लेख करते हैं जिसका आयात चीन से होता रहा होगा। कालिदास के ग्रंथों तथा विक्रमादित्य-सम्बन्धी साहित्यिक अनुश्रुतियों में बहुत से औद्योगिक व्यवसायों का उल्लेख होता है जिससे राज्य को कर प्राप्त होता रहा होगा[२]। मदिरा, द्यूतक्रीड़ा और वेश्याओं पर राज्य का नियन्त्रण था तथा उन पर कर लिया जाता था। शस्त्रास्त्रों के निर्माण, मुद्रा, वन, खानों आदि पर राज्य का एकाधिकार था। न्यायकर तथा जुर्माना भी आय के अन्य साधन थे। पुत्रहीन व्यक्ति के मर जाने पर उसकी सम्पत्ति भी राज्य की हो जाती थी[३]।

भारतवर्ष का यह परम्परागत सिद्धान्त कि राज्यकर राज्य को रक्षा करने के बदले में दिया जाता है विक्रमादित्य के काल में ही स्वीकार कर लिया गया था। कालिदास राज्यकर को राज्य द्वारा की गयी प्रजा की रक्षा के अनुपात में प्राप्त वेतन ही मानते हैं।[४] उन्होंने परम्परानुमोदित उत्पादन के षष्ठांश का ही कर की दर के रूप में उल्लेख किया है।[५] फिर भी यह दर सभी प्रकार के करों पर नहीं, केवल भूमि-उत्पादन पर ही लागू होती थी। कर-

---

१. समुद्रव्यवहारी सार्थवाहो धनमित्रो नाम नौ व्यसने विपन्नः। शाकु० ६; रघु० ६, ५७, १७, ८१।

२. कुमारसम्भव ७·३, शाकु० १।

३. अनपत्यः किल सः। राजगामी तु स्यादर्थसञ्चयः। शाकुन्तल, ६।

४. दिदेश वेतनं तस्मै रक्षासदृशमेव भूः। रघु० १७·६६।

५. वही, १७, ६५, शाकुन्तल ५·६।

सम्बन्धी प्रशासन का अध्यक्ष समाहर्ता होता था जिसकी सहायता अन्य बहुत से अध्यक्ष यथा कनकाध्यक्ष, रूप्याध्यक्ष आदि करते थे[1]।

१४. न्याय का प्रशासन

विक्रमादित्य के समय न्याय का कार्य राज्य के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्यों में एक था तथा उनकी लोकप्रसिद्धि न्यायक्षमता और सज्जनों को पारितोषिक एवं दुर्जनों को दण्ड देने पर अधिक निर्भर थी। लोकप्रिय कथाओं तथा साहित्यिक अनुश्रुतियों में उनको अपराध का पता लगाने तथा उनके शानदान और उनके निष्पक्ष न्यायालय की कथाओं का प्रचुर वर्णन है। प्रचलित भाषा में विक्रमादित्य न्याय का ही दूसरा नाम है।

न्याय निम्नलिखित नामों से जाना जाता था[2]:

(१) अभ्रेश	(६) युक्त
(२) न्याय	(७) औपायिक
(३) कल्प	(८) लभ्य
(४) दशरूप	(९) भजमन
(५) समञ्जस	(१०) अभिनीत

अभियोग के प्रश्न को 'विवाद' तथा विधिसंबंधी कार्यवाही को 'व्यवहार' कहा जाता था। प्राचीन बौद्ध साहित्य[3] के अनुसार शुद्ध गण-तान्त्रिक संविधान में न्यायालय का कार्य या तो गण-मुख्य की अध्यक्षता में लोकसभा में होता था या विनिच्चय महामात्रों द्वारा निर्मित सभा में होता था[4]। आनुवंशिक नेतृत्व की वृद्धि के साथ मालवा में यह स्थिति बदल गयी तथा राज्यप्रमुख न्याय-कार्य में भी अपना महत्त्वपूर्ण तथा विशिष्ट कार्य करने लगा[5]। किन्तु उसका पथ-प्रदर्शन साधारण तौर से अमात्य, मंत्री तथा पुरोधा करते थे। कभी-कभी अमात्य ही वादों को सुलझा देते थे।[6]

तत्कालीन ग्रंथों से हमें उत्तराधिकार, चोरीसंबंधी नियमों और न्यायालय

---

१. अमरकोश २, ८, ७।

२. अमरकोश २, ८, २५।

३. दि डायलॉग ऑफ बुद्ध, १, १३३।

४. देखिए टर्नर जे० ए० एस० बी० ७ पृ० ९९३-४।

५. अभिज्ञानशाकुन्तल, ६।

६. अभिज्ञानशाकुन्तल ६।

में उन अपराधों के निर्णयों के लिए अपनायी गयी विधि की कुछ झलक मिल जाती है। अभिज्ञानशाकुंतल[1] नाटक में उत्तराधिकारसंबंधी न्याय के एक विवाद को मंत्रीगण ने तय किया और उसकी सूचना राजा के पास भेज दी जो निम्न प्रकार है :

'धनमित्र नामक व्यापारी समुद्र में व्यापार करते हुए पोत के भग्न हो जाने से मर गया। उस बेचारे के पास कोई संतान नहीं है इसलिए उसकी संपत्ति विधानतः राजा की हो जाती है। राजा उस सूचना पर निम्नलिखित व्यवस्था देते हैं—

यदि वह धनी था तो उसके अनेक पत्नियाँ होंगी। पता लगाया जाय कि उनमें से किसी से संतान होने की आशा है······गर्भ के बालक को पिता की संपत्ति का अधिकार है।'

उपर्युक्त उद्धृत अवतरण से ज्ञात होता है कि तत्कालीन विधान के अनुसार विधवा अपने पति की संपत्ति की उत्तराधिकारिणी नहीं थी यद्यपि संरक्षण तथा निर्वाह का अधिकार उसे प्राप्त था। तथापि विधान यह स्वीकार करता था कि गर्भ के बालक को उसके पिता का उत्तराधिकारी समझना चाहिए। संतान चाहे पुरुष हो या स्त्री इसका कुछ भी ध्यान नहीं रखा जाता था। किंतु विधवा स्त्री होने के नाते उसके लिए अयोग्य समझी जाती थी। यह विचित्र बात थी। परवर्ती हिंदू विधान के अनुसार विधवा को अपने पति की संपत्ति की उत्तराधिकारिणी होने का सीमित अधिकार था।

जहाँ तक लोभ तथा हिंसामूलक वादों का प्रश्न है अभिज्ञानशाकुन्तल में ही एक उदाहरण प्राप्त होता है। राजधानी के दो आरक्षकों ने नगर के एक मछुए को एक हीरे की अँगूठी लिए हुए पकड़ा। उसे हिरासत में ले लिया गया तथा सिपाहियों ने अँगूठी के बारे में उससे पूछा। तत्पश्चात् उसे नगराध्यक्ष के पास पहुँचाया गया जिसने अच्छी तरह परिप्रश्न किया। अंततोगत्वा निर्णय के लिए उसे राजा के पास भेज दिया गया। पुलिस के उन दो सिपाहियों ने जिनके अधिकार में चोर था अनुमान लगाया कि अपराधी को प्राणदंड दिया जायगा।[2] इससे यह पता चलता है कि चोरी राज्य के विरुद्ध एक गुरु अपराध था और इसके लिए विधानतः मृत्युदंड दिया जाता था।

---

१. अभिज्ञानशाकुन्तल, ६।

२. गृध्रबलिर्भविष्यसि शुनो मुखं वा द्रक्ष्यसि। वही।

विक्रमादित्य संबंधी साहित्यिक अनुश्रुति में हमें लड़कियों के चुरा ले जाने के कुछ उदाहरण मिलते हैं[1] 'तब राजा विक्रमादित्य......उस स्थान पर आये जहाँ ये कुमारियाँ थीं × × × तब राजा ने हम लोगों (अपराधियों) को अपनी शक्ति से देखकर और उसने हम लोगों को अप्रसन्न देखकर, क्योंकि हमलोग प्राणदंड होने की आशंका से भयभीत थे, आज्ञा दी, 'ओ दुष्टो ! एक वर्ष तक अंधकूप में रहो तब तुम लोग मुक्त कर दिये जाओगे। किंतु मुक्त होने पर कभी ऐसा अपराध न करना और यदि करोगे तो मैं तुम्हें प्राणदंड दूँगा।' उपर्युक्त अवतरण से हम अनुमान लगा सकते हैं कि लड़कियों के अपहरण के लिए मृत्युदंड नियत था किंतु यदि शासक चाहे तो उस प्राणदंड को कारावास दंड में भी परिवर्तित कर सकता था। अपराध की पुनरावृत्ति होने पर अपराधी को प्राणदंड अवश्य मिलता था।

सभी प्राप्त उदाहरणों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि राज्य-प्रमुख का ही निर्णय अंतिम होता था। उसे वन्दी को कुछ शुभ अवसरों पर अवधि के समाप्त होने के पूर्व ही मुक्त करने का अधिकार था। 'जब परीक्षक को ऐसे वन्दी नहीं मिले जिनको वह अपने पुत्र के जन्म से हर्षित होकर मुक्त कर सके, उसने अपने पूर्वजों के बंधन से जो ऋण के नाम से प्रसिद्ध था अपने को ही मुक्त कर लिया।'[2]

१५. सैनिक प्रशासन

भारतवर्ष में गणतन्त्रों की प्रसिद्ध सैनिक परंपरा थी। क्योंकि वे गणतंत्र भूविस्तार की दृष्टि से छोटे होते थे उनको अपनी रक्षा के लिए अपना सैनिक संगठन पूर्ण बनाना पड़ता था। कभी-कभी साम्राज्यवादी शक्तियाँ उनका सहयोग प्राप्त करती थीं तथा उनकी शक्ति पर गर्व भी करती थीं। यह स्वीकार किया जाता था कि उत्तरी-पश्चिमी तथा पश्चिमी भारत के गणराज्य सैनिक दृष्टि से भारतवर्ष के अन्य भागों की अपेक्षा अधिक स्वतंत्र थे तथा उन्हें पूर्णरूप से 'शस्त्रोपजीवी' (शस्त्रों पर ही जीवन बितानेवाले) कहा जाता था। सच कहिये तो समूचा राष्ट्र ही सशस्त्र था[3]। मालव उसमें से एक था। जिस समय वे पंजाब में रहते थे और सिकंदर का आक्रमण हुआ उन्होंने बहुत विशाल संगठित सेना इकट्ठी की तथा युद्धक्षेत्र में विदेशियों के संमुख एक कठोर

---

१. कथासरित्सागर, १८।

२. अभिज्ञानशाकुन्तल, ६।

३. तुलनार्थ, अर्थशास्त्र।

अवरोध उपस्थित किया।[1] उन्होंने अवंती पहुँचने पर उसी परंपरा का पालन किया। उनका युद्ध-कौशल तथा सैनिक-संगठन एक बार पुनः परीक्षा की कसौटी पर कसा गया जिस समय शकों के विरुद्ध, जिन्होंने प्रथम शती ई० पू० आक्रमण किया था, धावा बोलना पड़ा था। विक्रमादित्य की सभी सैनिक सफलतायें मालवों की शक्ति तथा सैनिक-संगठन पर ही निर्भर थीं।

तत्कालीन राजनीतिक दबाव के कारण मालवों को आत्मसुरक्षा तथा आक्रमण के लिए अपने सैनिक विभागों का पुनः संगठन तथा विस्तार करना पड़ा। राजधानी, राज्य की सीमा तथा देश के पार्श्व के विशेष सन्दर्भ में ही यह सब हुआ। यह प्रक्रिया कालिदास[2] के निम्नलिखित अवतरण में प्रतिबिंबित हुई है। 'जब रघु दिग्विजय के लिये निकले उन्होंने इस बात का पूरा विश्वास कर लिया था कि उनका मूल (राजधानी), सीमाप्रान्त (प्रत्यन्त) तथा पार्श्व (पार्ष्णि) पूर्ण रूप से सुरक्षित हैं।' हम सम्पूर्ण सैनिक-संगठन को तीन श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं—(१) राजधानी तथा सैनिक दृष्टि से महत्वपूर्ण अन्य स्थानों की किलेबन्दी, (२) शस्त्रास्त्रों का निर्माण व संग्रह और (३) सेना की भर्ती तथा उसका पोषण।

दुर्ग राज्य के अङ्गों में से एक प्रमुख अङ्ग माना जाता था।[3] यह सैनिक दृष्टि से विशेषकर रक्षा के लिये बहुत ही महत्वपूर्ण था। तत्कालीन साहित्य में विभिन्न प्रकार के दुर्गों का वर्णन नहीं मिलता किन्तु चूँकि किलेबंदी की कला मौर्यों के काल ही में पूर्ण रूप से विकसित हो चुकी थी, निर्भय होकर हम कह सकते हैं कि निम्नलिखित परम्परागत चारों प्रकार के दुर्ग विक्रमादित्य के काल में भी पाये जाते थे[4] :

(१) स्थलदुर्ग, (३) जलदुर्ग और
(२) गिरिदुर्ग, (४) धन्वन दुर्ग (मरुस्थल दुर्ग)।

मालवों के द्वारा अधिकृत भू प्रदेश में स्थल, जल, पहाड़ियाँ तथा मरुस्थल थे। अतः भिन्न-भिन्न प्रकार के दुर्ग बनाने की सैनिक दृष्टि से भी आवश्यकता थी। विशेष रूप से पश्चिमी सीमाप्रान्त की किलेबन्दी विदेशी आक्रमणकारियों की रक्षा के लिये बहुत दृढ़ रूप से होती थी।

---

१. कर्टियस भाग ९, अध्याय ४।

२. रघुवंश, ३, २०।

३. अमरकोश, २, ८, १७।

४. तुलनार्थ, अर्थशास्त्र।

गणतान्त्रिक मालवों के विकसित सैनिकीकरण ने शस्त्रास्त्रों के निर्माण तथा उनके संग्रह की आवश्यकता उत्पन्न कर दी थी। उनके आश्रय तथा प्रेरणा से लिखित साहित्य में बहुत से शस्त्रास्त्रों के नाम पाये जाते हैं जो उस समय के युद्धों में प्रयुक्त होते थे। उनमें से कुछ का उल्लेख किया जा सकता है[1]।

(१) धनुष तथा बाण,	(८) भिंदिपाल,
(२) शक्ति,	(९) परिघ
(३) परशु,	(१०) छुरिका,
(४) असि,	(११) शंकु
(५) प्रास,	(१२) शर्वल,
(६) मुद्गर,	(१३) तोमर और
(७) ईलि अथवा करवालिक,	(१४) चर्म।

राजकीय कारखानों में शस्त्रास्त्रों का निर्माण होता था, यद्यपि जनता के द्वारा साधारण अस्त्रों के निर्माण पर कोई रोक नहीं लगाई गई थी। सेना के लिए शस्त्रों की अनवरत पूर्ति के लिए शस्त्रशालाओं की व्यवस्था राज्य स्वयं करता था।

तत्पश्चात् सैनिक-संगठन के तीसरे विषय की बारी आती है। इसके चार परम्परागत अंग थे—(१) गज (२) बाजि (३) रथ और (४) पदाति[2]। स्पष्टतः यह भारतीय राज्य की स्थल सेना थी। यह सैनिक आक्रमण तथा प्रदेशीय अधिकार में महत्वपूर्ण भाग लेती थी। तथापि हाथियों का प्रयोग नदी के युद्धों में भी होता था। वे जल-सेना को बड़ी सरलतापूर्वक कुचल डालते थे। कालिदास रघु के बंगाल के अभियान का वर्णन करते हुए लिखते हैं : 'अपनी शक्ति तथा पराक्रम से वंग के राजाओं को पराजित करके, जो अपने जहाजी बेड़े से सामना करने के लिए प्रस्तुत थे, उस नेता ने गंगा की धाराओं के बीच हाथियों का एक विजयस्तम्भ खड़ा कर दिया'[3]। समुद्र के किनारे रहने के कारण वंगों ने बेड़ा तैयार कर लिया था। अवन्ती और पंजाब में मालवों को स्थलों से ही घिरे रहने के कारण जलसेना की आवश्यकता नहीं पड़ी, यद्यपि नदियों के युद्ध के लिये बेड़े की आवश्यकता

१. अमरकोश २, ८, ६७।
२. वही २, ८, ३३।
३. रघुवंश, ४, ३८।

थी। यह स्थिति शकों के निष्कासन के पश्चात् बदल गयी जब वे अपरान्त, सिन्धु और सौराष्ट्र तथा पश्चिम पयोधि की सीमावाले प्रदेशों के सम्पर्क में आए। मालवों के तत्कालीन शत्रु शकों ने अपने युद्ध में जहाजों का प्रयोग किया। मालवों ने इस तथ्य को भुला नहीं दिया तथा उन्हें भी पाश्चात्य समुद्री आक्रमण का सामना करने के लिए जहाजी बेड़ा रखना पड़ा।

सेना में भरती होने के भिन्न-भिन्न साधन थे। कालिदास[1] के अनुसार सेना को चतुरंगिणी कहने के साथ साथ 'षड्विधं बलम्' भी कहा जाता था। कवि 'षड्विधं' की व्याख्या नहीं करता किन्तु कोशकार अमरसिंह[2] सेना के छः अंगों को निम्न प्रकार से गिनाते हैं :

(१) मौल (सैनिक श्रेणियों से जिनकी भर्ती होती थी।)
(२) भृतक (भाड़े पर रखे हुए जिनका देश भारत नहीं था और जो केवल वेतन के लिए लड़ते थे।)
(३) श्रेणिबल (सैनिक श्रेणियों से जिनकी भर्ती होती थी।)
(४) मित्रबल (मित्रराष्ट्रों की सेनायें)
(५) अरिबल (शत्रुओं की सेनायें)
(६) आटविकबल (जिनकी भर्ती जंगली जातियों से होती थी)

विक्रमादित्य के काल में भारतवर्ष में सिन्धु, गान्धार तथा कम्बोज के अतिरिक्त घोड़ों की कोई अच्छी जाति नहीं थी। अतः उनका आयात प्रचुर मात्रा में विदेशों से होता था। सेवा के लिए घोड़ों की पूर्ति करने वाले देशों में वनायु (अरब), पारसीक (फारस) तथा वाह्लीक (पश्चिमोत्तर अफगानिस्तान) थे[3]। सर्वोत्तम हाथी हिमालय तथा आसाम के वनों से प्राप्त होते थे। वटिया प्रकार के हाथी विन्ध्य, पारियात्र तथा सुराष्ट्र के वनों से प्राप्त कर लिये जाते थे। मालवों को विन्ध्य, परियात्र तथा सुराष्ट्र के हाथियों पर ही निर्भर रहना पड़ता था।

सेना का संगठन वर्ग-क्रम से होता था। छोटे घटक का नाम पत्ति था। इसमें एक हाथी, एक रथ, तीन घोड़े तथा पाँच पदाति होते थे। इस प्रकार तीन पत्तियों से 'सेनामुख' बनता था, तीन सेनामुख से गुल्म, तीन गुल्मों से

१. रघुवंश, ४, ३०।
२. अमरकोश २, ८।
३. वही २, ८, ४५।

एक गण, तीन गणों से एक वाहिनी, तीन वाहिनियों से एक पृतना, तीन पृतनाओं से एक चमू, तीन चमुओं से एक अनीकिनी तथा दस अनीकिनियों से एक अक्षौहिणी बनती थी। इस प्रकार का संगठन परम्परागत था तथा भारतवर्ष में कम से कम महाभारत काल तक पुराना था।

सेना तथा उसके भिन्न-भिन्न घटक विभिन्न अधिकारियों के अधीन थे। उनमें सबसे बड़ा महासेनापति था[1]। उसके अधीन सेनापति अथवा सेनाधिप थे। युद्धक्षेत्र में सेना का संचालन करते हुए राज्यप्रमुख को नेता[2] अथवा गोप्ता[3] कहते थे। सेना के अन्य घटकों के अधिकारी इस प्रकार थे[4]:

(१) पत्तिपाल	(५) शतनिक
(२) सेनानी	(६) अनुशतिक
(३) गौल्मिक	(७) साहस्रिक
(४) वाहिनीपति	(८) आयुधिक

सेना-विभाग का दूसरा प्रमुख अधिकारी अन्तपाल होता था[5]। उसके अधिकार में सीमान्त प्रदेश होते थे जो कि सैनिक दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण समझे जाते थे। अधिकारियों में परिधिस्थ, परिचर आदि थे। सेना की रक्षा करने वालों का नाम सेनारक्षक अथवा सैनिक था[6]।

विक्रमादित्य के समकालीन साहित्य में उनसे सम्बधित युद्धों के निर्देश और वर्णन पाये जाते हैं। शत्रु के विरोध में सेना के बढ़ने को अभिषेणन अथवा अभिगमन[7] कहते थे। रघुवंश[8] में हमें इसकी झलक मिलती है जिसमें रघु की दिग्विजय का वर्णन हुआ है। भारतवर्ष में युद्ध सामान्यतः चतुर्मास के बाद ही आरम्भ होता था। विजयवाहिनियों का सञ्चालन स्वयं राजप्रमुख करते थे। सेना के राजधानी छोड़ने के पूर्व प्रधान को एक धार्मिक संस्कार करना पड़ता था जिसका नाम जयस्नान था तथा शस्त्रास्त्रों को पवित्र मन्त्रों से

---

१. मालविकाग्निमित्रम् १, विक्रमोर्वशीयम् ५।
२. रघुवंश ४, ३६।
३. मालविकाग्निमित्रम् १।
४. अमरकोश २, ८, ६२।
५. मालविकाग्निमित्रम् १।
६. अमरकोश २, ८, ६२।
७. वही २, ८, ९५।
८. रघुवंश ४।

अभिमन्त्रित किया जाता था। सैनिक कवच तथा शिरस्त्राण धारण करते थे। घुड़सवार सेना में सबसे आगे रहते थे। गमनशील सेना के पृष्ठभाग का नाम सैन्यपृष्ठ अथवा प्रतिग्रह था[१]। चलना आरम्भ करने के पश्चात् सेना को 'चलित' अथवा 'प्रचक्र' कहा जाता था। इसका विस्तार असार अथवा प्रसरण कहलाता था[२]। सेना के युद्धक्षेत्र में निर्भय चलने को 'अभिक्रम[३]' कहा जाता था। जब सेना युद्धक्षेत्र में प्रवेश करती थी तब उस समय बहुत से व्यूहों में सजा दी जाती थी। अमरकोश[४] उन्हें दण्ड आदि कहकर गिनाता है। अर्थशास्त्र[५] के अनुसार निम्न प्रकार के व्यूह होते थे :

(१) समव्यूह
(२) विषमव्यूह
(३) दण्डव्यूह
(४) प्रकृतिव्यूह
(५) भोगव्यूह
(६) असंहतव्यूह
(७) प्रदरव्यूह
(८) दृधकव्यूह
(९) असरयव्यूह
(१०) श्येनव्यूह
(११) सञ्जयव्यूह
(१२) विजयव्यूह
(१३) स्थूलकर्णव्यूह
(१४) विशाल-विजयव्यूह
(१५) चमूमुखव्यूह
(१६) भाषाख्यव्यूह
(१७) सूचीव्यूह
(१८) बलव्यूह
(१९) दुर्जयव्यूह
(२०) शकटव्यूह
(२१) मकरव्यूह
(२२) मण्डलव्यूह
(२३) सर्वतोभद्रव्यूह

युद्धक्षेत्र में क्रमबद्ध सैनिक लड़ने की इच्छा का प्रदर्शन करने में एक दूसरे से स्पर्द्धा करते थे। इस प्रक्रिया का नाम[६] 'अहम्पूर्विका' (पहले मैं) तथा आहोपुरिषिका (लड़ने को उद्यत मनुष्य मैं हूँ)। वीरता की अभिव्यक्ति को विक्रम अथवा पराक्रम कहते थे[७]। अधीर सैनिक युद्ध के पूर्व तथा पश्चात् मदिरा

---

१. अमरकोश २, ८, ९६।
२. वही।
३. वही ९६।
४. वही २, ८, ७९।
५. १०, ५७६।
६. अमरकोश २, ८, १०२।
७. वही २, ८, १०३।

पीकर मत्त हो जाते थे। चारणों के द्वारा भी उन्हें प्रेरणा मिलती थी जो उत्तेजक तथा प्रलोभक शब्दों में युद्ध की प्रशंसा करते थे। स्वयं विक्रमादित्य द्वारा लड़े गये युद्ध का भी वर्णन प्राप्त होता है: 'राजा! तब तुरन्त, सेना में नगाड़ों की आवाज सुनाई दी और तुरन्त शत्रु राजाओं का समूह म्लेच्छों के साथ वहाँ दिखाई पड़ा। तब हमारी तथा शत्रुओं की सेना एक दूसरे को देखकर क्रुद्ध होकर झपाटे के साथ गुथ पड़ी और युद्ध आरम्भ हो गया। × × और भयानक युद्ध का तूफान खड़ा हो गया और सेना के द्वारा उड़ाई हुई धूल के बादलों पर छा गया जिसमें तलवारें वर्षा की तरह गिरने लगीं तथा वीरों की गरज होने लगी। हम लोगों के शत्रुओं के शिर उठकर (क्योंकि वे कट गये थे) और फिर गिरकर मानो यह प्रकट कर रहे थे कि हम लोगों की 'जयलक्ष्मी' कन्दुक-क्रीड़ा कर रही है। एक ही क्षण में उन नरेशों ने जो हत्याकाण्ड से बच निकले थे, किन्तु उनकी सेना का पीछा किया गया था, अधीनता स्वीकार कर ली और रक्षार्थ आपके सामन्त के शिविर में आत्म-समर्पण कर दिया[1]।

सैनिकों को स्कन्धावारों में रहना पड़ता था। उनका जीवन कठिन और संकटमय था। फिर भी उन्हें उत्सव तथा भोज करने के पर्याप्त अवसर थे। कालिदास[2] कहते हैं कि रघु की विजयवाहिनी में सैनिक मदिरा पीकर प्रफुल्लित होते थे (रचितापानभूमयः)। विजयोत्सव भी 'मधु' में मग्न होकर ही मनाया जाता था। द्राक्षालताओं से वलयित भूप्रदेश पर मृगचर्म बिछाकर बैठे हुए सैनिकों ने आसव पी पीकर विजय में होने वाली थकावट को हल्का किया[3]।

१६. आरक्षक प्रशासन

विक्रमादित्य के समय सेना की सहायता दक्ष आरक्षक करते थे। इस तथ्य का अनुमान हम अभिज्ञानशाकुन्तल[4] से बड़ी आसानी से कर सकते हैं। जहाँ तक राजधानी का प्रश्न है, पुलिस का प्रशासन नगरक करता था जिसके अधिरक्षण में कार्य होता था। पुलिस के सिपाहियों को रक्षिण कहते थे जो नगर की बराबर चौकसी किया करते तथा चोरी आदि के मामलों का पता

---

१. कथासरित्सागर १८, २।

२. रघुवंश ४, ४२।

३. वही ४, ६५।

४. अङ्क, ६।

लगाया करते थे। उस विभाग का सम्पूर्ण वर्ग ही 'रक्षितवर्ग' (पुलिस के सिपाहियों का वर्ग) कहलाता था। जो नगर के लिये था वही गाँव के लिये भी था। प्रकट पुलिस के अतिरिक्त एक गुप्त पुलिस भी थी जिसके सदस्यों को चर या गूढ़पुरुष कहते थे[1]।

१७. राज्य की वैदेशिक नीति

भारतवर्ष में अधिक संख्या में राज्यों का होना तथा विदेशी आक्रमण का भय ही विक्रमादित्य की विदेशी नीति की पीठिका थी। इसमें से कई राज्य दुर्बल थे। कण्वों के आधिपत्य में मगध साम्राज्य पर्याप्त रूप से क्षीण हो गया था तथा अपनी संकटमय स्थिति के बीच गुजर रहा था। इसके अतिरिक्त उत्तर में अन्य गणतान्त्रिक तथा राजतान्त्रिक राज्य थे। उसी प्रकार दक्षिण भी छोटे-छोटे एकतांत्रिक राज्यों में विभक्त था। इनमें से कुछ राज्य विक्रमादित्य के मित्र थे, कुछ शत्रु और कुछ उदासीन। मौर्यकाल में विकसित भारतीय परम्परा के अनुसार अन्ताराज्यसम्बन्ध की मण्डल रूप में कल्पना की गयी थी, जिसका उल्लेख कालिदास अपने रघुवंश में करते हैं[2]। अमरसिंह अपने कोश में मण्डल का उल्लेख नहीं करते किन्तु वे चार प्रकार की शक्तियों का उल्लेख (एककेन्द्रीय वृत्तों पर आधृत) विजिगीषु के सम्बन्ध में करते हैं। वे इस प्रकार हैं[3] :

(१) शत्रु (निकटतम पड़ोसी राज्य)
(२) मित्र (शत्रु के बाद स्थित राज्य)
(३) उदासीन (मित्र के बाद स्थित राज्य)
(४) पार्ष्णिग्राह (पीछे का निकटतम शत्रु राज्य)

रघुवंश की टीका करते हुए मल्लिनाथ मण्डल की व्याख्या करने के लिये कामन्दक का उद्धरण देते हैं जो कौटिल्य का अनुगमन करते हुये अधोलिखित १२ प्रकार के राज्यों से निर्मित मण्डल की कल्पना करता है[4] :

(१) अरि
(२) मित्र

---

१. अमरकोश, २, ८, १३।
२. उपगतोऽपि च मण्डलनाभितामनुदितान्यसितातपवारणः। ९, १५।
३. विषयानन्तरो राजा शत्रुर्मित्रमतः परम्।
उदासीनः परतरः पार्ष्णिग्राहस्तु पृष्ठतः ॥ अमरकोश, २, ८, ९।
४. रघुवंश ४–१५; तुलनार्थ अर्थशास्त्र।

(३) अरिमित्र
(४) मित्रमित्र (मित्र का मित्र)
(५) अरिमित्रमित्र (शत्रु के मित्र का मित्र)
(६) पार्ष्णिग्राह (पीछे का शत्रु)
(७) आक्रन्द (पीछे का मित्र)
(८) पार्ष्णिग्राहसार (पीछे के शत्रु का मित्र)
(९) आक्रन्दसार (पीछे के मित्र का मित्र)
(१०) मध्यम (तटस्थ)
(११) उदासीन (नगण्य)
(१२) विजिगीषु (विजेता)

समस्त राजनीतिक सम्बन्धों का केन्द्र विजिगीषु था। उसी के संदर्भ में अन्य राज्यों की कल्पना की गयी थी। उपर्युक्त तालिका को निम्नरूप से सरल किया जा सकता है[१] :

(१) अरि (३) मध्यम
(२) मित्र (४) उदासीन

इन राज्यों से सम्बन्धित नीति का संचालन चार प्रकार की नीतियों से होता था[२] : (१) साम (२) दान (३) भेद और (४) दण्ड (युद्ध)। इस बात का प्रबल समर्थन किया गया था कि शासक को यथासंभव युद्ध मोल नहीं लेना चाहिये। क्रम से प्रथम तीनों श्रेणियों (सीढ़ी) पर प्रयास करके असफल होने पर चौथी श्रेणी पर पग बढ़ाना चाहिये। कालिदास के अनुसार शक्ति के बिना नीति कायरता है किन्तु बिना नीति के शक्ति पशुकर्म है[३]। शक्ति को न केवल शारीरिक ही समझा गया था प्रत्युत इसमें (१) प्रभाव (२) मन्त्र और (३) उत्साह भी समवेत माने गये थे[४]। राजनीति तथा कूटनीति में सफल होने के लिए शासक को निम्नलिखित छः गुणों को धारण करना आवश्यक[५] है :

---

१. अर्थशास्त्र ७-१।
२. रघुवंश, ११-५५; अमरकोश २, ८, २०।
३. कातर्यं केवला नीतिः शौर्यं श्वापदचेष्टितम्। रघु० १७-४७।
४. शक्तयस्तिस्रः प्रभावोत्साहमन्त्रजाः। अमरकोश २, ८, १९।
५. अमरकोश २, ८, १८।

(१) सन्धि (शान्ति)
(२) विग्रह (युद्ध)
(३) आसन (तटस्थता)
(४) यान (प्रयाण)
(५) संश्रय (मित्रता)
(६) द्वैधीभाव (दोहरी नीति[1])

कूटनीति का लक्ष्य यह होता था कि समीपवर्ती राज्यों में शक्ति का सन्तुलन समान हो अर्थात् एक दक्ष कूटनीतिज्ञ उन्हें अत्यधिक शक्तिशाली तथा दुर्बल कभी नहीं होने देता था। कालिदास[2] कहते हैं कि 'मित्रों को निम्न स्थिति में रखने से वे कभी पक्ष नहीं ग्रहण कर सकते। जब उन्हें उच्च स्थिति में रखा जाता है तो वे शत्रुवत् व्यवहार करने लगते हैं। इस कारण उसने अपने मित्रों को मध्यम स्थिति में रखा।' आक्रमण की नीति राजनीतिक ज्ञान और चातुर्य के आधार पर ही ग्राह्य है। 'अपनी तथा शत्रुओं की सैनिक शक्ति, परिस्थिति, समय तथा अन्य वस्तुओं का ठीक अनुमान करने के पश्चात् यदि उसने अपने को शत्रु से बलवान समझा तो उस पर आक्रमण कर दिया अन्यथा चुप ही बैठा रहा[3]।' सन्धि तथा मित्रता एक बार होने पर उन्हें विश्वासपूर्वक निभाना चाहिये।

राज्य की वैदेशिक नीति को बहुत ही गुप्त रखा जाता था। पड़ोसी राज्यों को अपने सम्बन्ध तथा दृष्टिकोण का अनुमान लगाना अत्यन्त कठिन हो जाता था। उत्तम राजदूतों के द्वारा विदेशी नीति का पालन किया जाता था।

---

१. तुलनार्थ अर्थशास्त्र ७-१।

२. रघुवंश, १७-५८।

३. वही, १७-५९।

नवम अध्याय

सामाजिक जीवन

१. सामाजिक संगठन

वर्ण-व्यवस्था ही विक्रमादित्य के समय में सामाजिक संगठन का आधार थी। जैन तथा बौद्ध धर्मों ने सिद्धान्ततः इस व्यवस्था को ढीला अवश्य कर दिया था किन्तु उन्होंने वर्णचतुष्टय के धार्मिक-सामाजिक विभाजन पर कोई गुरुतर क्षति नहीं पहुँचाई। यहाँ तक कि बौद्ध लेखक अमरसिंह को भी यह तथ्य स्वीकार करना पड़ा। अपने कोश[1] में वे समाज के चार विभाजन करते हैं—(१) ब्राह्मण वर्ग (२) क्षत्रिय वर्ग (३) वैश्य वर्ग (४) शूद्र वर्ग। जैन लेखकों ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया। ब्राह्मण धर्म के लेखकों के लिए तो यह स्वयंसिद्धि थी। कालिदास[2] के अनुसार समाज चार वर्णों में विभक्त था तथा शासक का यह कर्तव्य था कि वह इस बात का निरीक्षण करे कि तत्सम्बन्धी नियमों का पालन होता है या नहीं।[3] यह ध्यातव्य है कि उत्तरी भारत के अधिकांश राज वंश जब बौद्ध अथवा जैन हो गये उस समय भी पंजाब, राजपूताना, सिन्धु, मध्य भारत तथा सौराष्ट्र ब्राह्मण-धर्मावलम्बी ही बने रहे तथा उनके गणतन्त्रिक विधान के होते हुए भी उन्होंने उसी सामाजिक पद्धति का अनुसरण किया। जहाँ तक समाजरचना का प्रश्न था उसका राज्य के प्रकार से कुछ भी सम्बन्ध नहीं था। सम्पूर्ण सामाजिक जीवन वर्ण के ही चारों ओर घूमता था।

(१) ब्राह्मण

सामाजिक अनुक्रम में ब्राह्मण ही सर्वोच्च माने जाते थे जिन्हें 'द्विज', (जिसका दो बार जन्म हो), अग्रजन्मन् (जिसका जन्म सर्वप्रथम हुआ हो), भूदेव (पृथ्वी के देवता), वाडव (इन्द्र से सम्बन्धित = वैदिक यज्ञ), विप्र (कवि), तथा ब्राह्मण (ब्रह्म को जानने वाला) कहा जाता था[4]। उनके लिए

---

१. अमरकोश, २, ७, ८, ९, और १०।

२. चतुर्वर्णमयो लोकः। रघु० १०–२०।

३. नृपस्य वर्णाश्रमपालनं यत्स एव धर्मो मनुना प्रणीतः। रघु० १४–६७।

४. अमरकोश, २, ७, ४।

निम्नलिखित विशेषण[1] प्रयुक्त होते थे जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि समाज उनसे क्या चाहता था :

(१) विद्वान्	(९) मनीषी	(१७) कृति
(२) विपश्चित्	(१०) ज्ञ	(१८) कृष्टि
(३) सत्	(११) प्राज्ञ	(१९) लब्धवर्ण
(४) सुधी	(१२) संख्यावान्	(२०) दूरदर्शी
(५) कोविद	(१३) पण्डित	(२१) दीर्घदर्शी
(६) बुध	(१४) कवि	(२२) श्रोत्रिय
(७) दोषज्ञ	(१५) धीमान्	(२३) छान्दस
(८) धीर	(१६) सूरि	(२४) विचक्षण

ब्राह्मण छः परम्परागत कर्मों को करते थे[2]—(१) अध्ययन (२) अध्यापन (३) यजन (४) याजन (५) दान और (६) प्रतिग्रह। अध्यापन-व्यवसाय पर उन्होंने लगभग एकाधिकार कर लिया था तथा वे गुरु, आचार्य, आदेष्टा, अध्यापक तथा उपाध्याय नामों से प्रख्यात थे।[3] तत्कालीन साहित्य में मन्त्री, प्रशासक, साधु तथा ऋषियों के रूप में ब्राह्मणों का चित्रण हुआ है[4]। कभी-कभी अपवाद के रूप में वे परम्परानुगत व्यवसायों से इतर व्यवसायों को भी अपना लेते थे। कभी-कभी कुछ ब्राह्मण राजसभा में विदूषक के रूप में नौकरी कर लेते थे, उदाहरणार्थ—अग्निमित्र की राजसभा का विदूषक बड़ा पेटू था[5]। तथापि ब्राह्मणों का वर्ण अब भी पवित्रता, तपस्या, अध्ययन एवं करुणा के लिये प्रसिद्ध था। अभिज्ञानशाकुंतल में कण्व तथा मरीचि आदर्श ब्राह्मणों के चरित्र का प्रतिनिधित्व करते हैं।[6]

(२) क्षत्रिय

ब्राह्मणों के बाद सामाजिक अनुक्रम में क्षत्रियों का स्थान था। वे निम्नलिखित नामों से प्रसिद्ध थे[7] :

---

१. वही, २, ७, ५-६।

२. असौ षट्कर्मा यागादिभिर्वृतः। अमरकोश, २, ७, ४।

३. वही, २, ७, ७-८।

४. रघुवंश।

५. मालविका०, अंक २।

६. अंक ४ तथा ७।

७. अमरकोश, २, ८,१।

(१) मूर्द्धाभिषिक्त (जिसका शिर राजतिलक के समय पवित्र जल से सिञ्चित हो जाता था) यह नाम राजवर्ग का सूचक था ।
(२) राजन्य (राजवंश से उत्पन्न) ।
(३) बाहुज (पौराणिक रूप से परमपुरुष की बाहु से उत्पन्न) ।
(४) क्षत्रिय (क्षतों से रक्षा करने वाला) ।
(५) विराज (चमकने वाला) ।

क्षत्रिय शब्द अधिक लोकप्रचलित था तथा यह उस वर्ग के आधारभूत कार्यों का प्रतिनिधित्व करता था, यथा, समाज को क्षतों से बचाना। कालिदास[1] रघुवंश में कहते हैं, 'निस्सन्देह क्षतों से रक्षा करने के कारण ही क्षत्र शब्द विश्व में रूढ़ हो गया।' जिसका कर्तव्य इसके विपरीत होता है उसके लिये कलंकपूर्ण जीवन या राज्य से क्या लाभ ? क्षत्रिय लोग शासक, प्रशासक, सेनानायक, सैन्यसंचालक, सैनिक तथा पुलिस के सिपाही हुआ करते थे।[2] निस्संदेह यह चित्रण परम्परागत है किन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि क्षत्रिय समाज का केन्द्रीय तथा अतिशक्तिशाली वर्ग था और उनकी राजनीतिक महत्ता के कारण सामाजिक जीवन उन्हीं के चारों ओर घूमता था।

(३) वैश्य

सामाजिक संगठन में वैश्यों का तीसरा स्थान था। अमरकोश में उनके समाजप्रचलित निम्नलिखित विशेषण दिये गये हैं[3] :

(१) ऊरव्य (विराट पुरुष के ऊरु से उत्पन्न)
(२) ऊरुज (,, ,, ,,)
(३) अर्या (व्यापार तथा व्यवसाय में भ्रमण करनेवाले)
(४) वैश्य (जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में प्रवेश करनेवाले)
(५) भूमिस्पृश (भूमि को स्पर्श अर्थात् जुताई करनेवाले)
(६) विशाः (प्रजा)

उपर्युक्त शब्दों में प्रथम दो उनकी पौराणिक उत्पत्ति को व्यक्त करते हैं, तृतीय, चतुर्थ तथा पंचम उनके कार्यों को और अन्तिम शब्द समाज में इनकी स्थिति को व्यक्त करता है। चूँकि वैश्य समाज के आर्थिक आधार थे इसलिए

१. क्षतात्किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः ॥ २-५३ ।
२. रघुवंश तथा कालिदास के नाटक ।
३. २; ९, १ ।

अमरकोश[1] ने पोषण की भावना से ही उनका सम्बन्ध बताया है जो आजीव, जीविक, वार्ता, वृत्ति, वर्तन तथा जीवन आदि शब्दों से व्यक्त होता है। वैश्यों द्वारा किये जाने वाले व्यवसाय तीन थे—(१) कृषि, (२) पशुपालन तथा (३) वाणिज्य।[2] किसान को क्षेत्राजीव (खेतों में जिंदगी बितानेवाला), कर्षक (हल जोतनेवाला), कृषक तथा कृषिवल (खेत वाला), कहा जाता था।[3] संभवतः बौद्ध और जैन धर्म के प्रभाव के कारण पशुजीवन की पवित्रता पर अत्यधिक बल देने के कारण कृषि का पेशा अनृत[4] (नीचा तथा असत्य पर आधारित) कहा जाने लगा। कृषि को इस प्रकार चित्रित करने का कारण यह था कि इसमें हिंसा का पाप लग जाता था।[5] यहाँ हमें तर्कसंगत कारण का पता चलता है कि अधिक धर्मबुद्धि वाले वैश्यों ने कृषि को क्यों त्याग दिया और क्यों व्यापार व व्यवसाय में ही पूर्णरूप से लगे रहे तथा क्यों कृषक शूद्रों से, जो पशुजीवन की पवित्रता पर विशेष ध्यान नहीं देते थे, संबंधित बताये जाने लगे। किंतु व्यापार या व्यवसाय भी लांछन से मुक्त नहीं था क्योंकि इसे भी सत्यानृत (सत्यासत्य से मिश्रित) कहा गया है। वैश्य सूदखोरी का पेशा भी करते थे जिसे अर्थप्रयोग, कुसीद, तथा वृद्धिजीविक भी कहते थे[6]। कालिदास के ग्रन्थों में तथा पश्चात्कालीन साहित्य में, यथा, बृहत्कथा, बृहत्कथामंजरी, कथासरित्सागर तथा जैन निबन्धों में समाज के मनुष्यों का चित्रण आराम तथा विलासितापूर्ण है। भौतिक रूप मे संपन्न इस जीवन का आधार निस्संदेह समृद्ध कृषि, व्यापार-व्यवसाय तथा वैश्यों द्वारा संगठित विभिन्न प्रकार के उद्योग-धन्धे थे। साधारण तौर से व्यवसायी वर्ग धनी था और राज्य तथा समाज इसका आदर भी करता था।[7] राज्य कृषकों एवं पशुपालकों की रुचि तथा संपन्नता का विशेष ध्यान रखता था और उन्हें सभी प्रकार का रक्षण और साहाय्य मिलता था। उनके लाभार्थ विपुल वर्षा के लिए प्रार्थनाएँ की जाती थीं।[8]

---

१. वही।

२. वही, २, ९, २।

३. वही, २, ९, ६।

४. वही, २, ९, २।

५. हिंसादोषप्रधानत्वादनृतं कृषि।

६. अमरकोश २, ९, ३।

७. शकुन्तला ६।

८. भवतु तव विडौजाः प्राज्यवृष्टिः प्रजासु। शाकु० ७, ३४।

(४) शूद्र

सामाजिक संगठन में शूद्रों का स्थान सबसे निम्न था। प्रथम तीन वर्णों की ही भाँति वे भी निम्नांकित विशेषणों से जाने जाते थे[1] :

(१) शूद्र (जो शोक से द्रवित हो जाय)
(२) अवर वर्ण (नीची जाति)
(३) वृषल (जो वृष या धर्म अर्थात् सज्जीवन के आचरण का अनादर करता है)
(४) जघन्यज (विराट पुरुष के सबसे निचले भाग से उत्पन्न)

सिद्धान्ततः उन लोगों को शूद्र कहा जाता था जिनमें उत्साह, सहनशीलता की कमी रहती थी, जो खानपान एवं यौन संबंधों में बड़े ढीले रहते थे और जो सांस्कृतिक रूप से पिछड़ी हुई जातियों से आये थे। किंतु लगता है कि इस समय वर्ण-व्यवस्था अपनी तरल अवस्था में नहीं थी तथा वर्णों के विभाजन में जन्म का मान अधिक रहने लगा था। अतः परिस्थितियों से बाध्य होकर शूद्रों की संतान शूद्र ही कहलाई और स्थायी अयोग्यता की भागी बनी। चूँकि शूद्र अधिकतर घरेलू, कृषि-संबंधी एवं औद्योगिक श्रम में लगे रहते थे अतः तत्कालीन साहित्य में उनका उल्लेख बहुत कम हुआ है। तथापि अमरकोश[2] में शूद्रवर्ग के अन्तर्गत कारु या शिल्पियों की बहुत सी जातियों का उल्लेख किया गया है किंतु उनका वहाँ उल्लेख दासों और परिचारकों के रूप में हुआ है। कतिपय अयोग्यताओं के होते हुए भी वे समाज के अभिन्न अंग समझे जाते थे। इन्हें 'प्रकृति' अथवा 'प्रजा' में सम्मिलित किया जाता था तथा जहाँ तक समाज के सामान्य कल्याण का संबंध था राज्य उनको अपना अविभाज्य अंग मानता था[3]।

(५) संकर वर्ण

मनुस्मृति का अनुसरण करके अमरकोश[4] ने संकर वर्णों की तालिका दी है जो अन्तर्जातीय विवाहों से, जिनको स्मृतियों ने प्रोत्साहन नहीं दिया, उत्पन्न सन्तानों से कल्पित की गयी है। तालिका में निम्नलिखित संकर वर्ण हैं :

---

१. अमरकोश, २, १०, १।
२. २, १०।
३. प्रवर्ततां प्रकृतिहिताय पार्थिवः। शाकु०-७।३५।
४. २-१०।

(१) चाण्डाल (ब्राह्मण माता तथा शूद्र पिता से उत्पन्न)
(२) करण (शूद्र माता तथा वैश्य पिता से उत्पन्न)
(३) अम्बष्ठ (वैश्य माता तथा ब्राह्मण पिता से उत्पन्न)
(४) उग्र (शूद्र माता तथा क्षत्रिय पिता से उत्पन्न)
(५) मागध (क्षत्रिय माता तथा वैश्य पिता से उत्पन्न)
(६) माहिष्य (वैश्य माता तथा क्षत्रिय पिता से उत्पन्न)।
(७) क्षत्ता (वैश्य माता तथा शूद्र पिता से उत्पन्न)।
(८) सूत (ब्राह्मण माता तथा वैश्य पिता से उत्पन्न)।
(९) रथकार (करणी माता तथा माहिष्य पिता से उत्पन्न)।

जब हम तालिका का परीक्षण करते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि तथाकथित वर्ण मूलतः प्रजातीय, व्यावसायिक तथा राजनीतिक वर्ग थे जिन्हें समाज अच्छी दृष्टि से नहीं देखता था। निषेध होते हुए भी अन्तर्जातीय विवाह व्यावहारिक रूप से विद्यमान रहे। अतः स्मृतिकारों ने इस प्रकार के विवाहों से उत्पन्न संतानों को जिन्हें समाज में स्पृहणीय नहीं समझा जाता था समाज तथा वर्ग की स्थिति में बहुत निम्नकोटि में रखा। मिश्रित विवाह पर आधारित वर्णसंकर सिद्धान्त जातिगत तथा समाजशास्त्रीय दोनों दृष्टियों से अमाननीय है। अमरसिंह ने केवल परम्परा के आधार पर मनु को दुहराया है।

(६) अन्त्यज अथवा समाज की सीमा के बाहर रहने वाली जातियाँ

कालिदास के ग्रन्थों में तथा अमरकोश में छुआछूत तथा अस्पृश्यता के अस्तित्व का प्रत्यक्ष उल्लेख नहीं है किंतु कुछ जातियों तथा वर्णों का उल्लेख अवश्य हुआ है जिनको समाज में पूर्णतया नहीं पचाया जा सका था और जो अब भी या तो सामाजिक अथवा भौगोलिक रूप से संस्कृत समाज की बस्ती के बाहर रहते थे तथा जिन्हें बाद में 'अन्त्यज' कहा गया। 'अमरकोश'[1] में चाण्डाल के अन्तर्गत निम्नलिखित विभिन्न प्रकार की जातियों का उल्लेख किया गया है, जो वस्तुतः विभिन्न वर्ग थे और जिन्हें चाण्डालों के साथ ही विभाजित कर दिया गया—चाण्डाल, प्लव, मातंग, दिवाकीर्त्ति, जनंगम, निषाद, श्वपच, अंतेवासी और पुक्कस। इनमें कुछ अन्य वर्ण और विदेशी जातियों को भी जोड़ दिया गया है यथा किरात, शबर, पुलिंद तथा म्लेच्छ।

रघुवंश[2] में बस्ती से दूर वन में रहने वाली जातियों में श्वगुरिक (शिकारी

१. अमरकोश, २, १०, १९-२०।
२. ९-५३।

कुत्तों का झुण्ड रखने वाले), वागुरिक (जो जाल से शिकार करते थे) तथा दस्यु (डाकू) का उल्लेख है। कालिदास ने गन्धर्व, किन्नर, किरात, यक्ष इत्यादि असभ्य जातियों का भी उल्लेख किया है जो स्वभावतः हिमालय के प्रदेश में रहते थे। उन्होंने म्लेच्छ, यवन, पारसीक तथा हूण इत्यादि का भी उल्लेख किया है जो स्पष्टतः विदेशी जातियाँ थीं और पश्चिमोत्तर भारत की सीमा पर रहती थीं। कालिदास के ग्रन्थों में 'नाग' जैसी पौराणिक जातियों का भी उल्लेख हुआ है जो निस्संदेह मनुष्य थे और सामाजिक रूप से भारतीय लोगों से संबंधित थे।[1]

२. आश्रम चतुष्टय

धर्मसूत्रों तथा स्मृतियों की परम्परा का अनुसरण करते हुए विक्रमादित्य की जीवनी पर प्रकाश डालने वाले समकालीन तथा उत्तरकालीन ग्रन्थों में आश्रम-व्यवस्था का उल्लेख किया गया है। अमरकोश[2] निम्नलिखित चार आश्रमों का उल्लेख करता है जिनमें व्यक्ति का जीवन विभक्त था :

(१) ब्रह्मचर्य	(३) वानप्रस्थ
(२) गृही	(४) भिक्षु

आश्रम-चतुष्टय में वस्तुतः व्यक्ति के जीवन के चार क्रमिक स्तर थे। इन स्तरों का आश्रम नाम इस कारण था कि (१) या तो लोग यहाँ आराम प्राप्त करते थे अथवा (२) लोग अपने कर्तव्यों को पूरा करने के लिए सर्वतोमुखी श्रम करते थे।[3]

उपनयन संस्कार के बाद जब शिष्य अध्यापक के पास ज्ञान और शिष्टाचार सीखने के लिए जाता था[4] तो उस समय से ब्रह्मचर्य आश्रम का प्रारम्भ होता था। शिष्य अपने जीवन-प्रभात का बहुमूल्य सोलह वर्ष का समय अपने अध्यापक के पास बिताता था तथा शिक्षा समाप्त करने के पश्चात् उससे आज्ञा लेकर जीवन के द्वितीय स्तर में पहुँचने के इरादे से लौटता था।[5] सामान्यतः साधारण बालकों को शिक्षक के घर जाना पड़ता था किन्तु बहुधा

---

१. रघुवंश १६।

२. २, ७, ३।

३. आश्रम्यन्त्यत्र अनेन वा। यद्वा आसमन्ताच्छ्रमोऽत्र, स्वधर्मसाधनक्लेशात्। अमरसिंह २, ७ ३ पर भानुजी दीक्षित की टीका।

४. अथोपनीतं विधिवद्विपश्चितो विनिन्युरेनं गुरवो गुरुप्रियम्। रघु० ३-२९।

५. वही, ५, २०-२१।

राजपुत्रों को उनके माता-पिता[1] के द्वारा रखे हुए कुशल एवं समादृत अध्यापक उनके घर पर ही शिक्षा दिया करते थे, उदाहरणार्थ विक्रमादित्य की शिक्षा उनके घर पर ही हुई थी।[2]

जीवन के द्वितीय स्तर में व्यक्ति गृही (गृहयुक्त) होता था। यह आश्रम सामाजिक जीवन का केन्द्र तथा आधार समझा जाता था। सामान्य परिस्थिति में प्रत्येक व्यक्ति से आशा की जाती थी कि वह इस आश्रम में प्रवेश करेगा। यह द्वितीय आश्रम सभी की सेवा करने में सक्षम समझा जाता था।[3] इसी आश्रम में गृही अपने ऋणत्रय से मुक्त होता था। 'राजा पवित्र ग्रन्थों को पठन करके यज्ञों को सम्पन्न करके और प्रजाओं की उत्पत्ति करके देवताओं, ऋषियों और पितरों के ऋण से मुक्त होकर अपने परिवेष से मुक्त सूर्य की भाँति भास्वर हो उठे।'[4] इस सामान्य नियम के अपवाद में बहुत लोग रहते थे जो कि त्याग की उत्कट इच्छा से परिचालित होते थे अथवा शारीरिक रूप से बेकार रहते थे। जैन तथा बौद्ध धर्म की उत्पत्ति तथा प्रसार ने इस प्रकार के सन्तुलित जीवन पर एक गहरा प्रहार किया तथा बहुत से अपवाद निकल आए। बहुत प्रसिद्ध दृष्टान्त कालक तथा सरस्वती का है जिनका विक्रमादित्य के इतिहास से निकट सम्बन्ध है।

आश्रम-व्यवस्था के अनुसार गृही २५ वर्ष तक संग्रह, आनन्दोपभोग तथा सामाजिक सेवा का जीवन बिताने के पश्चात् वानप्रस्थ नामक अपने जीवन के तृतीय आश्रम में प्रवेश करता था। वानप्रस्थ आंशिक रूप में जीवन की एकान्तता है जिसमें व्यक्ति समीपवर्ती वन में चला जाता था। 'उस (पुत्र) का जो विजयी होकर आया था और एक योग्य पत्नी से संयुक्त हो गया था, स्वागत करके और कुल की रेख-रेख का भार उसको सौंपकर शान्तिमय जीवन बिताने के लिए अभिलषित हो गया, क्योंकि पुत्र के कुल का भार संवहन कर सकने योग्य हो जाने पर सूर्यवंश में उत्पन्न हुए लोग अधिक समय तक घर में संसक्त नहीं रहते[5]।' कथासरित्सागर में भी कहा गया है कि विक्रमादित्य के पिता महेन्द्रादित्य ने अपने पुत्र को राजसिंहासन पर बैठाकर

---

१. वही, ३-२९।

२. कथासरित्सागर १८-१।

३. कालो ह्ययं संक्रमितुं द्वितीयं सर्वोपकारक्षममाश्रमं ते। रघु० ५-१०।

४. रघुवंश ८-३०।

५. रघु० ७ ११।

शान्तिमय जीवन बिताने के लिए वानप्रस्थ ले लिया।[1] किन्तु यह कहना अत्यन्त कठिन है कि जीवन की यह आंशिक एकान्तता कहाँ तक सामान्य रूप से प्रचलित थी। जैन और बौद्ध धर्मों ने वानप्रस्थ के जीवन को प्रश्रय दिया। उनके अनुसार व्यक्ति जब चाहे गृहस्थ-आश्रम में आवश्यक रूप से बिना प्रविष्ट हुए ही वानप्रस्थ ले सकता है। अवस्था के पहले वानप्रस्थ ग्रहण करने के अनेक दृष्टान्त हैं।

अमरकोश के अनुसार जीवन का चतुर्थ आश्रम 'भिक्षु' का था। यह शब्द स्पष्टतः बौद्ध धर्म के प्रभाव को व्यक्त करता है। इस आश्रम में व्यक्ति सभी सांसारिक मोह पाशों को तोड़कर भिक्षणशील[2] तथा भ्रमणशील बन जाता था और सीधे आध्यात्मिक खोज में अपने को लगा देता था। 'तब रघु अपने पुत्र को दृढरूप से प्रजा में स्थित देखकर आत्मज्ञान के परिणामस्वरूप नाशवान इन्द्रियों के स्वर्गीय सुख से भी स्वभावतः उदासीन हो गये'।[3] कालिदास और भी आगे कहते हैं कि राजा वृक्षों की छाल के वस्त्र पहिनते थे तथा पूर्ण त्याग का अभ्यास करते थे।[4] यहाँ संन्यास तथा भिक्षु होने के उदाहरण शासक वर्ग से ही उद्धृत किये गये हैं तथा धर्मशास्त्र ब्राह्मणों को ही नियमतः इसमें प्रविष्ट होने की आज्ञा देते हैं। किन्तु यह व्यवस्था सामान्य लोगों से सम्बन्धित नहीं दिखाई पड़ती। जैन और बौद्ध संघों में भिक्षु यद्यपि परम्परागत आश्रम धर्म का पालन नहीं करते थे किन्तु उन्होंने परिव्राजकों और संन्यासियों की संख्या में वृद्धि अवश्य कर दी थी।

३. विवाह व्यवस्था

विक्रमादित्य के समय में इसे समाज में मौलिक व्यवस्था समझा जाता था तथा सामान्यतः सभी लोगों से इसमें प्रवेश करने की आशा की जाती थी। अमरसिंह[5] विवाह को विभिन्न नामों से पुकारते हैं : विवाह, परिणय, उद्वाह, उपयाम, पाणिपीडन। साहित्यिक ग्रन्थों में दैव और आर्ष को छोड़कर धर्मसूत्रों और स्मृतियों में दिये गये सभी प्रकार के विवाहों का उल्लेख मिलता है। अत्यधिक प्रचलित प्रकार ब्राह्म था जिसमें वधू के माता-पिता वर तथा उसके

---

१. १८, १, ६० ।

२. भिक्षणशीलः । अमरकोश, ७, २, २ में भानुजी दीक्षित की टीका ।

३. रघुवंश ८, १०; १९, २ ।

४. ८-१६ ।

५. अमरकोश, २, ७, ५६-५७ ।

पक्ष के लोगों को बुलाकर अलंकृत करके वेद-विधि से वर को कन्या-दान कर देते थे। कालिदास द्वारा वर्णित इसका बहुत ही आदर्श उदाहरण पार्वती-शंकर का विवाह है[1]। प्राजापत्य प्रकार के विवाह का भी जिसमें कन्या तथा वर दोनों को धर्म, अर्थ और काम का समान अधिकार था, उल्लेख मिलता है[2]। आसुर नाम से ज्ञात विवाह का भी जिसमें कन्या के संरक्षक कन्या का मूल्य स्वीकार करते थे, उल्लेख हुआ है किन्तु कन्या का मूल्य लेने वाले की आत्मा को वेदना से पीड़ित दिखाया गया है[3]। गान्धर्व विवाह क्षत्रियों में ही प्रचलित था जिसमें समाज के सबसे स्वच्छन्द तत्त्व निहित थे[4]। इस प्रकार के विवाह में वर तथा कन्या दोनों काम तथा पारस्परिक आकर्षण-वश संरक्षकों अथवा सम्बन्धियों से आज्ञा लिए बिना वेद-विधि छोड़कर विवाह सम्पन्न कर लेते थे। इस प्रकार से सम्पन्न किये गये विवाह बहुत सुखद नहीं होते थे क्योंकि वासना जो जीवन का सबसे क्षणिक तत्त्व है इस प्रकार के विवाहों का आधार था। शकुन्तला का दृष्टान्त इस बात का अच्छी तरह निर्देश करता है। अन्तिम दो प्रकार के विवाहों राक्षस और पैशाच का उदाहरण विक्रमादित्य के जीवन का वर्णन करने वाले कथासरित्सागर और जैन निबन्धों में प्राप्त होते हैं जिनमें संरक्षकों की इच्छाओं के विरुद्ध उनकी कन्याओं के बलात् अपहरण का वर्णन है। हमें ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं जिनमें कन्याओं को प्रमत्तावस्था तथा गुप्तावस्था में ही बुलाकर उनका सतीत्व नष्ट कर दिया गया था।[5] जहाँ तक इन विवाहों के सापेक्षिक महत्त्व का प्रश्न है ब्राह्म और प्राजापत्य अधिक समादृत थे। गान्धर्व और आसुर विवाहों को समाज सहन कर रहा था किन्तु उनका आदर नहीं होता था। राक्षस और पैशाच दोनों निन्दित थे किन्तु उनके सम्बन्ध में नियम बना दिये गये थे कि ऐसी कन्यायें जिनका सतीत्व नष्ट कर दिया गया है सतीत्व नष्ट करने वाले के अतिरिक्त अन्य किसी को ग्राह्य न होंगी। इसका कारण यौन-शुद्धि-विषयक सामाजिक धारणा थी।

क्षत्रियों, विशेषकर राजघरानों में, स्वयंवर तथा प्रण-विवाह (वर कुछ

---

१. कुमार०, ७।

२. रघुवंश।

३. पीडितो दुहितृशुल्कसंस्थया। वही ११-३८।

४. शकुन्तला, ३-२०।

५. कथासरित्सागर, १८, २; पुरातन प्रबन्ध संग्रह।

शर्तों को पूरा करके कन्या से विवाह करता था) की प्रथायें भी प्रचलित थीं। धर्मशास्त्रों में इन प्रथाओं का उल्लेख नहीं मिलता। किन्तु कालिदास के ग्रन्थों में इनका वर्णन है। इन्दुमती[1] का विवाह प्रथम तथा सीता[2] का विवाह द्वितीय कोटि में आता है। किन्तु दोनों प्रथाओं का प्रचलन कुछ सीमाओं के भीतर ही था। वस्तुतः विवाह के पूर्व वर की ग्राह्यता तथा योग्यता देख ली जाती थी। इन प्रथाओं के धर्मशास्त्रों में उल्लिखित न होने का मुख्य कारण यह है कि दोनों प्रकार के विवाह अन्त में ब्राह्म-विधि से ही सम्पन्न होते थे और उनसे धार्मिक उद्देश्य पूरा होता था।

विवाह की प्रथा में कुछ सीमायें भी थीं। अधिकांश विवाह अपने ही वर्ण में किन्तु अपने से भिन्न पिण्ड और गोत्र में किये जाते थे। प्रथम सीमा के अपवाद भी उपलब्ध होते हैं। विशेषतः ब्राह्मण और क्षत्रियों में अन्तर्जातीय विवाह (असवर्ण विवाह) के भी उदाहरण मिलते हैं। कालिदास अग्निमित्र (ब्राह्मण) का मालविका[3] (क्षत्रिय कन्या) के साथ और दुष्यन्त (क्षत्रिय) का शकुन्तला[4] (ब्राह्मण की धर्मपुत्री) के साथ विवाह का वर्णन करते हैं। यद्यपि वे दूसरे विवाह के प्रसंग में दुष्यन्त की मानसिक झिझक का भी उल्लेख करते हैं। जान पड़ता है कि अनुलोम विवाह (उच्चवर्ण के वर का निम्न वर्ण की कन्या के साथ विवाह) का पक्ष अब भी बलवान था किन्तु प्रतिलोम विवाह पसन्द नहीं किया जाता था। दूसरी सीमा का सामान्यतः आदर किया जाता था। उत्तरी भारत के शाक्यों जैसी कुछ बौद्ध गणतान्त्रिक जातियाँ सगोत्र विवाह किया करती थीं किन्तु वे सामाजिक व राजनीतिक रूप से दुर्बल हो गये और धीरे-धीरे उन पर भी ब्राह्मण-अनुशासन छा गया।

साहित्यिक ग्रन्थों में वर्णित लगभग सभी प्रकार के उदाहरणों में वर और कन्या दोनों ही वयस्क होते थे तथा वे विवाह तय होने में अपने विवेक का प्रयोग कर सकते थे। कन्या का अपने माता-पिता तथा संरक्षकों के चुनाव और मत को मानना अच्छा समझा जाता था। 'राज्यश्री राजकुमार में जिसने समयानुसार गुरुजनों से शिक्षा पायी थी और जो अपने यौवन के विकास से

---

१. रघुवंश, ६।

२. वही, ११, ३८ और आगे।

३. मालविकाग्निमित्र।

४. रघुवंश।

और भी सुन्दर हो गया था, अनुरक्त होने पर भी उसी प्रकार से अपने स्वामी की आज्ञा की प्रतीक्षा कर रही थी जिस प्रकार धीर कन्या किसी पर अनुरक्त होने पर भी अपने पिता की अनुज्ञा की प्रतीक्षा करती है।'[1] इन सब विषयों में माता की आज्ञा पिता से अधिक निर्णायक समझी जाती थी यद्यपि वह साधारणतः अपने पति के ही मत का अनुसरण करती थी।[2] गान्धर्वविवाह के उदाहरणों में, जो कि अपवादस्वरूप थे, न तो संरक्षकों से परामर्श लिया जाता था और न उनकी राय का आदर ही किया जाता था, यद्यपि वे ऐसे मामलों में अपनी अनुमति दे देना बुद्धिमानी समझते थे, क्योंकि ऐसे विवाह पहले ही सम्पन्न हो चुकते थे अतएव निषेध करना व्यर्थ होता था। शकुन्तला के धर्मपिता कण्व ने दुष्यन्त और शकुन्तला के गान्धर्व-विवाह का अनुमोदन किया था।[3]

विवाह तय करने का कोई भी प्रकार क्यों न हो यह आवश्यक, कम से कम अभीष्ट, समझा जाता था कि प्रत्येक प्रकार के विवाह में वैवाहिक संस्कार हों जिससे वह धार्मिक और सामाजिक स्वीकृति पा सके। कुमारसम्भव[4] में कालिदास द्वारा उमा के उद्वाह का वर्णन विवाह की व्यवस्था और सम्पन्नता के लिए अपनायी जानेवाली सामान्य विधि पर प्रकाश डालता है। सर्वप्रथम वैवाहिकी तिथि निश्चित की जाती थी। कन्या के घर तथा अड़ोस-पड़ोस को सजाया जाता था। विवाह के दिन कन्या का शरीर अच्छी प्रकार से अलंकृत किया जाता था। उसका 'मंगलस्नान' होता था तथा कौतुकवेदी पर वह बैठती थी जहाँ उसका और भी अलंकरण होता था। उसकी कलाई पर ऊन का बना हुआ शुभ सूत्र (कौतुक-हस्तसूत्र) बाँध दिया जाता था। वर अपने पक्ष के लोगों के साथ एक सुविशाल वैवाहिक संयात्रा (जुलूस) बनाकर कन्या के पिता के घर जाता था जिसको कन्या के पिता के सम्बन्धी तथा पड़ोसी बड़ी उत्सुकता से देखते थे। वरपक्ष के लोगों का उचित आदर होता था तथा वर को उपहार दिये जाते थे। कुल-पुरोहित की अध्यक्षता में पवित्र अग्नि के सम्मुख संस्कार सम्पन्न किये जाते थे। विवाह के दो प्रमुख संस्कार पाणिग्रहण (पत्नी के पालन-पोषण के उत्तरदायित्व का प्रतीक)

---

१. श्रीः साभिलाषापि गुरोरनुज्ञां धीरेव कन्या पितुराचकांक्ष। रघु० ५, ३८।

२. प्रायेण गृहिणीनेत्राः कन्यार्थेषु कुटुम्बिनः। कुमार० ६, ८५-८६।

३. शाकुन्तल ३।

४. ६ और ७।

तथा अग्निप्रदक्षिणा (अग्नि के चारों ओर घूमना, जो संस्कार का स्थायी तत्व था, साक्षित्व का परिचायक) थे। विवाह सम्पन्न होने के पश्चात् वर और वधू अपने बड़ों तथा सम्बन्धियों से आशीर्वाद व उपहार प्राप्त करते थे। तदनन्तर वर वधू को लेकर उचित दहेज के साथ रथ में बैठकर वापस आता था।[1] तत्पश्चात् वे कई महीनों तक प्रसन्नतापूर्वक केलिमास मनाते थे।

जनसाधारण में सामान्यतः एकपत्नीविवाह ही प्रचलित था। कामाचार तथा बहुपतित्व का एक भी चिह्न नहीं मिलता। किन्तु शासक तथा सम्पन्न कुटुम्बों में बहुपत्नीविवाह अधिकांशतः प्रचलित था। बहुपत्नीक को कोई लांछन नहीं लगता था यद्यपि पहली पत्नी सपत्नियों के आने पर बुरा मानती थीं। 'राजा मालविका को अधिक प्यार करने लगे थे किन्तु रानी धारणिका की भावनाओं को ठेस न लगे इसलिए उन्होंने अपने को उससे दूर रखा[2]।' बहुत से नरेश अन्तःपुर में अपने युग की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरियों को रखा करते थे।[3] विक्रमादित्य के अन्तःपुर में भी मध्यकालीन लेखकों के अनुसार बहुत-सी सुन्दरी स्त्रियाँ थीं। लगभग प्रत्येक युद्ध में वे एक न एक स्त्री लाये थे। धनी व्यापारी नियमतः कई स्त्रियाँ रखते थे। 'यदि वह धनी था तो उसके कई पत्नियाँ अवश्य रही होंगी।'[4] तथापि कालिदास अज[5] तथा राम[6] के वर्णन में बहुपत्नीत्व के सम्माननीय अपवाद प्रस्तुत करते हैं। इन्दुमती की मृत्यु पर अज का विलाप लोकोक्ति बन गया है। अश्वमेध यज्ञ के समय राम ने दूसरी पत्नी ग्रहण करना स्वीकार नहीं किया तथा उन्होंने अपने साथ सीता की प्रतिमा को रखा था। यद्यपि समाज बहुपत्नीत्व को सहन करता था किन्तु कवियों द्वारा कल्पित आदर्श विवाह एकपत्नीक ही था।

४. वैवाहिक जीवन का आदर्श

वैवाहिक जीवन का आदर्श धर्म, अर्थ और काम के विषयों में पति-पत्नी का पूर्ण सामञ्जस्य तथा एक दूसरे के प्रति उत्कट विश्वास था। तथापि वैवाहिक

---

१. सत्त्वानुरूपाहरणी। रघु० ७, ३२।
२. मालविका० ३, शाकु० अंक ६।
३. प्रतिकृतिरचनाभ्यो दूतिसन्दर्शिताभ्यः समधिकतररूपाः। रघु० १८, ५३।
४. शाकुन्तल ६।
५. रघु० ८, ५२।
६. रघु० १५।

जीवन सदैव आनन्द और आराम का नहीं होता था। यह आवश्यक रूप से उत्तरदायित्व तथा कठिनाइयों का जीवन था। इस आदर्श की पूर्ति में पति कभी-कभी ढीला पड़ जाता था परन्तु स्त्री सामान्यतः इस आदर्श की पूर्ति में संलग्न रहती थी। कालिदास अपने स्त्री-चरित्रों का विशेषतः नायिकाओं का चित्रण त्याग, प्रेम और अहं-शून्यता की प्रतिमा के रूप में ही करते हैं। राम ने राज्यकर्तव्य से बाध्य होकर सीता के साथ कठोरता का व्यवहार किया तथा गर्भिणी अवस्था में ही निर्वासित कर दिया। किन्तु सीता ने अपने पति के प्रति विना किसी अभ्यसूया के निम्नलिखित शब्दों का प्रयोग किया जो धर्मपत्नी की भावनाओं की अद्वितीय अभिव्यक्ति है: 'इस परिस्थिति में पड़कर सन्तान उत्पन्न हो जाने के पश्चात् सूर्य की ओर आँखें गड़ाकर तप करूँगी जिससे जन्मान्तर में भी आप ही मेरे पति हों और वियोग की स्थिति उत्पन्न न हो'।[1] राम यद्यपि कठोर अनुशासनप्रिय राजा थे किन्तु अपनी पत्नी के प्रति सहृदय थे। लक्ष्मण ने जब राम को सीता के ये शब्द सुनाये तो उनकी आंखें आँसुओं से वैसे भर गयीं जैसे पौष मास का पूर्णचन्द्र तुषार गिराने लगता है।[2] आदर्श पत्नी के कर्तव्यों को कालिदास ने निम्नलिखित शब्दों में दिया है: 'बड़ों का आदर करो, सपत्नियों के प्रति प्रेमपूर्ण व्यवहार करो और यदि तुम्हारा पति कठोरता का बर्ताव करता है तो तुम भी कठोर न बनो तथा अपने सेवकों के प्रति उदार बनी रहो। इस प्रकार ये बातें पति के घर में वरदान सिद्ध होंगी, तुम्हारे लिये अभिशाप नहीं।'[3] आदर्श वैवाहिक जीवन सफल होना चाहिए। सन्तानों का घर में स्वागत होता था और बड़े स्नेह के साथ उनका पालन-पोषण और शिक्षा होती थी। ऐसा व्यक्ति सचमुच भाग्यशाली समझा जाता था जिसकी गोद धूल में खेलते हुए बच्चों से धूसरित हो जाती थी।[4]

५. समाज में स्त्री का स्थान

अमरकोश[5] में स्त्री के निम्नलिखित पर्यायों से स्पष्ट हो जायगा कि स्त्रियों को समाज में किस दृष्टि से देखा जाता था:

१. भूयो यथा मे जन्मान्तरेऽपि त्वमेव भर्ता न च विप्रयोगः। रघु० १४, ६।

२. बभूव रामः सहसा सवाष्पस्तुषारवर्षीव सहस्यचन्द्रः। रघु० १४, ८४।

३. शाकु० ४।

४. अङ्काश्रयप्रणयिनस्तनयान्वहन्तो धन्यास्तदङ्गरजसा मलिनीभवन्ति। शाकु० ७, १७।

५. अमरकोश २, ६, २-४।

(१) स्त्री (जो सन्तान उत्पन्न करने के योग्य हो)
(२) योषित् (सेवा करने वाली)
(३) अबला (बलहीना)
(४) योषा (प्रिया)
(५) नारी (नर-सम्बन्धी)
(६) सीमन्तिनी (लम्बे केश वाली)
(७) वधू (सहनशीला)
(८) प्रतीपदर्शिनी (तिरछा देखने वाली)
(९) वामा (प्रेम उड़ेलने वाली)
(१०) वनिता (उमड़ती हुई वासना वाली)
(११) महिला (आदर करने योग्य)
(१२) अंगना (सुन्दर अंगों वाली)
(१३) भीरु (डरपोक)
(१४) कामिनी (उत्कट काम वाली)
(१५) वामलोचना (आंखों में वासना लिए हुए)
(१६) प्रमदा (मद से पूर्ण)
(१७) मानिनी (मान करने वाली)
(१८) कान्ता (सुन्दर)
(१९) ललना (दुलारी)
(२०) नितम्बिनी (आयत नितम्बों वाली)
(२१) सुन्दरी (देखने में अच्छी लगने वाली)
(२२) रमणी (रमण करने योग्य)
(२३) रामा (अच्छी लगने वाली)
(२४) कोपना (कुपित होने वाली)
(२५) भामिनी (क्रोध दिखाने वाली)
(२६) वरारोहा (बड़े-बड़े कूल्हों वाली)
(२७) मत्तकाशिनी (मदपान के पश्चात् चमकने वाली)
(२८) उत्तमा (सबसे अच्छी)
(२९) वरवर्णिनी[1] (सुन्दर रंग वाली)

---

१. शीते सुखोष्णसर्वाङ्गी ग्रीष्मे या सुखशीतला ।
भर्तृभक्ता च या नारी सा भवेद्वरवर्णिनी ॥ रुद्र : भानुजी दीक्षित द्वारा अमरकोश की टीका में उद्धृत । हमने स्त्री के विभिन्न पर्यायों की व्याख्या में भानुजी दीक्षित का अनुसरण किया है ।

स्त्री के बारे में प्रयुक्त ये शब्द स्त्री की जातिगत, शारीरिक तथा सौन्दर्य और प्रेममूलक धारणा का निर्देश करते हैं। इन शब्दों का प्रयोग बहुत अधिक दिनों से होता आ रहा है तथा वे आदिम लिंगभेद पर आधारित हैं, यद्यपि इस युग तक वे जीवित थे और अपने मूल अर्थ पर बिना कोई ध्यान दिये ही उनका प्रयोग किया जाता था। यदि हम इस युग के साहित्यिक ग्रंथों का अध्ययन करें तो हम देखेंगे कि अपनी आदिम और तात्विक सीमा के बाहर भी स्त्री का चित्रण हुआ है।

जैसा कि कालिदास के ग्रन्थों से पता चलता है स्त्रियों का समाज में बहुत ही ऊँचा स्थान था। पुत्री के रूप में कुटुम्ब में उसका बहुत दुलार होता था, माता-पिता के द्वारा उसका पालन-पोषण और शिक्षा होती थी यद्यपि इन सबको करते हुए पिता के मन में एक दुःख की भावना बनी रहती थी क्योंकि एक दिन वह उसको दूसरे को दे देनी पड़ती थी : 'कन्या दूसरे का धन है, बहुमूल्य रत्न है जो माता-पिता के पास निक्षेप के रूप में तब तक रहता है जब तक उसका वास्तविक स्वामी उसे नहीं ले जाता। और अब मैंने उसको उसके यथार्थ स्वामी को दे दिया है। अतएव मेरी आत्मा का बोझ हलका हो गया है। अब मैं अधिक स्वच्छन्दतापूर्वक श्वास लेता हुआ प्रतीत होता हूँ।'[1] उसे अपने संरक्षकों के रक्षण में समझा जाता था। फिर भी उसे घूमने की स्वतन्त्रता थी तथा उसे अपना जीवन-साथी चुनने का, विशेषतः गान्धर्व विवाह तथा स्वयंवर में भाग लेने का पूर्ण अधिकार था।

पत्नी के रूप में वह गृहस्वामिनी थी यद्यपि विधानतः वह अपने पति के अधीन थी : 'वास्तव में मैं पृथ्वी का स्वामी नाममात्र को हूँ जब कि मेरा प्रेम गम्भीर संवेगों से शृंखलित होकर तुम्हीं में केन्द्रित है।'[2] पति स्त्री का अत्यन्त आदर करता था। अज अपनी पत्नी की मृत्यु पर विलाप करते हुए कहते हैं : 'तुम्हीं मेरी पत्नी, परामर्शदात्री, एकान्तसंगिनी तथा ललित कलाओं में मेरी प्रियशिष्या थीं। संक्षेप में, तुम्हें लेकर, कहो, मृत्यु ने मेरा क्या छोड़ा ? निर्दय होकर उसने मुझे लूट लिया ?'[3]

---

१. अर्थो हि कन्या परकीय एव तामद्य सम्प्रेष्य परिगृहीतुः।
जातो ममायं विशदः प्रकामं प्रत्यर्पितन्यास इवान्तरात्मा ॥ शाकु० ४. २२।

२. रघु० ८, ५२।

३. वही० ८, ६७।

धर्म, अर्थ और काम की पूर्ति में स्त्री पति की अनवरत संगिनी थी तथा धार्मिक कृत्यों में पति के साथ उसकी उपस्थिति इतनी अनिवार्य थी कि उसकी अनुपस्थिति में उसका कोई प्रतीक ही रख लिया जाता था। जिस समय राम अश्वमेध यज्ञ कर रहे थे उन्होंने सीता की अनुपस्थिति में अपने पार्श्व में सीता की स्वर्णमयी प्रतिमा रखी थी।[1] जहाँ तक कन्या के विवाह का प्रश्न था माता का मत पिता से अधिक मान्य समझा जाता था।[2]

जिस समय स्त्री माता बनती थी उसका महत्त्व लोगों की दृष्टि में बढ़ जाता था। माता के रूप में वह सर्वदा आदर तथा पूजा का पात्र थी। जहाँ तक सम्मान का प्रश्न था माता का स्थान पिता से भी अधिक था। जब राम लंका से अयोध्या लौट आए, उनका सर्वप्रथम काम अपनी माताओं के पास पहुँचना तथा उन्हें श्रद्धापूर्वक सम्मानित करना था।[3] विक्रमादित्य के जीवनवृत्तात्मक वर्णनों में वे अधिक मातृ-भक्त वर्णित किये गये हैं।[4]

साहित्यिक ग्रन्थ स्त्री की सामाजिक तथा धार्मिक दशा पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं किन्तु उनकी आर्थिक स्थिति के बारे में कोई स्पष्ट बात ज्ञात नहीं होती। निश्चय ही वे विवाह के अवसर पर पर्याप्त आहरणी[5] (दहेज तथा उपहार) लाती थीं जो स्त्रीधन का प्रमुख अंग होता था किन्तु अपने पति की सम्पत्ति में उसका क्या अधिकार था, पर्याप्त साक्ष्यों के अभाव में कहना कठिन है। कालिदास के 'अभिज्ञानशाकुन्तल'[6] में एक दृश्य है जो पति की सम्पत्ति के उत्तराधिकार में स्त्री की स्थिति का चित्रण करता है।

राजा कहता है: 'क्या समुद्रव्यापारी धनमित्र पोत भग्न होने से नष्ट हो गया? बेचारे के कोई भी सन्तान नहीं है। मंत्री लिखता है कि उसकी सारी सम्पत्ति को राज्य हस्तगत कर लेगा। सन्तान न होना भी क्या दुर्भाग्य है! वेत्रवती, धनी सौदागर के कई स्त्रियाँ होंगी। इसका पता लगाना चाहिए कि उनमें कोई गर्भिणी है या नहीं × × गर्भ के बालक को पिता की सम्पत्ति के उत्तराधिकार में अधिकार है।'

---

१. रघु० १४, ८७।
२. कुमार० ६, ८५।
३. रघु० १४।
४. विक्रमार्क–सत्वप्रबन्ध संग्रह।
५. रघु० ७, ३२।
६. ६, २२ श्लोक के बाद।

उपर्युक्त अवतरण इस बात का निर्देश करता है कि स्त्री पति की संपत्ति की उत्तराधिकारिणी नहीं बन सकती थी यद्यपि उसके पोषण के लिए राज्य की ओर से प्रबन्ध कर दिया जाता था। पोषण की सम्भावना राजा की इस घोषणा से प्रकट होती है : 'यह अनावश्यक बात है कि किसी के सन्तान है अथवा नहीं। यह घोषणा कर देनी चाहिये कि दुष्यन्त (राजा) दुष्टों के अतिरिक्त उन सभी लोगों का सम्बन्धी है जिनके सम्बन्धी मर चुके हैं।' स्त्री के जीवित रहने पर भी राज्य द्वारा सम्पत्तिहरण इस बात का संकेत करता है कि स्वतन्त्र व्यक्ति के रूप में स्त्री सम्पत्ति नहीं रख सकती थी और राज्य एक प्रकार के आदिम समाजवाद का प्रयोग करता था और वह सम्पत्ति को दूर के सम्बन्धियों में नहीं जाने देता था। स्त्री की आर्थिक अयोग्यता स्पष्ट है।

जहाँ तक पति को पसन्द करने और घूमने की स्वतन्त्रता का प्रश्न है स्त्री को ऐसी पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त थी। उसे विवाह के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता था और न उसकी इच्छा के विरुद्ध उसे संन्यासी का जीवन बिताने से रोका जाता था। तथापि जीवन की स्मार्त-व्यवस्था के अनुसार उसे संन्यासावस्था में प्रसिद्ध ऋषियों की देख-रेख में रहना पड़ता था। कालिदास द्वारा वर्णित कण्व के आश्रम में अनेक ब्रह्मचारिणी स्त्रियाँ भी थीं।[1] बौद्ध धर्म से प्रभावित होकर स्त्रियाँ अधिक संख्या में भिक्षुणी या थेरी बन गयी थीं और स्वच्छन्दतापूर्वक घूमती थीं। घूमने की स्वतन्त्रत। कुछ परिव्राजिकाओं, भिक्षुणियों अथवा वनवासियों की कन्याओं तक ही सीमित नहीं थी अपितु इसमें रानियों, माताओं या गृहपत्नियों का भी भाग था।[2] तथापि स्त्रियाँ कुछ विविक्तता का भी पालन करती थीं। बौद्ध भिक्षुओं से पृथक् आवासों में रहती थीं। कालिदास के ग्रन्थों में 'अवरोधनों' तथा राजाओं और अर्थपतियों के अन्तःपुरों का उल्लेख है।[3] तथापि ये शब्द (अपने वर्तमान अर्थ में) पर्दा प्रथा के अस्तित्व को सिद्ध नहीं करते जिसका अर्थ लोगों की दृष्टि में शरीर का अवगुण्ठन है। उनका अर्थ केवल पूर्ण रक्षित शिष्ट तथा भद्र पुरुषों के घरों की स्त्रियों से है। स्त्रियों की यह आंशिक विविक्तता भी सर्वव्यापी नहीं थी। केवल उच्च कुलों में ही ऐसा होता था। विक्रमादित्य के समय में अनिवार्य रूप से सती प्रथा भी अप्रचलित थी।

१. अभिज्ञानशाकुन्तलम् १, २, ३।

२. मालविकाग्निमित्रम्।

३. रघु० १, ३२; ४, ६८; १६, २५, ५८, ७१; कुमार० ७, १२।

हमें पति की मृत्यु के बाद जीवित रहने वाली विधवाओं का वर्णन मिलता है।[1] इसमें सन्देह नहीं कि कुछ स्त्रियाँ अपने पति की चिता पर ही भस्म हो जाती थीं किन्तु अधिकांश ऐसा नहीं करती थीं। गर्भिणी स्त्रियों को नियमतः सती होने से रोक दिया जाता था।[2] कुमारसम्भव[3] में रति का दृष्टान्त विचारणीय है। निम्नलिखित मनोभावों को व्यक्त करने से लगता है कि जले हुए पति काम का अनुसरण करने की ही उसकी आकांक्षा थी: 'चन्द्रमा के साथ उसकी चाँदनी भी चली जाती है और घनों के साथ सौदामिनी भी अन्तर्हित हो जाती है। इसी प्रकार स्त्रियाँ भी पति का अनुसरण करती हैं इतना तो बुद्धिहीन भी जानते हैं।' किन्तु उसने स्वयं अपने को धीरज बँधाया तथा जल मरने से रोक रखा। तथापि उसके शब्दों से प्रकट होता है कि सती प्रथा लुप्त नहीं हुई थी। यह पूर्ण सम्भव है कि राजपूताना तथा मध्य-भारत की गणतान्त्रिक जातियों में इस प्रथा का प्रचलन रहा हो। कुछ शताब्दियों पूर्व यूनानियों ने पंजाब में इन जातियों के पूर्वजों में इस प्रथा को देखा था।[4]

---

१. कुमार० ४, १।

२. रघु० १९, ५६।

३. ४, ३३।

४. मैक्क्रिण्डल अ० १, १, पृ० ३६।

दशम अध्याय

धार्मिक जीवन

१. भूमिका

प्रथम शती ई० पू० में भारतवर्ष के तीन प्रमुख धर्म—वैदिक, जैन और बौद्ध—पिछली पाँच शतियों से साथ ही साथ पनपते चले आ रहे थे। प्रतिक्रिया और समन्वय की प्रक्रिया से उन्होंने एक दूसरे को प्रभावित किया। यद्यपि उनका अपना अलग-अलग अस्तित्व था किन्तु उनमें बहुत कुछ समानतायें भी थीं। सुविधा के लिए इन धर्मों की अलग-अलग चर्चा की जायगी तथा उनके मुख्य अंग स्पष्ट किये जायेंगे।

२. वैदिक धर्म

मौर्यों के पतन के बाद, जो जैन और बौद्ध दो नैतिक एवं सुधारवादी धार्मिक आन्दोलनों के आश्रयदाता थे, वैदिक धर्मावलम्बी शुङ्गों ने वैदिक धर्म के देवतामण्डल, अध्यात्मशास्त्र और कर्मकाण्ड का पुनरुद्धार किया। पूर्वोत्तर भारत के गणतन्त्रों के ठीक विरुद्ध जो बौद्ध-धर्म के प्रभाव से अभिभूत हो गये थे, राजपूताना तथा मध्य-भारत के गणतन्त्र अपनी पूजा और विश्वास में पहले से ही वैदिकधर्मावलम्बी थे। ब्राह्मण-धर्म का यह पुनरुद्धार विक्रमादित्य के काल में भी जारी रहा। वस्तुतः मीमांसा की धर्म-विषयक धारणा ही यह हो गयी कि 'धर्म वही है जो वेद द्वारा उपस्थापित विधियों के अनुसार किया जाय'।[1] समकालीन ग्रन्थों में वैदिक देवताओं तथा वैदिक संस्कारों का बहुत उल्लेख हुआ है। निम्नलिखित देवताओं का बहुधा वर्णन मिलता है—इन्द्र, वरुण, अग्नि, विष्णु, आदित्य, सोम, पुरुष, प्रजापति, शिव, रुद्र, वायु आदि। इनका आवाहन यज्ञ के विभिन्न अवसरों पर किया जाता था तथा उनसे वरदान के लिए प्रार्थना की जाती थी। इन देवताओं की पूजा दो विधियों से होती थी। (१) प्रार्थनाओं द्वारा और (२) यज्ञ द्वारा। देवताओं की विभिन्न प्रकार की प्रार्थनायें की जाती थीं जिनमें भक्तों को जीवनोपयोगी वस्तुयें प्रदान करने के लिए देवताओं से निवेदन किया जाता

---

१. धर्मस्तु तद्विधिः। अमरकोश १,२, ६।

था। इन्द्र का सम्बन्ध अब भी वर्षा से था : 'इन्द्र लोगों के लिए अधिक वृष्टि करें तथा तुम वज्री को प्रसन्न करो।'[1] विभिन्न वैदिक देवताओं की विभिन्न प्रकार की प्रार्थनायें की जाती थीं। जहाँ तक यज्ञों का प्रश्न है वे बहुत अधिक प्रचलित थे और रघुवंश में राजाश्रय में ब्राह्मणों के निरन्तर यज्ञों में लगे रहने का वर्णन मिलता है : 'उन्होंने स्वयंदत्त ग्रामों में, जहाँ यूपों का प्राचुर्य था, अर्घ्यदान स्वीकार करने के अनन्तर समादरपूर्वक अमोघ आशीर्वाद प्राप्त किया'।[2] और भी कहा गया है : 'सरयू का, जिसके किनारे पर अनेक यूप गड़े हुए हैं, अश्वमेध यज्ञ के प्रसङ्ग में रघुवंशियों के अवगाहन करने से पवित्र हुआ जल अयोध्या राजधानी के चारों तरफ बहता है।'[3] दीर्घकालीन यज्ञों का भी उल्लेख हुआ है : 'इस समय वह पाताल लोक में है जिसके द्वार सर्पों ने इसलिए बन्द कर रखे हैं कि दीर्घकालीन यज्ञों में रत प्रचेताओं की हविष् की कमी न पड़े।'[4] शासक वर्ग के लोग अश्वमेध,[5] विश्वजित् तथा राजसूय[6] आदि राजनीतिक यज्ञ किया करते थे जो देश में उनकी एकच्छत्रता के प्रतीक थे। गृहस्थों के घर पर पंच-महायज्ञ हुआ करते थे।[7] वे इस प्रकार हैं : (१) ब्रह्मयज्ञ (पवित्र ग्रन्थों का अध्ययन), (२) देवयज्ञ (देवताओं के लिए यज्ञ), (३) पितृयज्ञ (पितरों को पिण्डदान), (४) अतिथियज्ञ (अतिथिसेवा), (५) भूतयज्ञ (सभी प्राणियों को दान)। इनके अतिरिक्त निम्नलिखित संस्कारों[8] को भी गृही करता था : जातकर्म, नामकरण, चौल, उपनयन, समावर्तन, विवाह तथा अन्त्येष्टि। पितरों को प्रतिदिन श्राद्ध भी प्रदान किया जाता था।[9] पुत्रेष्टि जैसे काम्ययज्ञ भी किये जाते थे।[10] पुनर्जीवित

---

१. भवतु तव विडौजाः प्राज्यवृष्टिः प्रजासु त्वमपि विततयज्ञो वज्रिणं भावयेथाः। अभिज्ञान-शाकु० ७, ३५।
२. रघु० १, ४४।
३. रघु० १३, ६१।
४. रघु० १, ८०।
५. वही० १५, ५८ से आगे; मालविकाग्निमित्रम्।
६. वही० ५, १।
७. रघु० ११, १५।
८. वही० १०, ७८; १५, ३१; १०, ४।
९. वही १, ६८ के आगे।
१०. वही।

वैदिक धर्म पहले तो शुङ्गों के आश्रय में, तत्पश्चात् ब्राह्मणवादी गणतन्त्रों के आश्रय में सशक्त हो गया था और अभी भी प्राणवान् था। इस तरह का साक्ष्य तृतीय शताब्दी ई० का नंदसा यूप अभिलेख है। इस अभिलेख के अनुसार मालवों ने उतने वर्ष बाद भी जनता की प्रसन्नता के लिए एकषष्टि यज्ञ किया।[1]

३. वैदिक धर्म में नई प्रवृत्तियाँ

यद्यपि वैदिक धर्म का पुनरुद्धार और पुनर्जीवन हुआ था तथापि यह नवीन विचारों और विश्वासों से उद्भूत नयी प्रवृत्तियों को जो विभिन्न क्षेत्रों को प्रभावित कर रही थीं न रोक सका। फलतः वैदिक धर्म ने समझौते और परिवर्तन की अवस्था में प्रवेश किया और इसमें बहुत सी नवीन बातों का विकास हुआ। वैदिक देवताओं में परिवर्तन हुआ। महावीर तथा बुद्ध जैसे महान् पुरुष ब्राह्मण धर्म के ईश्वर, देवों और देवियों के साकारवाद की पूर्णता के कारण बने, उन्होंने पूर्व विकसित अवतारवाद की भावना को सुविधा प्रदान की और मानव रूपों में देवताओं और दैवी व्यक्तियों की उपासना को प्रोत्साहन दिया। ब्राह्मणवाद ने इस परिस्थिति का पूरा लाभ उठाया तथा उसने भारतवर्ष के धार्मिक इतिहास में एक नया समन्वय उत्पन्न कर दिया। वैदिक प्रभाव के अन्तर्गत ईश्वर अथवा देवता पूजा के ही विषय थे, किन्तु जैन तथा बौद्ध धर्म के प्रभाव के अन्तर्गत पुरुष पूजा का विषय बन गया तथा इस युग में भक्ति का विषय पुरुष में स्थित ईश्वर बन गया।

वैदिक देवताओं तथा देवियों ने नवीन नाम तथा स्वरूप प्राप्त किया। नीचे कुछ उदाहरण उपस्थित किये जाते हैं। महान् वैदिक देवता इन्द्र को विभिन्न भावनाओं और सम्बन्धों के आधार पर निम्नलिखित नाम[2] दिये गये थे :

(१) इन्द्र	(६) वृद्धश्रवा	(११) लेखर्षभ
(२) मरुत्वान्	(७) सुनासीर	(१२) शक्र
(३) मघवन्	(८) पुरुहूत	(१३) शतमन्यु
(४) विडौजा	(९) पुरन्दर	(१४) दिवस्पति
(५) पाकशासन	(१०) जिष्णु	(१५) सुत्रामन्

१. एपि० इण्डि० जि० २७।

२. अमर० १, १, ४४-४७।

(१६) गोत्रभिद्
(१७) वज्रिन्
(१८) वासव
(१९) वृत्रहन्
(२०) वृषन्
(२१) वास्तोष्पति
(२२) सुरपति
(२३) बलाराति
(२४) शचीपति
(२५) जम्भभेदिन्
(२६) हरिहय
(२७) स्वाराज्
(२८) नमुचिसूदन
(२९) संक्रन्दन
(३०) दुश्च्यवन
(३१) तुराषाट्
(३२) मेघवाहन
(३३) आखण्डल
(३४) सहस्राक्ष
(३५) ऋभुक्षन्

इन्द्र की पत्नी इन्द्राणी ने, जो केवल एक कल्पना मात्र थी, एक स्वरूप और शची और पुलोमजा दो नाम धारण कर रखे थे।[1] इन्द्र की राजधानी अमरावती, उनके घोड़े उच्चैःश्रवा, उनका सारथि मातलि, उनका उद्यान नन्दन, उनका प्रासाद वैजयन्त, उनका पुत्र जयन्त तथा पाकशासनि, उनके हाथी ऐरावत, अभ्रमातंग, ऐरावण एवं अभ्रमुवल्लभ, उनके वज्र ह्रादिनी, वज्र, कुलिश, भिदुर, पवि, शतकोटि, स्वरु, शम्ब, दम्भोलि व अशनि, उनके रथ व्योमयान तथा विमान, उनकी सभा सुधर्मा अथवा देवसभा आदि सभी का स्थूलरूप में विचार किया गया है।

अन्य वैदिक देवता यथा विष्णु,[2] अग्नि,[3] वरुण,[4] शिव,[5] यम,[6] वायु,[7] ब्रह्म[8] इत्यादि में भी परिवर्तन हुए तथा उनको नवीन नाम भी दिये गये। परिवर्तन की प्रक्रिया के अतिरिक्त सृष्टि तथा वृद्धि की प्रक्रिया भी चलती रही। बहुत से नये देवी-देवता सामने आये। बलराम, काम, लक्ष्मी, पार्वती, गणेश, स्कन्द, कुबेर आदि का नवीन देवता-मण्डल में महत्त्वपूर्ण स्थान था[9]। अर्धदेव-देवियों का भी उद्भव हुआ यथा किन्नर, गन्धर्व, विद्याधर,

---

१. वही० १, १, ६४।
२. अमरकोश १, १, २९।
३. वही १, १८, २३।
४. वही १, १, ४८–५१।
५. वही १, १, ३२–३६।
६. वही १, १, ६१–६२।
७. वही १, १, ६४–६६।
८. वही १, १, १६–१७।
९. वही १, १……।

यक्ष, गरुड[1], अप्सरा, वनदेव इत्यादि। लोगों को वेतालों, राक्षसों तथा अन्य बहुत सी नीच-आत्माओं पर भी विश्वास था।[2]

देवताओं में नये तत्वों के विकास के साथ पूजा तथा धार्मिक पुण्यप्राप्ति के नये-नये साधनों का परिचय हुआ। जब देवताओं को पूर्णतया मनुष्य रूप में मान लिया गया तो मूर्तिपूजा लोकप्रिय हो गयी। मूर्ति को प्रतिमा, प्रतिबिम्ब, प्रतिमान, प्रतियातना, प्रतिच्छाया, प्रतिकृति, अर्चा तथा प्रतिनिधि कहते थे।[3] मूर्तियों को मन्दिरों में, जिन्हें निकेतन,[4] देवतायतन,[5] देवालय[6] आदि कहते थे, रखा जाता था। मन्दिर के पुजारी को देवल[7] कहते थे और समाज में उनका स्थान ऊँचा न था। इससे पता चलता है कि अब भी समाज में वैदिक कर्मकांडों का पक्ष प्रबल था और मूर्तिपूजा को हेय दृष्टि से देखा जाता था। पवित्र स्थानों की धर्मयात्रा तथा पवित्र नदियों में स्नान धर्म का सामान्य रूप हो गया था। ब्राह्मणों का अत्यन्त आदर होता था तथा उन्हें दान देना पुण्यकारक समझा जाता था[8]। गाय पूजा तथा आदर का पात्र बन गयी थी। उसे क्षति से बचाने के लिए कोई मूल्य अधिक नहीं समझा जाता था।[9] शरीरपीडन तथा तपस्या को जिसे जैन, बौद्ध तथा ब्राह्मण धर्मों ने पहले ही लोकप्रिय बना लिया था समाज में स्थान प्राप्त था[10]। समकालीन ग्रन्थों में तपस्या,[11] शरीरपीडन[12] तथा यौगिक[13] साधनों का उल्लेख मिलता है।

---

१. वही १, १; रघु०; कुमारसम्भव; शकुन्तला।
२. वही।
३. अमरकोश १, १, १०, ३६; ३६।
४. मेघदूत।
५. रघुवंश।
६. वही।
७. अमरकोश २-१०।
८. मालविका० ५-३, ५।
९. रघु० १, ७५, ८४, ८५; मालविका० ४।
१०. रघु० १८, ३८-४१।
११. वही १, ५६; कुमार ५।
१२. वही १५; ४५।
१३. वही।

४. ब्राह्मण सम्प्रदाय

कुछ वैदिक भावनाओं तथा देवताओं के परिवर्तन ने ब्राह्मण धर्म में कतिपय सम्प्रदायों को जन्म दिया। उपनिषदों का 'ब्रह्मन्' जिसे परमतत्त्व तथा ब्रह्माण्ड का आधार समझा जाता था स्रष्टा ब्रह्मा के रूप में परिवर्तित हुआ। विष्णु जो सविता का एक रूप समझा जाता था तथा जो अपने लम्बे-लम्बे डगों से सम्पूर्ण आकाश को नाप डालता था तथा जिसका वासस्थान गायों और मधु से पूरित रहता था, पालनकर्ता विष्णु बन गया। वैदिक युग का भयंकर रुद्र समय पाकर शिव अर्थात् कल्याणकारी बन गया जिसमें सर्जनात्मक और ध्वंसात्मक दोनों रूपों का संयोग था। पहले एक ही सत्य के ब्रह्मा, विष्णु और शिव ये तीन स्वरूप समझे जाते थे। फिर उन्होंने ब्राह्मण धर्म में त्रिदेवों का रूप धारण किया। किन्तु ई० पूर्व प्रथम शती में उनमें से प्रत्येक का सम्प्रदाय बना तथा उनके मानने वालों ने प्रत्येक को पूर्ण सत्य माना और उसे ईश्वर की शक्ति और कार्यों से समन्वित किया।

(१) ब्राह्म सम्प्रदाय

ब्रह्मा के सूक्ष्म और अप्रदर्शनीय कार्यों के कारण उनका एक सम्प्रदाय बन गया यद्यपि यह अधिक लोकप्रिय नहीं था। ब्रह्मा को निम्नलिखित नामों से पुकारा जाता था[1]—

(१) ब्रह्मा,	(८) स्वयंभू,	(१५) स्रष्टा
(२) अयोनिज,	(९) चतुरानन	(१६) प्रजापति
(३) सुरज्येष्ठ,	(१०) धाता,	(१७) वेधा
(४) परमेष्ठिन्,	(११) अब्जयोनि,	(१८) विधाता
(५) पितामह,	(१२) द्रुहिण,	(१९) विश्वसृज्
(६) हिरण्यगर्भ	(१३) विरंचि,	(२०) विधि
(७) लोकेश	(१४) कमलासन,	

प्रथम दो नाम उनकी स्वतः उत्पत्ति को व्यक्त करते हैं, इनके बाद के तीन उनकी प्राथमिकता को सूचित करते हैं तथा अन्य उनकी सृजनात्मक शक्ति के प्रतीक हैं। अब्जयोनि तथा कमलासन पौराणिक नाम हैं किन्तु वे धर्म के अन्तर्गत होने वाली सूक्ष्म प्रक्रिया की ओर संकेत करते हैं। कमल

---

१. अमरकोश १, १६–१७।

या अब्ज जिससे ब्रह्मा की उत्पत्ति की कल्पना की गयी है पुराणों के अनुसार विष्णु की नाभि से निकला था। इस सुन्दर पौराणिक कल्पना से प्रकट होता है कि किस प्रकार विष्णु ब्रह्मा की प्राथमिकता को आत्मसात् करते जा रहे थे तथापि ब्रह्मा अपनी शक्ति और कार्यों की अधिक रक्षा किये हुए थे। यह बात कुमारसम्भव[1] की निम्नलिखित प्रार्थना से स्पष्ट हो जाता है जिसे देवताओं ने उच्चरित किया था :

'त्रिमूर्ति, तुम्हें नमस्कार है, यद्यपि तुम सृष्टि के पहले एक ही रहते हो किन्तु बाद में तीनों गुणों के (सत्त्व, रज और तम में) विभाग हेतु विभक्त होते हो। तीनों स्थितियों से तुम अपनी ही महत्ता का गान करते हो। प्रलय, स्थिति और सृष्टि के तुम्हीं एक कारण हो……'

किन्तु इतना तो कहना ही होगा कि ब्रह्मा कुछ विचारपरक ही रह गये तथा इनकी वास्तविक पूजा तथा भक्ति के लिए भक्तों की संख्या न बढ़ सकी।

(२) वैष्णव सम्प्रदाय

विष्णु का सम्प्रदाय ब्रह्मा के सम्प्रदाय से अधिक प्रबल था तथा इसने बहुत बड़ी संख्या में भक्तों को आकृष्ट किया। चतुर्थ शताब्दी ई० पू० में यूनानी राजदूत मेगस्थनीज को कृष्ण की जन्मभूमि मथुरा में जो वैष्णव धर्म का केन्द्र बना हुआ था, यह सम्प्रदाय दृष्टिगोचर हुआ था।[2] यह सम्प्रदाय यहीं से भारत के अन्य भागों में फैल रहा था। द्वितीय शताब्दी ई० पू० के अन्तिम चरण में विदिशा (आधुनिक भिलसा, मध्यप्रदेश) में जो शुङ्गों की दूसरी राजधानी थी भागवत धर्म (वैष्णव धर्म) लोकप्रिय धर्म था। बेसनगर के गरुड-स्तम्भ अभिलेख से विदित होता है कि देवाधि-देव वासुदेव का यह गरुडध्वज तक्षशिला के यवन राजा अन्तलिकित (एण्टिआलकिडस) के राजदूत एवं दिय (दिऑन) के पुत्र हेलिओदोर,

---

१. नमस्त्रिमूर्तये तुभ्यं प्राक्सृष्टेः केवलात्मने। गुणत्रयविभागाय पश्चाद्भेदमुपेयुषे॥
तिसृभिस्त्वमवस्थाभिर्महिमानमुदीरयन्। प्रलयस्थितिसर्गाणामेकः कारणतां गते॥
२. ४. ६।

२. मैक्रिंडल-ऐंश्येण्ट इण्डिया एज डिस्क्राइब्ड बाई मेगस्थनीज एण्ड एरियन पृ० २०१–२०२ ; भण्डारकर, आर० जी०, वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड माइनर रिलीजस सिस्टेम्स ४, भाग १, पृ० १२–१३।

जो राजा भागभद्र की राजसभा में उसके शासन के १४वें वर्ष में आया था, के द्वारा बनवाया गया।[1] विदेशियों का इस सम्प्रदाय में दीक्षित होना इस सम्प्रदाय के जीवन्त और लोकप्रिय होने का प्रमाण है। पश्चिमी भारत में वैष्णव धर्म के अस्तित्व का प्रमाण सातवाहनों के अभिलेखों से मिल जाता है जो पांचरात्र व्यूह के दो सदस्यों वासुदेव और संकर्षण की पूजा का उल्लेख करते हैं।[2]

अमरकोश[3] में विष्णु निम्नलिखित नामों से पुकारे जाते हैं जो उनके विभिन्न रूपों पर प्रकाश डालते हैं—

(१) विष्णु
(२) नारायण
(३) कृष्ण
(४) वैकुण्ठ
(५) विष्टरश्रवस्
(६) दामोदर
(७) हृषीकेश
(८) केशव
(९) माधव
(१०) स्वभू
(११) दैत्यारि
(१२) पुण्डरीकाक्ष
(१३) गोविन्द
(१४) गरुडध्वज
(१५) पीताम्बर
(१६) अच्युत
(१७) शार्ङ्गिन्
(१८) विष्वक्सेन
(१९) जनार्दन
(२०) उपेन्द्र
(२१) इन्द्रावरज
(२२) चक्रपाणि
(२३) चतुर्भुज
(२४) पद्मनाभ
(२५) मधुरिपु
(२६) वासुदेव
(२७) त्रिविक्रम
(२८) देवकीनन्दन
(२९) शौरि
(३०) श्रीपति
(३१) पुरुषोत्तम
(३२) वनमालिन्
(३३) बलिध्वंसिन्
(३४) कंसाराति
(३५) अधोक्षज
(३६) विश्वम्भर
(३७) कैटभजित्
(३८) विधु
(३९) श्रीवत्सलाञ्छन
(४०) पुराणपुरुष
(४१) यज्ञपुरुष
(४२) नरकान्तक
(४३) जलशायिन्
(४४) विश्वरूप
(४५) मुकुन्द
(४६) मुरमर्दन

उपर्युक्त तालिका से पता चलता है कि इस समय तक आते-आते वासुदेव कृष्ण तथा विष्णु का एकीकरण हो चुका था तथा उन्हें अधिक संख्या में एकेश्वरवादी, ऐतिहासिक और पौराणिक विशेषणों एवं गुणों से विभूषित किया गया था। कालिदास भी अपने ग्रन्थों में विष्णु का उल्लेख करते हैं।

---

१. एपि० इण्डि० भाग १० परिशिष्ट पृ० २; जे० एस० बा० ५६, १, ७७-८१।

२. आर्कै. सर्वे. वेस्ट. इण्डिया, खण्ड ५, पृ० ६०, ८६।

३. १, १, १८-२३।

'ज्यों ही वे (देवना) समुद्र के किनारे पहुँचे परमपुरुष विष्णु जाग पड़े··· तथा स्वर्गवासियों ने उन्हें शेषनाग से बने हुए आसन पर विराजमान देखा। उनका शरीर इसके विशाल फणों की ज्योतिपूर्ण मणियों से प्रकाशित था। उनका एक पैर कमलासना देवी लक्ष्मी की गोद में पड़ा हुआ था'···आदि।[1]

विष्णु के अवतार की भावना तथा विश्वास जन-मन में समा गया था। उसी को कवि निम्नलिखित शब्दों में प्रतिबिम्बित करता है: 'मैं जो दशरथ के पुत्र के रूप में जन्म ले रहा हूँ, मैं रणभूमि में अपने तीखे बाणों से उसके कमलवत् शिरों का ढेर लगा दूँगा'।[2]

यह बड़ा अद्भुत है कि कालिदास ने अपने ग्रन्थों में कहीं भी विष्णु की पूजा के अस्तित्व का उल्लेख नहीं किया। कालिदास तथा उसके आश्रयदाता का वैयक्तिक धर्म शैव था। विदिशा के विपरीत जो वैष्णव धर्म का केन्द्र था उज्जयिनी (जहाँ अधिकांशतः कालिदास रहे थे) शैव धर्म का केन्द्र थी। अतएव उनकी भावनायें और उनका वातावरण वैष्णवोपासना के पक्ष में न थे। तथापि विष्णु के अवतारों में राम कालिदास को अच्छे लगे। उन्होंने राम के कुल को ही अपने महाकाव्य का विषय बनाकर इस बात को स्पष्ट कर दिया है। यद्यपि राम विष्णु के अवतार मान लिये गये थे तथापि अभी रामोपासना सम्प्रदाय का आरम्भ नहीं हुआ था। इसके स्थान पर उपासना का प्रचलित सम्प्रदाय कृष्ण-वासुदेव का था जिनके विषय में सम्भवतः कालिदास को जानने की उत्कण्ठा नहीं थी। वे विष्णु की उपर्युक्त प्राचीन पौराणिक धारणाओं से ही सन्तुष्ट हो गये तथा विष्णु की वास्तविक पूजा के बारे में अधिक चिन्तित नहीं हुए।

(३) शैवसम्प्रदाय

इस युग में शिव का सम्प्रदाय बहुत लोकप्रिय था। अमरसिंह[3] ने शिव के निम्नलिखित नाम बतलाये हैं जिनसे उनके विभिन्न स्वरूपों का परिचय मिलता है:

(१) शम्भु	(५) शूली	(९) ईशान
(२) ईश	(६) महेश्वर	(१०) शंकर
(३) पशुपति	(७) ईश्वर	(११) चन्द्रशेखर
(४) शिव	(८) शर्व	(१२) भूतेश

---

१. रघुवंश १०, ६, ८। २. वही १०–४४ ३. अमर० १।१।३२–३६।

(१३) खण्डपरशु	(२५) कपालभृत्	(३७) त्र्यंबक
(१४) गीरीश	(२६) वामदेव	(३८) त्रिपुरान्तक
(१५) गिरिश	(२७) महादेव	(३९) गंगाधर
(१६) मृड	(२८) विरूपाक्ष	(४०) अन्धकरिपु
(१७) मृत्युञ्जय	(२९) त्रिलोचनः	(४१) क्रतुध्वंसिन्
(१८) कृत्तिवास	(३०) कृशानुरेतस्	(४२) वृषभध्वज
(१९) पिनाकिन्	(३१) सर्वज्ञ	(४३) व्योमकेश
(२०) प्रमथाधिप	(३२) धूर्जटी	(४४) भव
(२१) उग्र	(३३) नीललोहित	(४५) भीम
(२२) कपर्दिन्	(३४) हर	(४६) स्थाणु
(२३) श्रीकण्ठ	(३५) स्मरहर	(४७) रुद्र
(२४) शितिकण्ठ	(३६) भर्ग	(४८) उमापति

शिव के नामों की तालिका से बड़ी सरलतापूर्वक यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि यद्यपि उनमें अब भी कुछ अशुभ रूप रह गये थे किन्तु उनके मूल भयंकर रूप का उनके शुभ स्वरूप में लय हो गया था। वे विश्वपति थे, किन्तु वे अधिकांशतः अपनी शक्तियों का जगत् की प्रसन्नता तथा शान्ति के लिए ही प्रयोग करते थे। सम्भवतः इसी कारण वे दिनोंदिन लोकप्रिय होते जा रहे थे। शिव नाम भी इस बात का संकेत करता है कि उनकी पूजा मन्दिर में प्रतिमा बना कर की जाती थी। उनके प्रधान लक्षण कपर्द[1] या जटाजूट, पिनाक नामक धनुष, त्रिशूल, खण्डपरशु, मुण्डमाला (कपालभृत्), हस्तिचर्म आदि थे। उनका शरीर विभूति, भूति या ऐश्वर्य से धूसरित रहता था।[2] उनके बहुत से परिचायक थे जो सामूहिक रूप से प्रमथ कहलाते थे।[3] शिव की पत्नी पार्वती थीं जो कात्यायनी, गौरी, काली, हैमवती, ईश्वरी, शिवा, भवानी, रुद्राणी, शर्वाणी, सर्वमङ्गला, अपर्णा, दुर्गा, मृडानी, चण्डिका, अम्बिका, आर्या, दाक्षायणी, गिरिजा आदि नामों से विख्यात थीं।[4] उनका वाहन महान् वृषभ नन्दी था।[5] शिव के पुत्र गणेश तथा स्कन्द भी महत्त्वपूर्ण देवता हो गये थे और उनके भी सम्प्रदाय थे।[6]

उज्जयिनी शैव धर्म का एक प्रसिद्ध केन्द्र थी। इस युग के महान् कवि

---

१. अमरकोश १।१।३७, ३२-३६।

२. वही १।१, ३८।

३. वही १।१, ३७।

४. वही १।१, ३८-४०।

५. वही, १।१, ४३।

६. वही १, १, ४०-४१

कालिदास ने, जो उज्जयिनी में रहा करते थे तथा जिनका व्यक्तिगत धर्म शैव था, अपने मेघदूत का पथ मोड़ दिया है और उसे पवित्र नगरी उज्जयिनी का अवलोकन करने और वहाँ महाकाल की पूजा में सम्मिलित होने का आदेश दिया है : 'मेघ ! (संध्या के अतिरिक्त) किसी भी समय तुम महाकाल पहुँच कर सूर्यास्त तक रुके रहना। जब शिव की संध्यापूजा सम्पन्न हो जायगी तब तुम अपने गर्जनों का उपहार चढ़ाते हुए उनका पूर्ण लाभ पा लोगे'।[1] मध्यकालीन जैन लेखकों ने भी बारबार इस परम्परा का उल्लेख किया है कि विक्रमादित्य के पिता गर्दभिल्ल शैव थे और विक्रमादित्य स्वयं जैन साधु द्वारा जैन बना लिए जाने के पूर्वतक उसी धर्म को मानते रहे।[2] शैव धर्म की लोकप्रियता अन्य अप्रत्यक्ष प्रमाणों से भी सिद्ध होती है। लगभग इसी समय लाट (दक्षिणी गुजरात में) लकुलीश ने पाशुपत धर्म चलाया था और वह समीपवर्ती प्रदेशों में फैल रहा था। विक्रमादित्य के काल के थोड़े ही समय पश्चात् प्रथम शताब्दी ईसवी में शैव धर्म की व्यापकता अधिक संख्या में प्राप्त कुषाण सिक्कों से सिद्ध होती है जिनपर शिव की प्रतिमा उनके लक्षणों के साथ अंकित हुई है।[3]

कालिदास द्वारा प्रस्तुत शिव का स्वरूप सर्वेश्वरवादी है। सम्पूर्ण विश्व में जो कुछ भी है वह सभी स्वयं शिव है। शिव ही सबका कारण है और भिन्न-भिन्न रूपों में अपने को व्यक्त करता है—'ईश (शिव) तुम पर प्रसन्न होकर आठ व्यक्त रूपों से तुम्हारी रक्षा करें—जल जो स्रष्टा की प्रथम सृष्टि है, अग्नि जो देवताओं को दी हुई आहुति ग्रहण करती है, होता, सूर्य और चन्द्र जो समय का निर्णय करते हैं, शब्द जो श्रवण का विषय है और जो ब्रह्माण्ड में व्याप्त है, पृथ्वी जो सम्पूर्ण प्राणियों के बीज वपन का आधार है तथा वायु जिसके कारण प्राणी जीवित रहते हैं'।[4]

५. जैन धर्म

प्रथम शती ई० पू० में जैनधर्म का इतिहास धुँधला तथा अनिश्चित है

---

१. अप्यन्यस्मिञ्जलधर महाकालमासाद्य काले
स्थातव्यं ते नयनविषयं यावदत्येति भानुः।
कुर्वन्सन्ध्याबलिपटहतां शूलिनः श्लाघनीया-
मामन्द्राणां फलमविकलं लप्स्यसे गर्जितानाम् ॥ मेघ० १-३८।

२. पहले देखिए—जैन निबन्ध।

३. फ्लीट : जे० आर० ए० एस०, १९०७ पृ० ४१९।

४. अभिज्ञानशाकुन्तल १-१।

किन्तु लगभग डेढ़ शताब्दी पूर्व परवर्ती मौर्यों के सबसे महान् शासक सम्प्रति के शासनकाल में जैन धर्म ने पर्याप्त उन्नति की। सम्प्रति की राजधानी उज्जयिनी जैनधर्म-सम्बन्धी कार्यों का केन्द्र थी। ऐसा प्रतीत होता है कि शुङ्गों ने जो वैदिक धर्म के संरक्षक थे अपनी दूसरी राजधानी विदिशा से मध्यभारत के धार्मिक सन्तुलन को डाँवाडोल कर दिया था। तथापि सभी प्राप्य साक्ष्यों से स्पष्ट हो जाता है कि जैनधर्म उत्तरी भारत में बचा रहा तथा कम से कम मथुरा, अवन्ती, सुराष्ट्र और उड़ीसा में इसने पर्याप्त उन्नति की। मथुरा में प्राप्त कुछ पुरातात्विक (मूर्तिसम्बन्धी और आभिलेखिक) अवशेष जो इसी काल के बताये गये हैं यह स्पष्ट कर देते हैं कि यहाँ जैन धर्म का अच्छा प्रचार था।[1] उड़ीसा में उदयगिरि की गुफाओं की मूर्तियाँ भी जो इसी काल की हैं देश के इस भाग में जैन धर्म के वर्तमान होने का प्रमाण देती हैं।[2] जैन निबन्ध भी कुछ ऐसी परम्पराओं का उल्लेख करते हैं जो प्रथम शताब्दी ई० में सुराष्ट्र के साथ जैनधर्म का निकट संबंध जोड़ देती हैं। प्रसिद्ध जैनसाधु कालकाचार्य ने सुराष्ट्र तथा अवन्ती में परिभ्रमण किया तथा जनता को जैन धर्म सिखाया।[3] कुछ जैनग्रन्थ विक्रमादित्य का जैनधर्म में दीक्षित होना मानते हैं: 'तब उज्जयिनी में सिद्धसेन दिवाकर ने महाकाल के लिङ्ग को तुड़वाकर पार्श्वनाथ की मूर्ति का निर्माण कराकर विक्रमादित्य को ज्ञान कराया।'[4] पहले आये हुए सभी प्रमाण यह स्पष्ट करते हैं कि विक्रमादित्य के युग में जैनधर्म प्राणवान् तथा क्रियाशील धर्म था तथा यह जन-जीवन को प्रभावित कर रहा था।

जैनधर्म के सम्प्रदायों में विभक्त होने की प्रक्रिया भी इस काल में चल रही थी। जैनधर्मावलम्बियों में एक दीर्घकालीन मतभेद भी था। मतभेद का मुख्य विषय यह था कि जैनधर्म के साधु वस्त्र धारण कर सकते हैं या नहीं अन्ततोगत्वा ये दोनों वर्ग जैनधर्म के सम्प्रदायों में विभक्त हो गये। प्रथम को श्वेताम्बर (श्वेतवस्त्र धारण करनेवाला) और द्वितीय को दिगम्बर (जो दिशाओं को ही अपना वस्त्र समझता है = सभी वस्त्रों का त्याग करने वाला) सम्प्रदाय कहते थे। वस्त्रों के समान ही मतभेद का यह भी

---

१. ऐ० इ० भाग १० परिशिष्ट, पृ० १–१२६।

२. वी० ए० स्मिथ—'हिस्ट्री-आफ फाइन आर्ट्स इन इंडिया एण्ड सीलोन' पृ० ८४।

३. प्रभावकचरित, ४।

४. पट्टावलि समुच्चय पृ० ४६–१६६।

एक विषय था कि स्त्रियों को संन्यासी होने की अनुमति दी जाय या नहीं और क्या वे भवचक्र से बन्धन-मुक्त हो सकती हैं या नहीं ? श्वेताम्बर सम्प्रदाय उन्हें भिक्षुणी बनने की अनुमति देता था तथा उन्हें मुक्ति का अधिकारी समझता था किन्तु दिगम्बर सम्प्रदाय स्त्रियों का संन्यासी होना अब भी अस्वीकार करता था और इस मान्यता को धारण करता था कि अच्छे कर्मों के फलस्वरूप पुरुषजीवन प्राप्त करने के पश्चात् ही उन्हें मुक्ति मिल सकती है। सुराष्ट्र में श्वेताम्बर सम्प्रदाय अच्छी तरह संगठित था। जैनग्रन्थ प्रभावकचरित[1] से हमें पता चलता है कि कालकाचार्य तथा उसकी बहिन सरस्वती दोनों साधु हो गये थे तथा उन्होंने मध्यभारत तथा सुराष्ट्र का परिभ्रमण किया था। मोटे तौर पर विन्ध्य-श्रृङ्खला के उत्तर श्वेताम्बर तथा दक्षिण में विशेष रूप से कन्नड़ तथा तामिल प्रदेशों में दिगम्बर सम्प्रदाय पाया जाता था।

जैनों के धार्मिक आचरणों के सम्बन्ध में, मथुरा से प्राप्त अभिलेख, जिनकी तिथि प्रथम शताब्दी ई० बताई जाती है, यह प्रकाश डालते हैं कि वे मन्दिरों में अपने तीर्थंकरों की मूर्तियों की पूजा करते थे और उनमें एक निश्चित पूजाविधि का विकास हो चुका था बौद्धों की तरह जैन भी स्तूप बनवाते तथा वहाँ पूजा करते थे।[2] उनके संस्मरणात्मक स्तम्भ भी थे।[3] यद्यपि हम लोगों के पास पर्याप्त सामग्री नहीं है तथापि मथुरा के अवशेष स्पष्ट रूप से यह बताते हैं कि जैनों में भक्ति सम्प्रदाय लोकप्रिय हो रहा था तथा वे अपने तीर्थंकरों के बारे में अतीव आदर के साथ विचार करते थे।

६. बौद्ध धर्म

दोनों सुधारवादी धर्मों में से बौद्धधर्म जैनधर्म की अपेक्षा अधिक आकर्षक, क्रान्तिकारी तथा लोकप्रिय था। अशोक के आश्रय में यह पहले ही सम्पूर्ण भारतवर्ष में फैल गया था। विदेशों में भी इसका प्रचार हुआ था। अशोक के काल में सम्राट् के व्यक्तिगत प्रभाव के कारण उज्जयिनी तथा विदिशा दोनों बौद्धधर्म के अच्छे केन्द्र थे। वह स्वयं उज्जयिनी में तथा उसकी प्रमुख रानी देवी विदिशा में रहती थी। बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार देवी धर्मात्मा बौद्धधर्मावलम्बी थी और विशेष रूप से विदिशागिरि (विदिशा)

---

१. अध्याय ४। २. बी० ए० स्मिथ 'हिस्ट्री आफ फाइन आर्ट्स' पृष्ठ ८२-८४।
३. वही।

के निकट बनाये हुए सुन्दर विहार में रहती थी और उसने अपने पुत्र महेन्द्र का जो सिंहल जानेवाले बौद्ध धर्म प्रचारक-मण्डल का अध्यक्ष बनाया गया था, यहीं पर स्वागत किया था।[1] बी० ए० स्मिथ[2] के मतानुसार यह अधिक सम्भव है कि यह विहार साँची में बनाया गया था जहाँ बिहारों तथा स्तूपों के अवशेष अब भी पाये जाते हैं। शुङ्गों के शासनकाल में वैदिक धर्म के पुनरुत्थान ने बौद्धधर्म को डाँवाडोल कर दिया तथा बौद्धधर्म को विभिन्न स्थानों में हटना पड़ा। प्रथम शती ई० पूर्व में अभिलेखात्मक साक्ष्य स्पष्ट निर्देश करते हैं कि बोधगया, सारनाथ, भरहुत और साँची आदि केन्द्रों में बौद्धधर्म अभी भी प्राणवान् था।[3] पश्चिमी भारत के अवान्तरकालीन अभिलेख भी यह प्रदर्शित करते हैं कि देश के उस भाग में भी बौद्धधर्म का प्रचार था।[4]

बौद्धधर्म में इस समय तक भिन्न-भिन्न दार्शनिक विचारधारायें विकसित हो गयी थीं यद्यपि इसमें विभिन्न सम्प्रदायों का विकास नहीं हुआ था। इन विचारधाराओं में निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं :

(१) स्थविरवाद : इस विचारधारा के माननेवाले स्थविरों तथा भगवान् बुद्ध के मूल उपदेशों का अनुसरण करते थे। उनका विश्वास था कि सभी बाह्य वस्तुओं का केवल गोचर अस्तित्व है तथा उनका ज्ञान अनुमान से होता है। स्थविर उत्तरी भारत तथा सिंहल में अधिक संख्या में पाये जाते थे। सौत्रान्तिक स्थविरवादियों की एक शाखा थे।

(२) सर्वास्तिवाद : इस सम्प्रदाय की यह धारणा थी कि सभी वस्तुओं का स्वतन्त्र अस्तित्व है तथा वे अनुमान के विषय नहीं। "सर्वास्तिवादी दर्शन × × × द्रव्य का आणविक सिद्धान्त है जिसमें अव्यवहित प्रत्यक्ष के सिद्धान्त का मिश्रण है।" इस सिद्धान्त के माननेवाले मूलतः कश्मीर में पाये जाते थे और वहीं से वे भारत के अन्य भागों तथा विदेशों में फैले।

(३) महासांघिक : इस विचारधारा के माननेवालों का यह कहना था कि चित्त ही सत्य है तथा बाह्य वस्तुओं का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है प्रत्युत वे विचारमात्र हैं। उन्होंने बुद्ध के मानवीय व्यक्तित्व को मानवेतर व्यक्तित्व में परिवर्तित करने की प्रक्रिया प्रारम्भ कर दी तथा उनकी समता पूर्व बुद्धों से की। इस विचारधारा के ग्रन्थ महावस्तु में बुद्ध का

---

१. दीपवंश ७। २. अशोक (द्वितीय संस्करण) पृ० २१५।

३. लूडर्स लिस्ट आफ ब्राह्मी इन्स्क्रिप्शन्स, एपि-इण्डि० भाग १०। ४. वही।

इस प्रकार चित्रण दिया गया है : 'बुद्ध मानवेतर हैं, न उन्हें भूख लगती है न प्यास। वे लौकिक इच्छाओं से अनभिज्ञ रहते हैं। उनकी पत्नी का कौमार्य नष्ट नहीं होता। केवल मानवता के हित के लिए जिससे संसार के व्यवहारों की मर्यादा की रक्षा हो वे मनुष्य की तरह व्यवहार करते हैं इससे मनुष्यों को मिथ्याभ्रम हो जाता है। पारिभाषिक रूप से वे लोकोत्तर हैं अर्थात् वे संसार से परे हैं।' इस विचारधारा के केन्द्र उत्तरी पश्चिमी भारत तथा मध्य एशिया में थे।

बौद्धधर्म के विचार तथा अस्तित्व का उल्लेख संस्कृत के ग्रन्थों में भी हुआ है। स्वयं बौद्ध अमरसिंह ने अपने कोश[1] में बुद्ध के निम्नलिखित नाम दिये हैं:

(१) सर्वज्ञ	(७) भगवान्	(१३) अद्वयवादी
(२) सुगत	(८) मारजित्	(१४) विनायक
(३) बुद्ध	(९) लोकजित्	(१५) मुनीन्द्र
(४) धर्मराज	(१०) जिन	(१६) श्रीघन
(५) तथागत	(११) षडभिज्ञ	(१७) शास्ता
(६) समन्तभद्र	(१२) दशबल	(१८) मुनि

बुद्ध के ७ नाम और पाये जाते हैं—(१) शाक्यसिंह (२) सर्वार्थसिद्ध (३) शौद्धोदनि (४) गौतम (५) अर्कबन्धु (६) मायादेवी-सुत तथा (७) शाक्यमुनि।[2] इनमें से बहुत से नाम बौद्धधर्म में महासांघिक प्रवृत्तियों की ओर संकेत करते हैं जिसमें बुद्ध को मानवेतर व्यक्तित्व से विभूषित किया गया है। अमरसिंह भी बोधिद्रुम (बोधिवृक्ष) तथा एडुका (स्तूप) का उल्लेख करता है।[3] कालिदास निम्नलिखित शब्दों में निर्वाण की धारणा का उल्लेख करते हैं : 'वह (दशरथ) जिन्होंने समस्त इन्द्रिय-सुखों को भोग लिया था और जो दिनोंदिन जीवन का ह्रास होने से निर्वाण के समीप पहुँच रहे थे उस दीपक के समान थे जो प्रत्यूष में तैल समाप्त हो जाने पर बुझने (निर्वाण) लगता है।'[4] यहाँ हम बुझते हुए दीपक के दृष्टान्त से निर्वाण की

---

१. अमरकोश १-१, १३-१४। २. वही १-१; १४-१५।

३. वही २-४-१०; २, २-४।

४. निर्विष्टविषयस्नेहः स दशान्तमुपेयिवान्।
आसीदासन्ननिर्वाणः प्रदीपार्चिरिवोषसि॥ रघु० १२-१।

व्याख्या पाते हैं। सोमदेव विक्रमादित्य के पिता महेन्द्रादित्य के दान की प्रशंसा करते हुए बौद्धों के नास्तिक विश्वास का भी उल्लेख करते हैं।[1]

युग की आस्तिक प्रवृत्तियों के सम्पर्क से ब्राह्मण तथा जैनधर्म की तरह बौद्धधर्म भी भक्तिपूर्ण हो गया तथा इसकी पूजा का केन्द्र बुद्ध हुए। स्तूप उनके प्रतीक बने जो सुन्दर-सुन्दर भास्कर्य निदर्शनों से सुशोभित थे। उनकी वेदिकाओं और तोरणों में बुद्ध के जीवन के विभिन्न चित्र उत्खचित थे। इनमें भगवान् बुद्ध के जीवन से सम्बद्ध प्रतीकों, लक्षणों तथा वस्तुओं का अंकन था। इस युग के सबसे महत्वपूर्ण स्तूप बोधगया, भरहुत, साँची तथा अमरावती में थे।[2] बौद्ध भक्त स्तूपों के चारों ओर प्रदक्षिणा-पथ पर बड़े आदरपूर्वक पग डालते हुए प्रदक्षिणा करते थे। सम्प्रदाय में पूजा के निमित्त बुद्ध की प्रतिमा अभी नहीं बनी थी किन्तु वेदिकाओं और तोरणों पर बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित दृश्य तथा प्रतीकों के अंकन ने इसके लिये पृष्ठभूमि तैयार कर दी थी तथा इसके बाद की शताब्दी में भारतीय यूनानी कला के केन्द्र गन्धार में बुद्ध की प्रथम प्रतिमा गढ़ी गयी। पवित्रात्मा बौद्धों के धार्मिक कार्यों में धर्मस्थानों की यात्रा प्रमुख वस्तु हो गयी थी तथा दान और भिक्षा का अतिशय व्यवहार था। बौद्ध साधुओं ने युग की सांस्कृतिक प्रवृत्तियों के सम्पर्क में रहने की आवश्यकता का अनुभव किया जिससे वे जनता का विश्वास प्राप्त कर सकें तथा उन्हें प्रभावित भी कर सकें। यह प्रक्रिया बौद्धों के हीनयान तथा पश्चात्कालीन महायान, जो ब्राह्मण धर्म के अधिक निकट पहुँच गया था, के बीच के स्तर का प्रतिनिधित्व करती है।

७. विक्रमादित्य का व्यक्तिगत धर्म

अपने समुन्नत तथा विस्तृत संस्कार, व्यापक उदारता तथा धार्मिक सहिष्णुता के कारण विक्रमादित्य को विभिन्न सम्प्रदायों ने अपना सहधर्मी घोषित किया है। बृहत्कथामंजरी[3] के लेखक ने उन परिस्थितियों का वर्णन किया है जिनमें विक्रमादित्य का जन्म हुआ था। उनकी उत्पत्ति, उनके माता-पिता, उनका जीवन सभी शैवधर्म से अत्यधिक प्रभावित थे—'इन्द्र के नेतृत्व में देवता-गण कैलास शिखर पर स्थित शिव के पास पहुँचे और कहा कि

---

१. कथासरित्सागर १८-१-५० ।

२. वी० ए० स्मिथ : हिस्ट्री आफ फाइन आर्टस पृ० ६५–८१, ८६-८८ ।

३. १० १-८-१३ ।

'हे देव ! दिति के पुत्रों असुरों ने जो आपके द्वारा पहले नष्ट किये गये थे, म्लेच्छों के रूप में पुनः जन्म लिया है' × × ×। भगवान् शिव ने देवताओं की आर्तवाणी को सुनकर अपने गण माल्यवन्त को पृथ्वी का भार उतारने की आज्ञा दी × × ×। शिव की आज्ञानुसार × × × उसने उज्जयिनी के वैभवशाली महाराज महेन्द्रादित्य के पुत्र के रूप में अवतार लिया। उज्जयिनी नरेश को ये सब घटनायें पहले ही स्वप्न में दिखा दी गयी थीं।' कथासरित्सागर विक्रमादित्य के शैवमतावलम्बी होने का स्पष्ट वर्णन करता है—'अवन्ती में उज्जयिनी नाम से प्रसिद्ध शिव की नगरी थी। × × × इसमें महेन्द्रादित्य नामक एक विश्वविजेता राजा रहता था। × × × राजा शिव को प्रसन्न करते हुए अपने राज्य में राज्य करता था। × × × उस समय शिव पार्वती के साथ कैलास पर थे × × ×। सभी देवता इन्द्र के नेतृत्व में म्लेच्छों से पीड़ित होकर उनके पास आये। × × × देवताओं द्वारा प्रार्थना किये जाने पर शिव ने उनसे कहा—जाओ इस सम्बन्ध में चिन्तित होने की आवश्यकता नहीं है, निश्चिन्त हो जाओ × × ×। इतना कहने के पश्चात् शिव ने उन्हें उनके वासस्थानों को भेज दिया। × × × तथा उनके चले जाने के पश्चात् पवित्र × × × माल्यवन्त नामक गण को आज्ञा दी—वत्स ! मनुष्य रूप में पृथ्वी पर उतरो तथा महेन्द्रादित्य के वीर पुत्र के रूप में जन्म लो।'

ब्राह्मणग्रन्थों में कई स्थानों पर विक्रमादित्य को शैव तथा शैव धर्म का आश्रयदाता कहा गया है।

दूसरी ओर जैनग्रन्थ विक्रमादित्य का जैनधर्म में दीक्षित होना वर्णन करते हैं, यद्यपि वे यह स्वीकार करते हैं कि अपने प्रारम्भिक जीवन में वे शैवधर्मावलम्बी थे। उनके धर्मपरिवर्तन की कहानी विक्रमचरित (विक्रम्स एडवेंचर्स : इजरटन द्वारा अनूदित, एच० ओ० एस० भाग २६, पृष्ठ २५१–२५४) के आधार पर नीचे दी जाती है :

'सम्प्रति जब विक्रमादित्य अपने राज में शासन कर रहे थे, एक बार की बात है कि विद्याधर जाति में एक सूरि (धार्मिक अध्यापक तथा सन्त विशेषतः जैनियों की उपाधि) था जिसे आदरणीय वृद्धवादिन् कहते थे। वह सम्मानित अध्यापक सूदिल का शिष्य और सूरि पादलिप्त, जिसने कान्यकुब्ज के ३७००००० लोगों के शासक मरुण्ड का धर्मपरिवर्तन किया था, का वंशज था। उसका एक शिष्य सिद्धसेन दिवाकर जो सर्वज्ञपुत्र नाम से प्रसिद्ध था घूमते-घूमते अवन्ती की उपान्त-भूमि में आया। [५]

और जब सूरि सिद्धसेन आया तथा उसके सम्मुख सर्वज्ञपुत्र की प्रशस्ति उच्चरित की गयी, विक्रमादित्य ने जो विहारार्थ बाहर गये हुए थे उसे देखा। उसकी परीक्षा लेने के लिए उन्होंने उसका मानस-अभिवादन किया। तब सूरि ने अपना हाथ उठाया और आशीर्वाद दिया। राजा ने कहा जब हमने अभिवादन नहीं किया तब आपने हमें यह आशीर्वाद क्यों दिया? कब मिलने पर यह फलदायक होगा? सूरि ने कहा यह उसे दियां गया है जिसने अभिवादन किया है। तुम हमारा आदर करने में चूके नहीं हो। किन्तु मस्तिष्क सर्वदा उच्च होता है इसलिए हमारी सर्वज्ञता की परीक्षा लेने के लिए तुमने हमें मानसिक अभिवादन किया है। तब राजा प्रसन्न होकर हाथी की पीठ पर से नीचे उतरे, उनका स्वागत किया और उनके लिए एक करोड़ स्वर्ण-मुद्रायें लाये। सूरि ने लोभहीनता के कारण उन्हें स्वीकार नहीं किया और न विक्रमादित्य ही वापस ले सके क्योंकि उन्हें एक बार दे दिया गया था। अतः सूरि की आज्ञा के अनुसार इसे भग्नावशेष मन्दिरों के पुनरुद्धार में लगाया गया और राजा की लेखपुस्तिका में यह लिखा गया :

(१) 'बाहु उठाकर दूर से ही आशीर्वाद देने पर राजा ने सूरि सिद्धसेन को एक करोड़ दिया।'

तब राजा अपने आमोद-प्रमोद में लग गये किन्तु सूरि ने नगर में बड़े ठाट-बाट से प्रवेश किया। इस समय अवन्ती के शिष्ट समुदाय ने कहा, 'भगवन्! यहाँ महाकाल का मन्दिर है, 'जिन' की पवित्र मूर्त्ति हटा ली गयी है और ब्राह्मणों द्वारा राजा की आज्ञा से शिवलिंग स्थापित कर दिया गया है। अतएव आप कोई उपाय करें।'

× × ×

इन चार पदों को सुनकर राजा विक्रमादित्य अपने सिंहासन से उठ खड़े हुए तथा श्रीसिद्धसेन का अभिवादन करके बोले, 'भगवन्! आपको स्वर्ग की चारों दिशाओं का शासकत्व प्रदान करता हूँ।' तब महात्मा सूरि ने कहा, 'राजन्! हम महर्षियों के लिए शासकत्व क्या है? हम लोग घास के तिनके, मणि, मिट्टी के ढेले तथा सोने के टुकड़े में कोई अन्तर नहीं मानते। जो मैं करना चाहता हूँ वह तुम्हारा धर्म परिवर्तित करना है। तुम्हारा धन लेना नहीं।'

'यह सुनकर राजा के मन में बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने सूरि को अपने दाहिने तरफ सिंहासन पर बैठा दिया तब वे स्वयं सिंहासन पर बैठे।

इस प्रकार चारों प्रकार के ज्ञान (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का ज्ञान मानवीय इच्छाओं के चार लक्ष्य हैं) के पवित्र वार्तालाप में दिन कटने लगे।'

एक समय राजा ने कहा, 'श्रद्धेय ! आपको देवाधिदेव महादेव का जिसका देवता और दानव सभी सम्मान करते हैं तथा जो महाकाल मन्दिर में विराजमान हैं अवश्य आदर करना चाहिये।' तब सूरि ने कहा—'यदि मैं उन्हें नमस्कार करूँगा तो उनका लिङ्ग टूट जायगा और वे अप्रसन्न हो जायँगे।' तब राजा ने कहा, 'चिन्ता न करिये आप नमस्कार करिये।' उसने कहा, 'अच्छा सुनो।' तब पद्मासन मुद्रा में बैठकर वे बत्तीसी (वन्दना के श्लोक) से इस प्रकार देवता की वन्दना करने लगे।

(२) 'मैं स्वयंभू, सहस्रनेत्र, सर्वेश्वर, विश्वरूप, अक्षय, अव्यक्त, अबाधित (मुक्त) की स्तुति करता हूँ (मैं उसकी वन्दना करता हूँ) जो सारे संसार में व्याप्त आदि, मध्य तथा अन्त से रहित और जो सद्-असत् से परे है।'

प्रथम श्लोक के उच्चारण पर ही लिङ्ग से एक धूम्रस्तम्भ निकला। तब लोगों ने कहा, 'प्रभु रुद्र अपने तृतीय नेत्र से साधु को भस्म करने जा रहे हैं।' तब एक बिजली की तरह की ज्योति बाहर निकली। अनन्तर प्रभु पार्श्वनाथ (२३वें तीर्थंकर अथवा जिन) की मूर्ति बाहर निकली। तब राजा ने पूछा, 'प्रभु ! हम लोग यह क्या चमत्कार देख रहे हैं ? यह बाहर निकला हुआ देवता कौन है ?' तब सिद्धसेन ने कहा, 'प्राचीनकाल में अवन्ती नगर में श्रेष्ठिनी भद्रा का अवन्तिसुकुमाल (= अवन्तीकुमार, द्रष्टव्य पृष्ठ १२, मध्य) था जो सालिभद्र के समान ३२ पत्नियों के आलिंगन का सुख लूटता था। एक बार जब उसने सूरि सुहस्तिन के मुख से नलिनी गुल्म विमान (एक जैनग्रंथ) सुना तो उसे अपने पूर्वजन्मों की स्मृति हो आयी और रात होते-होते उसने जैनधर्म ग्रहण कर लिया। चूँकि उसका सम्बन्ध श्मशान की एक शृगाली से था जो पूर्वजन्म में उसकी पत्नी रह चुकी थी, इसलिए उसकी मृत्यु हो गयी और उसे नलिनीगुल्मविमान उपलब्ध हुआ। उसके पुत्र ने उस स्थान पर महाकाल के मन्दिर का निर्माण कराया जहाँ उसके पिता की मृत्यु हुई थी। समय पाकर ब्राह्मणों ने उस पर अधिकार कर लिया और वहाँ शिवलिंग स्थापित कर दिया गया। अब प्रभु पार्श्वनाथ ने मेरी आत्मा से प्रसन्न होकर अपना स्वरूप प्रकट किया है। इसे सुनकर राजा ने अपनी एक आज्ञा में उस देवता को एक हजार गाँव प्रदान किये

और पूर्ण एवं नियमित रूप से अपने गुरु के सन्निकट (जैन-धर्म के) द्वादश संकल्प किये और अपने धार्मिक गुरु श्रीसिद्धसेन की प्रशंसा की ।'

जैनकथा की रचना बहुत बाद में की गयी है तथा वह सांप्रदायिक पक्षपात से अतिरंजित है। धूमस्तम्भ का उठना तथा महाकालेश्वर की प्रतिमा का टूट जाना केवल कल्पना मात्र है जो शैवधर्म के प्रति, जिसने अवन्ती में जैनधर्म को रूपान्तरित कर किया था, जैन लेखकों के क्रोध को व्यक्त करती है।

यह सत्य प्रतीत होता है कि जैन साधुओं तथा विद्वानों का विक्रमादित्य के शासनकाल में अवन्ती में अत्यधिक आदर होता था और विक्रमादित्य के वैयक्तिक जीवन पर उनका पर्याप्त प्रभाव था। भारतीय इतिहास में यह अकेला उदाहरण नहीं है। सिद्धान्ततः प्राचीन भारतीय शासक विचारशील तथा अपने से इतर धर्मों के प्रति अत्यन्त उदार थे, जिनमें भारतीय संस्कृति पर आधारित समान तत्त्वों का सन्निवेश था। सभी प्राप्य साक्ष्यों से यह स्पष्ट जान पड़ता है कि विक्रमादित्य का पैतृक तथा व्यक्तिगत धर्म शैव था; उन पर जैनधर्म का भी प्रभाव था तथा उसे उन्होंने आश्रय प्रदान किया। उनका औदार्य एवं दान सभी धर्मों के लिए खुला था जो उनका आश्रय चाहते थे।

एकादश अध्याय

भाषा और साहित्य

१. भाषा

अन्य देशों की भाँति भारतवर्ष के भी दीर्घकालीन इतिहास में सर्वदा एक ही भाषा के दो रूप प्रचलित रहे हैं। एक साहित्यिक या सुधरा हुआ रूप जो 'संस्कृत' के नाम से अभिहित होता था और दूसरा लोक में प्रचलित तथा बोलियों से सम्बन्धित रूप जिसे प्राकृत (प्राकृतिक) या अपभ्रंश कहा गया है। संस्कृत (प्राचीन अथवा वैदिक) के साथ ही साथ भाषा का यह दूसरा रूप भी अवश्य प्रचलित रहा होगा। किन्तु पाँचवीं शताब्दी के पूर्व[1] इसका व्यवहार साहित्यिक तथा संलेखात्मक कार्यों के लिए नहीं हुआ था। जैन तथा बौद्ध धर्म, सुधारवादी, धर्म के रूप में उठ खड़े हुए थे। इन्होंने वैदिक यज्ञों एवं संस्कृत भाषा के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया पैदा कर दी थी। जनता तक पहुँचने का प्रयास किया था। इनके उदय के पश्चात् प्राकृत अथवा लोकप्रचलित भाषा ने महत्त्व प्राप्त किया। इसका प्रचार लोकसाहित्य के माध्यम के रूप में किया गया। अशोक तथा अवान्तर-कालीन मौर्य नरेशों के समय पालि ने जो उस युग की प्राकृत भाषा थी राजाश्रय प्राप्त करके पर्याप्त उन्नति की। तथापि संस्कृत कभी ग्रसित नहीं हुई और न इसका व्यवहार ही बन्द हुआ। ६०० ई० पू० से लेकर २०० ई० पू० तक फैले हुए इसी काल में अधिकांश सूत्रसाहित्य की रचना हुई। संस्कृत में लिखित कौटिलीय अर्थशास्त्र की भी रचना प्रथम मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त के राजाश्रय में हुई थी।

उसी काल में रामायण तथा महाभारत के भी कुछ भाग लिखे गये। इस काल के अन्त में पतञ्जलि ने पाणिनि की अष्टाध्यायी पर भाष्य लिखा।

---

१. भारतवर्ष का ज्ञात सर्वप्राचीन अभिलेख पिपह्वा भाण्ड-अभिलेख है जिसमें भगवान् बुद्ध की अस्थि-मञ्जूषा के समर्पण का वर्णन है। इसकी तिथि ई० पू० पञ्चम शतक मानी जा सकती है।

(जे० आर० ए० एस० १८९८ पृ० ३८७ के आगे)

इस प्रकार स्पष्ट है कि उन लोगों ने जो ब्राह्मण धर्म और संस्कृत में विश्वास करते थे तथा जिनकी संख्या बड़ी थी संस्कृत को ही अभिव्यक्ति का साधन बनाया। शुङ्गों के आने पर राजाश्रय पालि से हटकर पुनः संस्कृत को प्राप्त हुआ। प्राकृत के प्रचार के कारण तथा विदेशियों से अपेक्षाकृत अधिक प्रश्रय पाने के कारण संस्कृत को तीन शताब्दियों तक प्राकृत के साथ संघर्ष करना पड़ा। तब संस्कृत के अग्रिम विकास के लिए मुक्त वातावरण प्राप्त हुआ और वह परिमार्जित तथा अभिव्यक्ति का ऐसा अच्छा माध्यम हो गयी कि बौद्ध व जैन लेखकों ने प्राकृत की अपेक्षा इसी को श्रेष्ठता प्रदान करके इसी में लिखना आरम्भ कर दिया। अतः प्रथम शताब्दी ई० पू० में अत्यधिक प्रचलित भाषा संस्कृत थी,[१] यद्यपि प्राकृत का भी सीमित व्यवहार होता था। अमरसिंह ने संस्कृत को निम्नलिखित नामों से अभिहित किया है :[२]

(१) ब्राह्मी (ब्रह्म अथवा वेद से उद्भूत)

(२) भारती (भारत की अत्यधिक संस्कृत जाति भरतों द्वारा प्रयुक्त और पूर्ण की गयी अथवा भारतीय संस्कृति का अत्यधिक परिपूर्ण माध्यम)

(३) भाषा[3] (बोधगम्य अभिव्यक्ति)

उन्होंने प्राकृत को भी दो नामों से पुकारा है :

(१) अपभ्रंश।

(२) अपशब्द।

ये दोनों शब्द लोकप्रिय भाषा के व्यतिक्रमिक तथा ढीले स्वभाव का निर्देश करते हैं, जो जीवन के साधारण कार्यों के लिए प्रयुक्त होती थी। वह सूक्ष्म भावों की उदात्तरूप में अभिव्यक्ति करने का उत्तम माध्यम नहीं थी, तथापि इसका प्रयोग संस्कृत नाटकों में स्त्रियों तथा निम्नश्रेणी के व्यक्तियों ने किया है तथा अब भी जनसाधारण के लिए समर्पण, दान-पत्र, घोषणा आदि में उसका व्यवहार होता था।

२. साहित्य एवं ज्ञान की विभिन्न शाखायें :

इस युग में संवृद्धि प्राप्त करनेवाली साहित्य की विभिन्न शाखाओं का उल्लेख अमरकोश[४] में निम्नलिखित रूप में है :

---

१. काले श्रीसाहसाङ्कस्य के न संस्कृतवादिनः। सरस्वतीकण्ठाभरण।

२. अमरकोश १-६-१। ३. पतञ्जलि भी संस्कृत को भाषा कहते हैं।

४. १-६-३।

(१) वेद–जो श्रुति, आम्नाय तथा त्रयी नामों से अभिहित होता था।

(२) वेदांग—इसमें शिक्षा (शुद्ध उच्चारण का विज्ञान), कल्प (वैदिक यज्ञादि से सम्बद्ध नियम), निरुक्त, व्याकरण, छन्द तथा ज्योतिष सम्मिलित थे।

(३) इतिहास अथवा पुरावृत्त

(४) आन्वीक्षिकी (दर्शनशास्त्र)

(५) दण्डनीति (राजनीति)

(६) तर्क-विद्या (तर्कशास्त्र)

(७) अर्थशास्त्र[1]

(८) आख्यायिका अथवा उपलब्धार्था

(९) पुराण (संख्या में १८)

(१०) प्रबन्ध, कल्पना अथवा कथा (जीवनी)

(११) स्मृति अथवा धर्मशास्त्र

अमरकोश में उल्लिखित विषयों से साहित्य तथा ज्ञान की निम्नलिखित शाखायें ज्ञात होती हैं :

(१) अध्यात्मविद्या और पौराणिकी (स्वर्गवर्ग)[2]

(२) भौतिक भूवृत्त—[व्योमवर्ग (आकाश की वस्तुयें), दिग्वर्ग (दिशायें), कालवर्ग[3] (समय), भूमिवर्ग][4]

(३) मनोविज्ञान (धीवर्ग[5] = मानसिक वस्तुयें)

(४) नाट्यशास्त्र (नाट्यवर्ग)।[6] संगीत तथा रंगशाला

(५) वारिविद्या (वारिवर्ग)[7]

(६) वास्तु (पुरवर्ग)[8]

(७) औद्भिदी और भेषजविज्ञान (वनौषधिवर्ग)[9]

(८) प्राणिकीया प्राणिशास्त्र (सिंहादिवर्ग)[10]

(९) समाजशास्त्र (मनुष्यवर्ग)[11]

कालिदास के ग्रन्थों में साहित्य की उपर्युक्त लगभग सभी शाखाओं का

---

१. कौटिल्य अर्थशास्त्र में आधुनिक अर्थ में अर्थशास्त्र के लिए वार्ता शब्द का व्यवहार हुआ है।

२. ३, १-१। ३. १, २, ३ और ४। ४. २, १। ५. १, ५। ६. १, ९। ७. १, १०। ८. २, २। ९. २-४; २-६। १०. २-५। ११. ५-६।

उल्लेख हुआ है। कवि श्रुति (वेद) तथा स्मृति (धर्मशास्त्र) का बहुधा उल्लेख करता है। पतिव्रताओं में सर्वश्रेष्ठ रानी सुदक्षिणा उसके (नन्दिनी गाय के) खुरन्यास से पवित्र धूलिवाले पथ का इस प्रकार अनुसरण कर रही थी जिस प्रकार स्मृति श्रुति का अनुसरण करती है।[१] आपत्तियों के दूर करने के लिए अथर्ववेद का विशेष रूप से उल्लेख हुआ है 'तब धन के स्वामी ने··· अथर्ववेद के उस कोश के सम्मुख भावपूर्ण शब्दों में कहा : जब तक तुम मेरे मानवीय या मानवेतर सभी संकटों को दूर करने में समर्थ हो तब तक मेरे राज्य के सातों खण्डों में वैभव का साम्राज्य रहेगा।'[२] ज्योतिष विद्या के भी कितने उल्लेख हैं : 'जिसके सौभाग्यशाली होने की सूचना वे पाँच शुभ ग्रह दे रहे थे जो उस समय उच्च स्थान पर थे और साथ में सूर्य के न होने से फल देने में समर्थ थे।'[३] संयोग के अन्त में सूर्य चन्द्रमा से अलग हो जाता है[४] तब विश्व को प्रखर सूर्य का भान होता है।[५] चन्द्रमा का पथ अवरुद्ध करनेवाले राहु के उल्लेख से ग्रहण का संकेत मिलता है।[६] कालिदास ने सीमाओं के साथ औषधिशास्त्र की भी प्रशंसा की है : 'जीव शेष रहने पर औषधि कुछ प्रभाव अवश्य दिखलाती है।'[७] धातुविज्ञान जैसे भौतिक विज्ञानों के उल्लेखों की भी कमी नहीं है। कालिदास ने बहुमूल्य धातुओं के नामों को उद्धृत किया है, यथा : मनःशिल (लाल संखिया)।[८] समाज के विलासी व उच्चवर्ग में रतिशास्त्र भी प्रचलित था : 'उस नगरी ने प्रीतिपूर्वक घेरा जाना उस प्रकार सहन किया जिस प्रकार स्त्री प्रिय के अतिप्रगाढ सम्भोग को सहन करती है।'[९] 'स्त्रियाँ वासना के अधिक बढ़ जाने पर अवसर-अनवसर का विचार नहीं करतीं।'[१०] 'पति तथा पत्नी में अपने विरोधी व्यवहारों के कारण पहले तो प्रेम-कलह होता है बाद में पश्चात्ताप।'[११] अपने ग्रंथों में कालिदास ने विभिन्न सन्दर्भों में अपने युग की बौद्धिक सफलता को प्रतिबिम्बित किया है।

३. विक्रमादित्य का ज्ञान और साहित्य को आश्रय देना

'विक्रमादित्य' नाम भारतीय इतिहास में ज्ञान तथा साहित्य के आश्रयदान का प्रतीक है। लिखित अथवा मौखिक सभी अनुश्रुतियों में विक्रमादित्य द्वारा

---

१. रघु० २-२। २. वही १, ५९-६१। ३. वही ३-१३। ४. ७, ३३। ५. वही ५-३। ६. रघु० १२-२८। ७. वही, ७, ४०। ८. वही १२-८। ९. वही ११-४२। १० वही १२-३३ ११. वही १६-४५।

साहित्य, विद्वान् एवं कलाकारों को उत्साह तथा सहायता प्रदान करने और समकालीन प्रसिद्ध पण्डितों को सम्मानित किए जाने का प्रचुर वर्णन मिलता है। विक्रमादित्य के शासनकाल में साहित्यिक और कलात्मक कार्यों का बाहुल्य था। तब कोई आश्चर्य की बात नहीं कि प्रसिद्ध कवि, लेखक, कलाकार, संगीतज्ञ, वैद्य तथा ज्योतिषी उनकी सभा में आश्रय के लिए आते रहे हों।

४. विक्रमादित्य और उनके नवरत्न

ज्योतिर्विदाभरण नामक ग्रन्थ में सुरक्षित अनुश्रुति के अनुसार विक्रमादित्य की राजसभा में नौ प्रसिद्ध कवि, लेखक तथा विद्वान् थे जिन्हें सामूहिक रूप से 'नवरत्न' कहा जाता था। वह श्लोक जिसमें उनकी गणना की गयी है नीचे उद्धृत किया जाता है :

धन्वन्तरिक्षपणकामरसिंहशंकुवेतालभट्टघटखर्परकालिदासाः।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां रत्नानि वै वररुचिर्नवविक्रमस्य॥ १२-१०

राजा विक्रमादित्य की राज्यसभा के नवरत्न थे—(१) धन्वन्तरि (२) क्षपणक (३) अमरसिंह (४) शंकु (५) वेतालभट्ट (६) घटखर्पर (७) कालिदास (८) प्रसिद्ध वराहमिहिर और (९) वररुचि।

ज्योतिर्विदाभरण के रचयिता विक्रमादित्य के मित्र रघुवंश इत्यादि (२२-१९-२०) के लेखक कालिदास बताये गये हैं तथा इसकी तिथि कलि-संवत् ३०६८ (वि० सं० २४)[1] का वैशाख मास दी गयी है।

ज्योतिर्विदाभरण के रचयिता कालिदास के होने में निम्नलिखित अन्तःसाक्ष्य के आधार पर सन्देह किया गया है :[2]

(१) मत्वा वराहमिहिरादिमतैः
(२) शाकः शराम्भोधियुगौ (४४५) तितो हतोः
(३) मानं खतर्कै(६०)रयनांशकाः स्मृताः १.१८

जो इस ग्रन्थ के कालिदास की कृति होने में सन्देह करते हैं उनके अनुसार उपर्युक्त पंक्तियों में उल्लिखित (१) वराहमिहिर की मृत्यु ५०९ शाक संवत् में हुई थी।[3] (२) शक संवत् की स्थापना ७८ ई० में हुई थी और (३)

---

१. वर्षैः सिन्धुरदर्शनांबरगुणैः याते कलौ सम्मिते।
मासे माधवसंज्ञिते च विहितो ग्रंथक्रियोपक्रमः॥ २२, २१।

२. शंकर बालकृष्ण दीक्षित : ऐंश्येण्ट हिस्ट्री ऑव् इण्डियन एस्ट्रानॉमी, पृ० ४७५ और आगे।

३. द्रष्टव्य : पीछे पृ० ८९।

सूर्य व चन्द्र का संयोग शक-संवत् ११६४ (१२९९ वि० सं०) में घटित हुआ था। अतः उनका मत है कि कालिदास, जिन्होंने ज्योतिर्विदाभरण की रचना की थी, प्रथम शताब्दी ई० पू० में संवत् की स्थापना करनेवाले विक्रमादित्य के समकालीन नहीं हो सकते। उनका कहना है कि यह दूसरे कालिदास थे, जो ११वीं शताब्दी ई० में हुए। ज्योतिर्विदाभरण के आलोचक एक पग और आगे बढ़ जाते हैं। वे उस ग्रन्थ में दिये गये 'नवरत्नों' की परंपरा में ही अविश्वास करते हैं। तथापि आलोचकों को वराहमिहिर और आमराज के ग्रन्थों में उल्लिखित शक संवत् का सम्यक् समीकरण करना कठिन है। वराहमिहिर तथा आमराज द्वारा प्रयुक्त शक संवत् सम्भवतः ५५० ई० पू० में स्थापित होनेवाला संवत् है। अतएव कालिदास शक संवत् तथा वराहमिहिर का उल्लेख कर सकते थे। किन्तु यदि यह भी स्वीकार कर लिया जाय कि ज्योतिर्विदाभरण के रचयिता प्रथम शताब्दी ई० पू० में होनेवाले कालिदास से भिन्न कोई अन्य कालिदास थे तो भी इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि ११वीं शताब्दी ई० में यह व्यापक अनुश्रुति थी कि विक्रमादित्य की राजसभा नवरत्नों से अलंकृत थी। जब तक स्वतन्त्र तथा व्यक्तिगत रूप से यह सिद्ध नहीं कर लिया जाता कि नवों रत्न प्रथम शताब्दी के अतिरिक्त अन्य शताब्दियों में हुए तब तक अनुश्रुति अक्षत रहती है। अनुश्रुति के असिद्ध करने का भार आलोचकों पर है।

नवरत्नों के प्रथम शताब्दी ई० पू० में कालिदास के साथ होने की सम्भावना का संक्षिप्त रूप से निम्नलिखित पंक्तियों में विचार किया जावेगा :

(१) धन्वन्तरि : यह व्यक्तिवाचक नाम नहीं, प्रत्युत एक विरुद था जो उस समय के सर्वश्रेष्ठ वैद्य को प्रदान किया गया था। प्रथम धन्वन्तरि, जो सम्भवतः व्यक्तिवाचक नाम था, विष्णुपुराण और हरिवंश के अनुसार काशी के राजा थे।[1] किन्तु वे विक्रमादित्य के समकालीन धन्वन्तरि के बहुत पहले हुए थे। एक धन्वन्तरि सुश्रुत के गुरु थे जो प्रथम शताब्दी ई० में चरक के छोटे समकालीन थे।[2] वही सम्भवतः प्रथम शताब्दी ई० पू० के प्रसिद्ध वैद्य थे तथा उन्होंने ही विक्रमादित्य की राजसभा को अलंकृत किया था और उन्हें धन्वन्तरि की उपाधि मिली।

---

१. जी एन० मुखोपाध्याय : हिस्ट्री आफ इण्डियन मेडिसिन, द्वितीय भाग, पृ० ३१०–११।

२. पाजिटिव साइन्सेज आफ दि ऐंश्येण्ट हिन्दूज, पृ० ६२।

(२) **क्षपणक :** इस शब्द का व्यवहार प्राचीन भारत में जैन संन्यासियों के लिए हुआ करता था। अतएव क्षपणक भी व्यक्तिवाचक नाम नहीं था। जैन निबन्धों तथा विक्रमचरित में कहा गया है कि महान् जैन साधु तथा विद्वान् सिद्धसेन दिवाकर विक्रमादित्य की राजसभा में आये, उन्हें धर्मोपदेश दिया तथा उन्हें शैवधर्म से जैनधर्मावलम्बी बनाया।[1] अतः जैन अनुश्रुतियों के अनुसार सिद्धसेन दिवाकर विक्रमादित्य के समकालीन थे तथा उनका समीकरण ज्योतिर्विदाभरण में उल्लिखित क्षपणक से किया जा सकता है। पण्डित सुखलाल जी तथा पण्डित खेचरदास सम्मतितर्क की भूमिका (पृ० ३९) में कुछ अन्य साक्ष्यों के आधार पर यह मानते हैं कि विक्रमादित्य के समकालीन क्षपणक का समीकरण सिद्धसेन दिवाकर से करना काल्पनिक है क्योंकि सिद्धसेन दिवाकर पाँचवीं शताब्दी में हुए थे। लेकिन यह कैसे कहा जा सकता है कि भारतीय इतिहास में एक ही सिद्धसेन दिवाकर हुए।

विस्तृत जैन-साहित्यिक अनुश्रुति को ध्यान में रखकर विक्रमादित्य के समकालीन क्षपणक और सिद्धसेन में अभिन्नता करना असंगत नहीं है।

(३) **अमरसिंह :** विक्रमादित्य की राजसभा के एक अन्य रत्न अमरसिंह थे। उन्होंने प्रसिद्ध अमरकोश की रचना की। कालिदास की तरह उन्हें भी गुप्तकाल में घसीट लिया गया है (चतुर्थ से लेकर अष्टम शताब्दी ई० तक) किन्तु हमारे पास ऐसा कोई निश्चित आधार नहीं है जिससे यह सिद्ध किया जा सके कि वे वस्तुतः गुप्तकाल के ही थे। उनके काल की सबसे निचली सीमा छठी शताब्दी ई० है जिस समय उज्जयिनी के गुणरात ने अमरकोश का चीनी अनुवाद किया। जिनेन्द्र बुद्धि, जिन्होंने ७०० ई० में अपने न्यास की रचना की थी, बड़े आदरपूर्वक अमरसिंह का उल्लेख करते हैं। अमरकोश की सबसे प्राचीन टीका ग्यारहवीं शताब्दी में क्षीरस्वामी द्वारा लिखी गयी जो भोज, राजशेखर तथा माघ आदि का उल्लेख करते हैं। अमरसिंह की ऊपरी सीमा अमरकोश में प्राप्त निम्नांकित अन्तःसाक्ष्य के आधार पर कुछ विद्वानों ने चतुर्थ शताब्दी ई० निश्चित की है : (१) पौराणिक देवता तथा धार्मिक विधियों का उल्लेख, और (२) बौद्धधर्म के महायानी प्रतीकों के संकेत, यथा—बुद्ध, बोधिद्रुम, एडुक (स्तूप) आदि के नाम।

---

१. प्रभावकचरित, प्रबन्धचिन्तामणि, प्रबन्धकोश, विविधतीर्थकल्प, विक्रमचरित आदि।

किन्तु इस बात का निर्देश किया जा सकता है कि पौराणिक देवताओं के संकेत चतुर्थ शताब्दी ई० पू० की रचना कौटिलीय अर्थशास्त्र में भी हैं और महायान सम्प्रदाय के लक्षण प्रथम शताब्दी के पहले भी विद्यमान थे। इसलिए अमरकोश के अन्तःसाक्ष्य को प्रथम शताब्दी ई० पू० में विक्रमादित्य और कालिदास की समकालीनता के विरोध में खड़ा नहीं किया जा सकता।

अमरसिंह अपने धार्मिक व्यवहारों में बौद्ध थे जैसा कि अमरकोश के प्रारम्भिक श्लोक से स्पष्ट हो जाता है।[1] उन्होंने स्वर्गवर्ग के देवताओं में बुद्ध को प्रथम स्थान दिया है।[2] वे प्रकाण्ड पाण्डित्य और विशाल सहानुभूति वाले व्यक्ति थे तथा उन्होंने बड़े सुन्दर कोश 'नामलिङ्गानुशासन' की रचना की थी जो बाद में अमरकोश के नाम से विख्यात हुआ। कोशकारिता में उन्होंने एक नयी सरणि स्थापित कर दी जिसका उत्तरकालीन लेखकों ने भी व्यवहार किया है।

(४) **शंकु** : विक्रमादित्य की राजसभा के नवरत्नों में वे सबसे कम प्रसिद्ध हैं। ज्योतिर्विदाभरण के लेखक उन्हें विक्रम की राजसभा का एक सभासद बताते हैं:

शङ्कुः सुवाग्वररुचिर्मणिरङ्गुदत्तो जिष्णुस्त्रिलोचनहरी घटखर्पराख्यः।
अन्येऽपि सन्ति कवयोऽमरसिंहपूर्वा यस्यैव विक्रमनृपस्य सभासदोऽमी॥

[ये विक्रमादित्य की राजसभा के सभासद हैं—शङ्कु, मधुभाषी वररुचि, अंगुदत्त, जिष्णु, त्रिलोचन, हरि, घटखर्पर तथा अन्य कवि, जिनमें पूर्ववर्ती अमरसिंह हैं।]

एक बहुत परवर्ती और स्पष्टतः मनगढ़न्त अनुश्रुति है जिसके अनुसार क्षीरस्वामी ने चारों वर्णों की चार पत्नियों से विवाह किया था। उनकी ब्राह्मणी पत्नी से वराहमिहिर, क्षत्रिया से भर्तृहरि, वैश्या से हरिश्चन्द्र और शङ्कु तथा शूद्रा से अमरसिंह उत्पन्न हुए। इस अनुश्रुति का इससे अधिक कुछ भी महत्त्व नहीं है कि संभवतः शङ्कु विक्रम के वैश्य सभासद और एक ही ब्राह्मण गुरु के संरक्षण में विक्रम के सहपाठी थे।

(५) **वेतालभट्ट** : जहाँ तक प्रसिद्धि का प्रश्न है वे शङ्कु से अधिक

---

१. यस्य ज्ञानदयासिन्धोरगाधस्यानघा गुणाः।
सेव्यतामक्षयो धीराः स श्रिये चामृताय च॥

२. अमरकोश १. १. १३।

विख्यात न थे। केवल काल्पनिक पंचविंशतिका में उन्हें मानवेतर कार्यों को सम्पादित करने का श्रेय प्रदान किया गया है। भट्ट नामक उपाधि इस बात का निर्देशक है कि वे ब्राह्मण थे। लिखित मध्यकालीन अनुश्रुति के अनुसार वे रोहिणिगिरि पर विक्रमादित्य के द्वारा पराजित किये गये थे तथा उज्जयिनी लाये गये थे। बाद में वे विक्रम के गहरे मित्र तथा सहायक हो गये।

(६) **घटखर्पर** : यह विचित्र सा नाम है और इसके व्यक्तिवाचक नाम होने जी अपेक्षा उपनाम होने की अधिक सम्भावना है। वह बहुत प्रसिद्ध कवि रहे होंगे तथा उन्होंने अनेक ग्रंथों की रचना भी की होगी। आजकल उनके दो ग्रन्थ बताये जाते हैं : १. घटखर्परकाव्य : जिसका विषय कालिदास के मेघदूत की भाँति ही एक प्रोषितपतिका पत्नी द्वारा अपने प्रिय के पास मेघ द्वारा संदेश भेजना तथा २. नीतिसार। प्रथम ग्रन्थ पर अभिनवगुप्त, शान्ति सूरि, गोविन्द, कमलाकर तथा ताराचन्द आदि ने टीकायें लिखी हैं।

(७) **कालिदास** : विक्रमादित्य की राजसभा को अलंकृत करनेवाले प्रसिद्ध कवियों तथा लेखकों के ज्योतिर्मण्डल में कालिदास सर्वाधिक प्रकाशमान हैं। भारतीय अनुश्रुति सर्वदा उन्हें कालिदास से सम्बोधित करती है। उन विद्वानों में भी; जो कालिदास को गुप्तकाल में घसीट ले जाते हैं, अधिकांश उन्हें चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य का राजकवि बतलाते हैं। जहाँ तक उनकी तिथि और प्रथम शताब्दी ई० पूर्व० के विक्रमादित्य के साथ उनकी समकालीनता का सम्बन्ध है, इस समस्या पर पहले ही इस ग्रन्थ के द्वितीय भाग में प्रकाश डाला जा चुका है। वहाँ कालिदास की तिथि से सम्बन्धित सभी सिद्धान्तों की परीक्षा की जा चुकी है। अब उसके दुहराने की आवश्यकता नहीं है।

(८) **वराहमिहिर** : वे अपने युग के सबसे बड़े ज्योतिषी थे इसलिए उज्जयिनी के ज्ञानमन्दिर में विक्रमादित्य के प्रश्रय में उन्हें भी महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ था। उनकी तिथि तथा उनके विक्रमादित्य के समकालीन होने की सम्भावना पर भी इस ग्रन्थ के द्वितीय अध्याय में विचार किया जा चुका है।

(९) **वररुचि** : कथासरित्सागर के अनुसार वररुचि का दूसरा नाम कात्यायन भी था तथा उनका जन्म कौशाम्बी के एक ब्राह्मण कुल में हुआ था। वहाँ से वे पाटलिपुत्र गये और वहीं उन्होंने शिक्षा प्राप्त की। उन्होंने व्याकरण में विशेष दक्षता प्राप्त की थी। जिनप्रभ सूरि द्वारा रचित विविध-

तीर्थकल्प' नामक ग्रंथ में एक लिखित अनुश्रुति है जिसके अनुसार सिद्धसेन दिवाकर की आज्ञानुसार विक्रमादित्य की शासनपट्टिका (शासन के सिद्धान्त) को कात्यायन ने उज्जयिनी में संवत् १ चैत्रमास की शुक्ल प्रतिपदा को लेखबद्ध किया था। यह भी कहा गया है कि जिनप्रभ सूरि ने पट्टिका को स्वयं देखा था। यदि कात्यायन वररुचि ही है तो ज्योतिर्विदाभरण में उल्लिखित वररुचि का विक्रमादित्य का समकालीन होना विविधतीर्थकल्प से प्रमाणित हो जाता है। वररुचि स्वयं यह लिखते हैं कि उन्होंने पत्रकौमुदी नामक अपना ग्रन्थ विक्रमादित्य[1] की आज्ञा तथा उसके आश्रय में लिखा। वे अपने लिंगानुशासन तथा विद्यासुन्दर में विक्रमादित्य का उल्लेख करते हैं। प्रबन्ध-चिन्तामणि में संलिखित जैन अनुश्रुति का कहना है कि वररुचि विक्रमादित्य की पुत्री प्रियंगुमंजरी के शिक्षक थे।[2] सदुक्तिकर्णामृत (पृ० २९७) के अनुसार धोयिक उपनामवाले श्रुतिधर को भी राजा लक्ष्मणसेन की राजसभा में वही सम्मान प्राप्त था।[3] इस प्रकार अनेक साहित्यिक अनुश्रुतियाँ हैं जो वररुचि का विक्रमादित्य की राजसभा में रहना बतलाती हैं।

५. युग की साहित्यिक कृतियाँ

भारत में ई० पू० प्रथम शताब्दी न केवल सुदूरगामी परिणामवाली राजनीतिक घटनाओं की दृष्टि से प्रत्युत उच्चकोटि की बौद्धिक कृतियों के लिए भी महत्त्वपूर्ण थी। प्रारम्भिक जैन तथा बौद्धधर्म नैतिक-दार्शनिक समस्याओं एवं तपोमय जीवन के शिष्टाचारों से ही अधिक सम्बन्ध रखता था। उनमें शुद्ध साहित्य के लिए बहुत कम स्थान था। शुङ्गों के आगमन के पश्चात् ब्राह्मणधर्म के अन्तर्गत जीवन के एक सन्तुलित दृष्टिकोण का पुनरुत्थान हुआ तथा साहित्य और सौन्दर्यशास्त्र को भी बौद्धिक क्रियाओं में महत्त्वपूर्ण स्थान मिला। अतः शुङ्गों के शासनकाल के पश्चात् अनेक कवि, लेखक तथा नाटककार हुए।

(१) भास : कालिदास ने अपने मालविकाग्निमित्र (अंक चतुर्थ,

---

१. विक्रमादित्यभूपस्य कीर्त्तिसिद्धेर्निदेशतः।
श्रीमान् वररुचिर्धीमांस्तनोति पत्रकौमुदीम्॥ पत्रकौमुदी।

२. विक्रमार्कप्रबन्ध।

३. ख्यातो यश्च श्रुतिधरतया विक्रमादित्यगोष्ठीविद्याभर्तुः खलु वररुचेराससाद प्रतिष्ठाम्।

प्रस्तावना) में भास, सौमिल्ल तथा कविपुत्र को नाट्यसाहित्य में अपना पूर्ववर्ती अथवा ज्येष्ठ समकालीन माना है।[1]

अन्तिम दोनों के बारे में कुछ भी विशेष ज्ञात नहीं है किन्तु भास तो निश्चित रूप से संस्कृत-साहित्य में अत्यधिक प्रसिद्ध नाटककार हैं। श्री काशी-प्रसाद जायसवाल के अनुसार वे कण्व वंश के तीसरे राजा नारायण के शासनकाल (४९ ई० पू०) में हुए[2] थे। वे विद्वान् जो कालिदास को चतुर्थ या पंचम शताब्दी में घसीट लाते हैं, भास की तिथि तृतीय शताब्दी ई० में निश्चित करते हैं। किन्तु एक बार जब कालिदास की तिथि प्रथम शताब्दी ई० पू० में निश्चित हो जाती है तो भास को तृतीय शतक ई० में रखना असम्भव हो जाता है। भास के निम्नलिखित नाटक बताये जाते हैं :

(१) मध्यममव्यायोग
(२) दूतघटोत्कच
(३) कर्णभार
(४) ऊरुभंग
(५) पाञ्चरात्र
(६) दूतवाक्य
(७) बालचरित
(८) प्रतिमा
(९) अभिषेक
(१०) अविमारक
(११) प्रतिज्ञायौगन्धरायण
(१२) स्वप्नवासवदत्तम्
(१३) चारुदत्त

कुछ विद्वानों को उपर्युक्त नाटक के रचयिता भास के होने में सन्देह है। उनके सन्देह का आधार यह है कि इनमें कोई नाटक भास का उल्लेख नहीं करता तथा पश्चात्कालीन लेखकों द्वारा उद्धृत भास के श्लोक उनमें प्राप्त नहीं होते।[3] तथापि लेखक के नाम का अभाव भारतीय इतिहास में असाधारण बात नहीं है और बहुत कुछ अनुमान के आधार पर कुछ श्लोक प्रसिद्ध लेखकों के नाम से उद्धृत किये जाते हैं। इसलिए नाम के अभाव पर आधारित तर्क निर्णायक नहीं है। श्री गणपति शास्त्री, कीथ, विण्टरनित्स आदि ने ठीक ही इन नाटकों को शैली, भाषा तथा विषय की एकता के आधार पर भास का ही

---

१. प्रथितयशसां भाससौमिल्लककविपुत्रादीनां प्रबन्धानतिक्रम्य वर्तमानकवेः कालिदासस्य क्रियायां कथं बहुमानः।

२. जे० ए० एस० बी०, १९१३ पृ० २५३।

३. द्रष्टव्य : बरनेट जे० आर० ए० एस० १९१९ पृ० २३३ और आगे;
केनिआ (Kenea) : विविधज्ञानविस्तार १९२०;
लेवी : जेड० डी० एम० डी० ७२, २०३–८।

बतलाया है ।[1] भास अत्यन्त दक्ष नाटककार थे। उन्होंने अपने अधिकांश विषयों को रामायण तथा महाभारत से लिया है किन्तु उनकी प्रतिभा की मौलिकता तथा क्रियाशीलता उनके चुनाव की विविधता से सिद्ध है। रामायण पर आधारित नाटक सम्भवतः भास के द्वारा ही लिखे गये तथा वे नाटककार के उत्तम गुणों को व्यक्त नहीं कर पाते। किन्तु महाभारत के आधार पर लिखित नाटक उनकी सृजनात्मक प्रतिभा, मौलिकता, तीव्र कार्य-व्यापार, प्रेम, यथार्थ हास्य तथा प्रभावशाली कौशल का परिचय देते हैं। भास की शैली सरल तथा सहज है, वे शक्तिशाली एवं सूत्रमय अभिव्यक्ति के पारंगत हैं। जहाँ तक अलंकरण तथा दृष्टान्तों का प्रश्न है, उन्होंने साधारण अलंकारों का ही प्रयोग किया है। भास अपने नाटकों में चरित्रचित्रण तथा मनोभावों व रसों के प्रदर्शन की प्रबल शक्ति का परिचय देते हैं। व्यंग्य तथा हास्य में भास अद्वितीय हैं।

यह ध्यान देने की बात है कि अपने नाटकों (अविमारक, चारुदत्त, प्रतिज्ञायौगन्धरायण तथा स्वप्नवासवदत्तम्)—में कालिदास की ही भाँति भास ने भी उज्जयिनी के प्रासादों, गृहमन्दिरों, उद्यानों, सरोवरों, विलासों, आनन्दों और दुराचारों का वर्णन किया है जिससे कवि का उज्जयिनी से निकट सम्बन्ध सिद्ध होता है।

(२) **कालिदास** : उनमें उस युग में सबसे अधिक सृजनात्मक प्रतिभा थी तथा वे विक्रमादित्य के अतिप्रिय राजकवि थे। उन्होंने अनेक उच्चकोटि के ग्रन्थों की रचना की। कुछ ग्रन्थों के उनके रचयिता होने में सन्देह भी है। लगभग ३० ग्रन्थ उनके बताये जाते हैं। उनमें से अधिक महत्त्वपूर्ण निम्नलिखित हैं :

(१) मालविकाग्निमित्र
(२) विक्रमोर्वशीय
(३) अभिज्ञानशाकुन्तल
(४) ऋतुसंहार
(५) मेघदूत
(६) कुमारसम्भव
(७) रघुवंश आदि

इनमें से प्रथम तीन नाटक हैं, दो गीतिकाव्य तथा अन्तिम दोनों महाकाव्य। नाटकों में मालविकाग्निमित्र सबसे प्राथमिक रचना प्रतीत होती है। मालविकाग्निमित्र की भूमिका में कालिदास सर्वाधिक विनम्र हैं और

---

१. गणपतिशास्त्री : 'भासा'ज वर्क्स ए क्रिटिकल स्टडी,
पुशालकर : भास ए स्टडी, कीथ : संस्कृत ड्रामा।

अपने परवर्ती नाटकों के श्रेष्ठ गुणों को प्रदर्शित नहीं करते। उनकी दूसरी रचना विक्रमोर्वशीय प्रतीत होती है जो अपरिपक्व मालविकाग्निमित्र तथा शाकुन्तल की परिपक्व पूर्णता के मध्यवर्ती काल की प्रतीत होती है। अभिज्ञान-शाकुन्तल की रचना अन्त में हुई। यह नाटक कालिदास की सबसे उत्तम तथा बहुमूल्य रचना है तथा इसमें उनकी प्रतिभा सर्वोत्कृष्ट रूप में प्रदर्शित हुई है। नाटककार के रूप में संस्कृत साहित्य में कालिदास का महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्रतिकूल परिस्थितियों में मानवीय स्वभाव के साथ उनकी अत्यधिक सहानुभूति है तथा उन्हें मानवमस्तिष्क के कार्यों की अत्यधिक अन्तर्दृष्टि प्राप्त है। वे भावों की किसी भी छाया को व्यक्त करने में समर्थ थे। किन्तु वे प्रेम और वेदना के भावों को व्यक्त करने में अनुपम हैं। प्रकृतिचित्रण में कालिदास सर्वदा दक्ष पाये जाते हैं। वर्णनशक्ति में कालिदास अद्वितीय हैं। कालिदास का हास्य अत्यन्त परिष्कृत होता है। वे अपने श्रोताओं का मनोरञ्जन सस्ते परिहासों से नहीं करते। नाटकों में जहाँ तक संगीत तथा नृत्य की योजना का संबन्ध है, वे अपने शास्त्रीय ज्ञान का परिचय देते हैं। कालिदास की शैली सरल तथा सहज है। उनके ग्रन्थ अवन्ती में प्रचलित वैदर्भी शैली के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण हैं। वैदर्भी शैली की आवश्यक वस्तुओं में समासों की कमी अथवा उनका विरल प्रयोग, ध्वनिसाम्य, स्पष्टता, उदात्तता एवं सौन्दर्य से मिश्रित शक्ति आदि हैं।

कालिदास अपने गीत तथा महाकाव्यों में उतने ही सफल कलाकार हैं जितने नाटकों में। ऋतुसंहार इस दिशा में उनका प्रथम प्रयास प्रतीत होता है। इसमें कालिदास प्रकृति के बाह्य सौन्दर्य और मानव के इन्द्रियजन्य सुखों की ओर आकृष्ट हो गये हैं। उनकी दूसरी रचना मेघदूत है जहाँ कवि बहुत ऊँचे धरातल पर दिखाई पड़ता है। यह एक खण्डकाव्य है—एक प्रेमगीत है जिसमें एक प्रेमिका से वियुक्त प्रेमी की वेदनाओं तथा प्रेम का वर्णन है, जो अपने मनोभावों को उस तक पहुँचाने के लिए आकुल है। मेघदूत में प्रकृति मानव के दुःख तथा खिन्नता में संगी तथा आश्वासक का महत्त्वपूर्ण कार्य भी करती है। कालिदास का कुमारसम्भव एक पूर्णविकसित महाकाव्य है जिसमें मेघदूत से पर्याप्त विकास दिखाई पड़ता है। यद्यपि इसके चरित्र दैवी हैं किन्तु वे अपने मनोभावों की गहराई, अपने व्यवहारों, अपनी सफलताओं तथा असफलताओं में पूर्णतः मानव हैं। कुमारसम्भव में पार्वती के शिव के प्रति आदर्श एकान्त प्रेम तथा भक्ति का चित्रण है जो उनके विवाह तथा

कुमार (कार्तिकेय) के जन्म तक विकसित होता जाता है। कालिदास की प्रतिभा का सर्वोत्कृष्ट प्रतिफलन रघुवंश महाकाव्य है। इस महाकाव्य का विषय इक्ष्वाकु द्वारा स्थापित राजवंश के प्रसिद्ध नरेश रघु के वंश के प्रसिद्ध राजाओं का जीवनचरित चित्रित करना है। राजाओं का व्यक्तिगत जीवनचरित चित्रित करने में कालिदास ने अपनी उच्चकोटि की काव्यप्रतिभा प्रदर्शित की है। घटनायें, दृश्य, चरित्र तथा उनके भाव और मनोभावों का चित्रण बड़ी दक्षता एवं सफलता से किया गया है। रघुवंश में कालिदास देश की सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक व्यवस्थाओं के अपने गहन ज्ञान का परिचय देते हैं, अथच भारतीय संस्कृति का आदर्श तथा सार प्रस्तुत करते हैं।

(३) **महाकाव्यों के नवीन संस्करण :** यद्यपि विक्रमादित्य के युग के पूर्व ही रामायण तथा महाभारत साहित्यिक ग्रन्थों के रूप में विद्यमान थे किन्तु चतुर्थ तथा पंचम शती ई० पू० में उच्चकोटि की संस्कृत में उनका पुनः संस्करण हुआ और परवर्ती युगों में लगभग प्रथम शताब्दी ई० पू० तक उनमें संशोधन तथा परिवर्धन होते रहे। शुङ्गों के शासनकाल में रामायण ने अपना अन्तिम रूप ग्रहण किया तथा उसमें कुछ महत्त्वपूर्ण अंश भी जोड़े गये। महाभारत का वह अंश जिसमें देश का विभाजन जाति के आधार पर किया गया है, पाण्डवों का दिग्विजय, यवनों तथा शकों द्वारा देश का उत्पीड़न, फलतः राजनीतिक हलचल तथा सभी वर्गों द्वारा शस्त्र ग्रहण करना आदि उस काल के कहे जा सकते हैं।

(४) **शास्त्रीय ग्रंथ :** विक्रमादित्य के युग में विशेष कलाओं तथा शास्त्रों से सम्बन्धित ग्रन्थों की भी रचना हुई। भरत के नाट्यशास्त्र को, जिसकी तिथि १५० ई० पू० तथा २०० ई० के बीच है, विक्रमादित्यकालीन (जो नाटकों की प्रचुर कृतियों का युग था) कहा जा सकता है। सौन्दर्यशास्त्र और कामशास्त्र पर वात्स्यायन का कामसूत्र इस युग का दूसरा महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। विक्रमादित्य की राजसभा के नवरत्नों में एक रत्न अमरसिंह ने भी 'नामलिंगानुशासनम्' नामक ग्रन्थ कीरचना की जो बाद में अमरकोश के नाम से लोकप्रिय हुआ। संस्कृत कोश साहित्य में अमरकोश सर्वाधिक लोकप्रिय और प्रचलित ग्रन्थ है। पतञ्जलि का महाभाष्य एक शताब्दी पूर्व शुङ्गों के शासनकाल में लिखा गया था। किन्तु इस समय की संस्कृत पर पाणिनि की अष्टाध्यायी का शासन था। ठीक तौर पर हम धर्मशास्त्र के किसी ग्रन्थ को प्रथम शताब्दी ई० में नहीं रख सकते किन्तु मनुस्मृति अधिक प्रचलित प्रतीत होती है। इसके बारे में कालिदास

कहते हैं कि 'वर्णाश्रम को शासित करनेवाले नियमों के पालन के सम्बन्ध में शासक के कर्तव्यों को मनु ने बताया है।' गार्गीसंहिता को, जिसमें यवन और शक आक्रमणों का वर्णन ताजी घटना के रूप में है, प्रथम शताब्दी ई० पू० में रखा जा सकता है। विक्रमादित्य की राज्यसभा के प्रसिद्ध ज्योतिषी वराहमिहिर ने बृहत्संहिता तथा ज्योतिष के अन्य ग्रन्थों की रचना की। औषध, रसायनशास्त्र, मूर्त्तिकला, वास्तुकला, चित्रकला इत्यादि के सम्बन्ध में साहित्यिक ग्रन्थों में विस्तृत उल्लेख मिलते हैं जो इस बात का संकेत करते हैं कि इन विषयों पर प्रामाणिक ग्रन्थ रहे होंगे जो अधिकांशतः नष्ट हो चुके हैं।

(५) दार्शनिक साहित्य : जैसा कि अमरकोश में गिनाया गया है, आन्वीक्षिकी अथवा दर्शनशास्त्र भी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण शाखाओं में था तथा विक्रमादित्य के युग के सुसंस्कृत मनुष्यों द्वारा इसकी उन्नति हुई थी।[1] अमरकोश[2] कुछ दार्शनिक सिद्धान्तों का उल्लेख करता है। आत्मा की मुक्ति के सिद्धान्त के लिए अमरसिंह निम्नलिखित शब्दों का व्यवहार करते हैं : मुक्ति, कैवल्य, निर्वाण, श्रेयस्, निःश्रेयस, अमृत, मोक्ष तथा अपवर्ग। वे अज्ञान, अविद्या, अहंकार का भी उल्लेख करते हैं। पंचतन्मात्राओं (रूप, रस गन्ध, स्पर्श शब्द,) तथा दश इन्द्रियों का भी आगे उल्लेख किया गया है। कालिदास के ग्रंथ भी दार्शनिक सिद्धान्त का, विशेषकर सांख्य, योग तथा वेदान्त का उल्लेख करते हैं। यदि कोई चरक-संहिता के दार्शनिक दृष्टिकोण की परीक्षा करे तो पता लगेगा कि उसकी तात्त्विक मीमांसा सांख्यदर्शन पर तथा इसकी तर्कमीमांसा न्याय-वैशेषिक दर्शन पर आधारित थी। चरकसंहिता की रचना द्वितीय शताब्दी के प्रारम्भ में हुई। इसके दार्शनिक सिद्धान्त कम से कम लगभग एक शताब्दी पहले प्रचलित रहे होंगे। मीमांसा, वेदान्त तथा योग दर्शनों की तिथि और भी अनिश्चित है, तथापि वे तृतीय शताब्दी ई० पू० तथा प्रथम शताब्दी ई० के बीच में ही सीमित हैं।

(६) बौद्ध साहित्य : प्रथम शताब्दी ई० पू० में बौद्धधर्म के सैद्धान्तिक पाली साहित्य का संकलन तथा विधीकरण समाप्त हो रहा था और उसमें असैद्धान्तिक ग्रन्थों की रचना की निश्चित प्रवृत्ति झलक रही थी। जहाँ तक

---

१. आन्वीक्षिकी दण्डनीतिस्तर्कविद्यार्थशास्त्रयोः। १–६–५

२. वही. १, ५, ६–८

संकलन के सब से बाद के कार्यों का प्रश्न है, स्थविरवादियों ने, जिनका साहित्य विस्तृत होता जा रहा था, अभिधम्मपिटक[1] को सात भागों में विभाजित तथा संकलित किया, जो नीचे दिये जाते हैं :

(क) धम्मसंगिनी : यह धम्मों का सार है तथा इसका विषय धम्मों को विभाजित करना तथा उनकी परिभाषा देना है। इसमें नीतिशास्त्र तथा मनोविज्ञान में उचित अन्तर नहीं किया गया है। मिसेज़ रीज डेविड्स ने इसे बौद्धों के मनोवैज्ञातिक नीतिशास्त्र का संक्षिप्त ग्रंथ कहा है।

(ख) विभंग : इसका शाब्दिक अर्थ विभाजन है तथा यह प्रथम भाग का ही क्रम है। दूसरा प्रारम्भिक भाग बौद्ध धर्म के आधारभूत सिद्धान्तों की व्याख्या करता है।

(ग) धातुकथा : यह द्रव्यों के बारे में एक उपदेश है। इसमें आत्मिक पदार्थों तथा उनके पारस्परिक सम्बन्धों के बारे में प्रश्नोत्तर है।

(घ) पुग्गलपञ्ञत्ति : इसका अनुवाद 'मानवीय व्यक्तियों का वर्णन' किया जा सकता है। यह ग्रन्थ व्यक्तियों को उनके नैतिक गुणों के अनुसार विभाजित करने का प्रयास करता है।

(ङ) कथावत्थु (उपदेश की वस्तु) : बौद्धधर्म के इतिहास के अध्ययन के लिए यह ग्रन्थ बहुत महत्त्वपूर्ण है। ऐसा समझा जाता है कि इसका संकलन अशोक के समय में होनेवाली बौद्ध संगीति में तिस्स मोग्गलिपुत्त ने किया था, किन्तु इसमें बहुत बाद की भी सामग्री है। इसके वर्तमान रूप को हम प्रथम शती ई० पूर्व की रचना कह सकते हैं।

(च) यमक (युगल प्रश्नों का ग्रन्थ) : यह अभिधम्मपिटक का छठा भाग है। यह प्रहेलिका-शैली में लिखा गया है तथा सभी प्रश्नों का उत्तर दो प्रकार से दिया गया है। टीका की सहायता के बिना इसका समझना कठिन है।

(छ) पट्ठान प्रकरण (कार्य-कारण सम्बन्धों का ग्रन्थ) : यह अभिधम्म-पिटक का सातवाँ तथा अन्तिम भाग है। इस ग्रन्थ में २४ प्रकार के सम्बन्धों,

---

१. बौद्धों की धार्मिक अनुश्रुति के अनुसार इसे तृतीय शताब्दी ई० पू० का बताया जाता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि धम्मपिटक इससे प्राचीन है लेकिन अभिधम्म-पिटक अपने वर्तमान रूप में तृतीय शताब्दी ई० पू० के बाद की कृति है।

जो भौतिक तथा अभौतिक पदार्थों के बीच कल्पित किये गये हैं, की खोज का वर्णन किया गया है।

अभिधम्मपिटक के आन्तरिक तथा शैलीगत गुणों के बारे में श्रीमती रीज़ डेविड्स अपनी राय देती हैं, 'जब हम गुह्य पंक्तियों, बन्द परम्परा, अतीत द्वारा शासित वर्तमान और भविष्य से निर्मित इस भवन का परित्याग करते हैं तो हमें निर्मल, सुभग, तथा स्वच्छ कक्ष का आभास होता है, किन्तु इसकी भी खिड़कियाँ बन्द, पर्दे गिरे और प्रभात की ओर दृष्टि का अभाव।'[1]

सैद्धान्तिक साहित्य तथा असैद्धान्तिक साहित्य के बीच के संक्रमण काल की विशेषता शैली, दृष्टिकोण तथा विचारों की स्वतन्त्रता है। विचारान्तर्गत काल के बाद असैद्धान्तिक साहित्य का अधिकांश भाग सिंहल में लिखा गया किन्तु सिद्धान्त-ग्रन्थों के युग के तुरन्त पश्चात् कुछ विशेष असैद्धान्तिक ग्रन्थों की रचना हुई, जो विशेषतः उल्लेखनीय हैं।

असैद्धान्तिक ग्रन्थों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ मिलिन्दपञ्ह (मिलिन्द-प्रश्न) है। यहाँ उल्लिखित मिलिन्द यवनराज मेनाण्डर के अतिरिक्त कोई अन्य नहीं है जिसने द्वितीय शताब्दी ई० पू० में पंजाब में शाकल पर शासन किया था। इस ग्रंथ की रचना भारतवर्ष में यवनों के वैभवशाली शासन की स्मृति में प्रथम शताब्दी ई० में इसकी समाप्ति के पूर्व ही हुई होगी। यद्यपि इस ग्रन्थ में वर्णित विषय लगभग सैद्धान्तिक ग्रन्थ का ही है किन्तु शैली में इसमें पिटकों की शैली से एक निश्चित प्रगति अवश्य झलकती है। इसमें स्पष्ट तथा प्रफुल्ल संवाद हैं जिनकी तुलना अफलातून तथा सुकरात के संवादों से अच्छी तरह की जा सकती है। यह ग्रन्थ मिलिन्द तथा बौद्ध श्रमण नागसेन के बीच वार्तालाप के रूप में लिखा गया है। इसमें प्रमुखरूप में बौद्ध सिद्धान्तों का वर्णन है कि शाश्वत् अहं का कोई अस्तित्व नहीं किन्तु भौतिक तथा अभौतिक पदार्थों में अविकल परिवर्तन ही सत्य है। इस ग्रंथ में पुनर्जन्म तथा कर्म के सिद्धान्त, जिसके अनुसार मनुष्य अपने पूर्वजन्म में किये गये कर्मों का ही फल भोगता है, का भी वर्णन है। इन सिद्धान्तों की व्याख्या के लिए बहुत से दृष्टान्त दिये गये हैं। मिलिन्दपञ्ह साहित्यिक कृति के रूप में प्राचीन भारतीय गद्य की अत्युत्तम रचना है।

---

१. जे० आर० ए० एस०, १९२३ पृ० २५०।

असैद्धान्तिक साहित्य का अधिकांश भाग प्राचीन पाली ग्रन्थों पर टीकायें ही हैं। थेरवादियों का स्थान भारतवर्ष में छोटे-छोटे बौद्ध सम्प्रदाय ग्रहण करने लगे तथा सिंहल थेरवादियों का केन्द्र बन गया। भारतवर्ष में सर्वास्तिवादी तथा महासांघिक धीरे-धीरे अपने साहित्य की अभिवृद्धि पहले तो सुन्दर पाली में किन्तु बाद में मिश्रित संस्कृत में कर रहे थे। इन सम्प्रदायों की धार्मिक क्रियायें बौद्धधर्म के त्रिरत्न (बुद्ध, धर्म और संघ) तक विस्तृत थीं। वर्धमान साहित्य का अन्तिम स्वरूप कनिष्क के पूर्व ही निर्धारित हो चुका था तथा इसने महायान बौद्धधर्म के जन्म के लिए भूमिका तैयार कर दी थी।

(७) **जैन साहित्य** : प्रथम शताब्दी ई० पू० में प्रचलित जैन साहित्य का स्वरूप बतलाना अत्यन्त कठिन है क्योंकि प्राचीन जैन साहित्य मौखिक परम्परा से ही चला आ रहा था तथा जैनों के धार्मिक ग्रंथों का संकलन और उनका विधीकरण जैन-परम्परा के अनुसार पाँचवीं-छठवी शताब्दी में हुआ। इस परिस्थिति में किसी विशेष ग्रंथ की तिथि प्रथम शताब्दी ई० पू० में बतलाना लगभग असंभव है। किन्तु ऐसा लगता है कि श्वेताम्बर सम्प्रदाय के लोगों ने ई० पू० तृतीय या द्वितीय शतक तक प्राचीन जैन ग्रंथों का संकलन आरम्भ कर दिया था, यद्यपि दिगम्बर सम्प्रदाय के लोग इन्हें प्रामाणिक नहीं मानते थे। उनका विश्वास था कि सभी पुव्वा (प्राचीन ग्रन्थ) तृतीय शताब्दी ई० पू० में नष्ट हो गये थे जब कि दीर्घ अकाल के कारण जैनियों को उत्तरी भारत से दक्षिणी भारत भागना पड़ा था। यह कहना कठिन होगा कि कितने जैनग्रंथों को जैन साधुओं ने स्मरण कर रखा था और कितने ग्रन्थों को प्रथम शताब्दी ई० पू० में श्वेताम्बरों ने लिपिबद्ध करने में सफलता पाई थी। तथापि जैन परम्परा के अनुसार कुछ सिद्धान्त ग्रन्थ तथा उनमें कुछ पर अज्ज साम, कालकाचार्य, वीरभद्र जैसे लोगों ने, जो प्रथम शताब्दी ई० पू० में उत्पन्न हुए थे, टीकायें लिखीं। जैन प्रबन्ध-ग्रन्थ सिद्धसेन दिवाकर को विक्रमादित्य का समकालीन बताते हैं जिन्हें अनेक ग्रंथों का रचयिता कहा जाता है। वे एक प्रसिद्ध नैयायिक और गीतिकाव्य के कवि थे। कुण्डकुण्ड के गुरु जिन्होंने प्राकृत में विद्वत्तापूर्ण ग्रंथ लिखे हैं, प्रथम शताब्दी ई० पू० में हुए तथा उनकी मृत्यु १२ ई० पू० में हुई। विमलसूरि नामक एक प्राकृत कवि ने लगभग उसी काल में अपना रामकाव्य 'पौमचरिय' लिखा।

बौद्धों की तरह प्रारम्भिक जैन लेखकों ने भी आर्ष (ऋषियों की भाषा) छोड़कर अर्धमागधी नाम से अभिहित प्राकृत में अपने ग्रन्थ लिखे। पश्चात्-

कालीन लेखकों ने मिश्रित अथवा शुद्ध संस्कृत में लिखना अधिक पसन्द किया, यद्यपि प्राकृत अभिव्यक्ति के एक माध्यम के रूप में चलती रही। जहाँ तक जैन ग्रंथों में कलात्मकता का प्रश्न है, विण्टरनित्स ने यह मत प्रकट किया है कि 'बहुत ही कम अपवादों के साथ जैनों के धार्मिक ग्रंथ धूल से शुष्क वस्तुवादी स्वर में लिखे गये हैं तथा जितने ज्ञात हैं उनमें साधारण मानव की अभिरुचि नहीं होती। अतः विशेषज्ञ के लिए महत्त्वपूर्ण होते हुए भी वे साधारण पाठक की अभिरुचि का दावा नहीं कर सकते। जैनों की संन्यास-मार्गीय प्रवृत्ति प्रारम्भिक साहित्य में सौन्दर्यमूलक शून्यता के लिये उत्तरदायी है। किन्तु कुछ ग्रन्थों में विशेषतः प्राकृत तथा संस्कृत काव्यों में जब उन्हें भावात्मक रूप से जागरूक कर दिया गया उस समय उनकी कला का स्तर बहुत ऊँचा हो गया।'

द्वादश अध्याय

वास्तु और कला

१. प्रास्ताविक

विक्रमादित्य का युग कलात्मक कृतियों के लिए उतना ही धनी था जितना साहित्यिक कृतियों के लिए। तत्कालीन साहित्यिक ग्रन्थों में बहुधा विभिन्न प्रकार की कलाओं का उल्लेख हुआ है। ललित-कलाओं को 'ललित विज्ञान' भी कहते थे। कालिदासकृत रघुवंश में अज अपनी इन्दुमती के निधन पर विलाप करते हुए कहते हैं : 'वह ललित-कला-विधि में उनकी प्रिय शिष्या थी।'[१] अग्निमित्र मालविका की प्रशंसा करते हुए कहते हैं : उस 'निसर्गसुन्दरी को (मालविका को) ललित विज्ञान प्रदान करके विधाता ने काम के लिए विषदिग्ध बाण की रचना कर दी।'[२] आगामी पृष्ठों में ललितकलाओं की विभिन्न शाखाओं पर संक्षेप में विचार किया जायेगा।

२. वास्तु

अमरसिंह ने अपने पुरवर्ग में नगर के निम्नलिखित नाम दिये हैं।[३]— (१) पुर (२) पुरी (३) नगरी (४) पत्तन (५) पुटभेदन (६) स्थानीय तथा (७) निगम।

विषय (जिला) की राजधानी या राजधानी का समीपवर्ती नगर शाखानगर के नाम से भी अभिहित किया जाता था।[४] नगर एक प्राचीर से घिरा रहता था जिसे प्राकार, वरण या साल कहते थे।[५] नगर की छोटी-छोटी गलियों को रथ्या, प्रतोली तथा विशिखा कहते थे।[६] हाटों को आपण अथवा निषद्या नाम से पुकारते थे।[७] नगर में दूकानों की श्रेणियाँ (विपणि या पण्यवीथिका) भी बनायी जाती थीं।[८] प्रत्येक नगर में अनेक घर रहते थे

---

१. ८, ६७। २. मालविकाग्निमित्र। ३. अमरकोष २, पृ० २–१।
४. वही, २, २, २। ५. वही २, २३। ६. वही।
७. वही २, २, २। ८. वही।

जिनके विभिन्न अभिधान थे—(१) गृह, (२) गेह, (३) उद्वसित, (४) वेश्म, (५) सद्मन्, (६) निकेतन, (७) निशान्त, (८) पस्त्य, (९) सदन, (१०) भवन, (११) आगार, (१२) मंदिर, (१३) निकाय्य (१४) निलय और (१५) आलय। सभी का तात्पर्य वासस्थान है।[१] गृह के अन्तरंग भाग को गर्भागार[२] कहा जाता था। घरों में खिड़कियाँ (गवाक्ष)[३] होती थीं। वेश्यागृह की वेश या वेश्याजन संज्ञा थी। नगर विशेपकर राजधानी में सभागृह (शाला, सभा, वास अथवा कुटी)[४] हुआ करता था। कलाकारों तथा शिल्पकारों के पृथक् आवास (आवेशन अथवा शिल्पिशाला) होते थे।[५] धनी पुरुषों के घरों को हर्म्य[६] कहा जाता था तथा राजाओं के घरों के लिए सौध, राजसदन या प्रासाद[७] संज्ञायें थीं। राजभवनों का निर्माण विभिन्न शैलियों में होता था जो निम्नलिखित नामों से प्रसिद्ध थीं—(१) स्वस्तिक (२) सर्वतोभद्र (३) नद्यावर्त और (४) विच्छन्दक।[८] स्त्रियों के वासस्थान (१) स्त्र्यगार, (२) अन्तःपुर, (३) अवरोधन, (४) शुद्धान्त, और (५) अवरोध कहलाते थे।[९] धार्मिक मन्दिरों का निर्माण भी बहुत भव्य रूप में किया जाता था। उन्हें चैत्य (जैन तथा बौद्ध मन्दिर) आयतन[१०] (ब्राह्मणमन्दिर,) प्रतिमागृह तथा प्रशस्तायतन[११] कहते थे। उच्च घरानों के गृहों में मंजिलें भी होती थीं जो अट्ट तथा क्षौम[१२] कहलाती थीं। हमें सैकड़ों तल्प (कँगूरे), अट्ट (छत) और शाल (प्राचीर) के उल्लेख उपलब्ध होते हैं।[१३] धनी घरों में कृत्रिम झीलें (गृहदीर्घिका) और निर्झर (यन्त्रप्रवाह या वारियन्त्र)[१४] भी होते थे। कलात्मक नाट्य और संगीतशालाओं का भी निर्माण होता था।[१५] घरों को बगीचों से अलंकृत किया जाता था जिन्हें गृहाराम, उपवन, आक्रीड तथा उद्यान आदि विभिन्न नामों से पुकारते थे।[१६]

नगरों के अतिरिक्त गाँवों की बस्तियाँ दूसरे क्षेत्रों में होती थीं जिन्हें ग्राम

---

१. वही, २, २, ४–५। २. वही, २-२। ३. वही, २-२-९।
४. वही, २-२-६। ५. वही, २ २-७। ६. वही, २-२-९।
७. वही। ८. वही २, २, १०–११। ९. वही, २-२-११।
१०. वही, २-२ ९। ११. रघुवंश १४-३९; १६, ३९।
१२. अमरकोष २-२-१२। १३. १३. रघुवंश १४, २९।
१४. वही, ६, ४९। १५. मालविकाग्निमित्र १–२१।
१६. अमरकोष २-४, १४।

अथवा संवसथ[1] कहते थे। गाँवों की सीमा को ग्रामान्त अथवा उपशल्य कहा जाता था।[2] गाँवों से थोड़ी ही दूर हटकर अहीरों (घोष अथवा आभीरपल्ली) की बस्तियाँ होती थीं।[3] साधुओं और भिक्षुओं की झोपड़ियाँ (पर्णशाला अथवा उटज) वनों में होतीं थीं।[4] असभ्य जातियों की बस्तियाँ[5] (पक्कण अथवा शबरालय) पहाड़ी तथा वनीय क्षेत्रों में ग्रामों और नगरों से दूर हुआ करती थीं।

तथापि उल्लिखित विभिन्न वास्तुप्रकार विध्वंसक काल तथा बर्बरता के कारण नहीं बच सके। ब्राह्मणवादी हिन्दू न केवल लौकिक भवनों को अपितु पवित्र स्थान तथा धार्मिक बस्तियों को भी घने शहरों में बनाते थे जिन पर यवन, शक, हूण तथा तुषार आदि विदेशियों का अनेक बार आक्रमण हुआ। फलतः उन्हें नष्ट हो जाना पड़ा। आजकल केवल प्राचीन स्थानों तथा नगरों के भग्नावशेष और टीले ही भव्य वास्तुकला का, जो कभी अस्तित्व में थी, स्मरण दिलाते हैं। विदेशी आक्रमणकारियों और अज्ञानी तथा लोभी लुटेरों के विध्वंस-कार्यों से बचनेवाले स्थापत्य निदर्शनों में बौद्ध तथा जैन तीर्थ और पवित्र स्थान ही हैं क्योंकि अधिकांशतः उनका निर्माण नगरों से दूर होता था, जहाँ आक्रमणकारी जाने की परवाह नहीं करते थे।

बौद्धों के वास्तु-स्मारकों में, जिनके अवशेष अब भी पाये जाते हैं, स्तूप, उनकी वेदिकायें, द्वार (तोरण), विहार तथा चैत्य हैं। इन सब प्रकार के स्मारकों के उदाहरण भरहुत, साँची तथा अमरावती में पाये जाते हैं, जिनकी तिथि शुङ्गों के युग से लेकर प्रथम शताब्दी ई० तक है। स्तूपों की बनावट ठोस अण्डाकार होती है तथा वे ईंटों और पत्थरों से बने होते हैं। स्तूपों के निर्माण का उद्देश्य बुद्ध अथवा किसी अन्य बौद्ध सन्त के अवशेषों पर समाधि बनाना या किसी स्थान से सम्बन्धित और बौद्ध या जैन-गाथाओं में पवित्र समझी जानेवाली घटना को स्मरणीय बनाना था। प्राचीन स्तूपों की बनावट बहुत ही साधारण तथा सरल थी। इसमें एक अण्डाकार टीला होता था। वह प्रस्तरवेदिका से, जिससे एक प्रदक्षिण पथ अलग हो जाता था, घिरा रहता था। वन्य पशुओं से रक्षा के लिये प्राचीन ग्रामों में बने हुए स्तम्भों और बाड़ों का वेदिका में अनुकरण किया गया था। कालक्रमानुसार स्तूप की

---

१. अमरकोश २-२२०। २. वही। ३. वही।
४. वही २-२-७। ५. वही, २-२-२०।

बनावट भव्य, जटिल और अलंकृत हो गयी। अण्डाकार स्तूप के मध्य को कलात्मक रीति से प्रस्तर-खण्डों (कभी-कभी हस्तकौशल से युक्त) से ढक दिया जाता था तथा उसके ऊपर हर्मिका (पवित्र धातुओं के लिए छोटा भवन), छत्र तथा चक्र (बौद्ध धर्म के प्रतीक) के साथ लगा दी जाती थी। वेदिका को बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित दृश्यों का प्रदर्शन करनेवाली मूर्त्तियों से अलंकृत किया जाता था। स्तूपों के तोरण अब द्वार मात्र नहीं थे। उनका भी बड़ा ही शानदार विकास हुआ। उनको भी विभिन्न सुन्दर-सुन्दर मूर्त्तियों से सजाया जाता था, जिनमें बुद्ध के जीवन तथा बौद्ध प्रतीकों का अंकन होता था। बौद्ध विहार और चैत्य साधारण तौर पर भाजा, कोण्डान, पीतलखोरा, अजन्ता, वेदसा, नासिक, कार्ली तथा जुन्नर आदि में पाये जाते हैं। इस युग के जैन तीर्थस्थान तथा विहार उड़ीसा में भुवनेश्वर के निकट उदयगिरि एवं खण्डगिरि में मिलते हैं। इन गुफाओं की वास्तुकला पर्वतों के प्राकृतिक और आदिम गुहावासों से विकसित हुई। किन्तु प्रथम शताब्दी ई० पू० के लगभग ही वे विकास के इतने उन्नत सोपान पर पहुँच गये कि आज के अधिकांश स्थपतियों तथा कला-समालोचकों में आश्चर्य और प्रशंसा के भाव जगा देते हैं[1]।

३. मूर्तिकला

विक्रमादित्य के युग में मूर्त्तिकला का पर्याप्त प्रचलन था। मूर्त्तियों को विभिन्न नामों से पुकारा जाता था। अमरसिंह[2] उनको (१) प्रतिच्छाया (२) प्रतिमान (३) प्रतिबिम्ब (४) प्रतियातना (५) प्रतिकृति (६) प्रतिमा (७) अर्चा तथा (८) प्रतिनिधि नामों से पुकारते हैं। कालिदास भी मूर्त्ति को प्रतिकृति[3] अथवा प्रतिमा[4] कहते हैं : 'राम ने सीता के त्याग के पश्चात् दूसरा विवाह नहीं किया तथा उन्होंने उन्हीं की प्रतिमा के साथ बैठकर यज्ञ किया।'[5] राम के द्वारा किये गये अश्वमेध यज्ञ के अवसर पर सीता की सुवर्ण-प्रतिमा (जाया हिरण्मयी) का निर्माण कराया गया था।[6] स्तम्भों को स्त्रियों की मूर्त्तियों से अलंकृत किया जाता जा।[7] मन्दिरों (प्रतिमागृह और

---

१. देखिए वी० ए० स्मिथ, ए हिस्ट्री आफ फाइन आर्ट्स इन इण्डिया एण्ड सीलोन, पृ० १६ और आगे; ए फुशे : बुद्धिस्ट आर्ट; फरगुसन : हिस्ट्री आफ इण्डियन एण्ड ईस्टर्न आर्किटेक्चर, भाग १।

२. अमरकोश २-१०-३६।   ३. रघु० १४, ८७।   ४. वही १६, ३९।

५. वही १४, ८७।   ६. वही १५, ६९।   ७. वही १६, १७।

देवतायतन) के बहुसंख्यक उल्लेखों से सरलतापूर्वक यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि देवताओं की प्रतिमा का निर्माण और स्थापन पूजार्थ होता था। कालिदास उज्जयिनी के महाकाल-मन्दिर में शिव-पूजा का उल्लेख करते हैं।[1] किन्तु वे यह स्पष्ट नहीं करते कि शिव की मूर्ति या प्रतीक रूप में पूजा होती थी। कथासरित्सागर[2] के अनुसार शिव का प्रतिनिधित्व एक मूर्त्ति से होता था। जैन निबन्ध इसे लिंग बताते हैं जो सिद्धसेन दिवाकर की ऐन्द्रजालिक शक्ति से भग्न कर दिया गया था। ऐसा जान पड़ता है कि शिव के प्रदर्शन के दोनों स्वरूप मूर्त्ति और प्रतीक प्रचलित थे। विष्णु की प्रतिमा भी बनाई जाती थी जैसा कि बेसनगर के गरुड़स्तम्भ से, जो शुङ्ग-काल में एक विष्णुमन्दिर के सम्मुख खड़ा किया गया था, स्पष्ट है।[3]

इस युग की मूर्तियों के निदर्शन भरहुत, साँची, भीटा, सारनाथ, मथुरा, नासिक, अजन्ता, गुडिमल्ल, उदयगिरि (उड़ीसा) आदि में पाये जाते हैं। उनमें जिन विषयों को अंकित किया गया है उनको निम्नलिखित भागों में विभाजित कर सकते हैं :

(१) बुद्ध के जीवन के दृश्य—जन्म, महाभिनिष्क्रमण, संबोधि, धर्मचक्र-प्रवर्तन तथा महापरिनिर्वाण आदि,

(२) जातककथाओं के दृश्य,

(३) यक्ष-यक्षियों की मूर्तियाँ

(४) पशु तथा पक्षियों की मूर्त्तियाँ,

(५) लता-बेलि का अलंकरण।

पारिभाषिक रूप से ये मूर्तियाँ सम्मुखाकृति हैं। वे परितः दर्शनीय नहीं हैं और कला के इस विशिष्ट क्षेत्र में प्रारम्भिक प्रयास की सीमाओं से बद्ध हैं। वे प्रस्तरों पर चित्रों सी जान पड़ती हैं। किन्तु इनकी सीमायें कितनी भी क्यों न हों, ये मूर्त्तिकला में प्राप्त दक्षता के मुखर प्रमाण हैं। प्रारम्भिक मूर्तिकला के निदर्शन मौर्य और शुङ्ग कालों की परम्परा का अनुसरण करते हैं। प्रकृति के वास्तविक स्वरूप के अनुकरण तथा अंकन के प्रभाव से प्रेरित हुए जान पड़ते हैं। किसी आदर्श भाव अथवा किसी अभौतिक पदार्थ को प्रतीक रूप में अंकित करने का प्रयास उनमें अब तक नहीं हुआ था। उनमें मानवीय जीवन के विभिन्न रूपों-नृत्य, क्रीड़ा, पान, परिधान तथा अलंकार आदि—का उनके वास्तविक

---

१. मेघदूत १, ३४। २. १८, २।

३. वी० ए० स्मिथ : ए हिस्ट्री ऑफ फाइन आर्ट्स इन इण्डिया एण्ड सीलोन।

रूप में अंकन है। इन मूर्तियों पर आलोचना करते हुए फर्गुसन लिखते हैं: कुछ पशु यथा हाथी, हिरण और बन्दरों—का अंकन विश्व के किसी भी भाग की ज्ञात मूर्ति से अच्छा हुआ है; इसी तरह कुछ वृक्ष भी, तथा शिल्पीय वस्तुयें इतनी सुन्दरता और यथार्थता के साथ काटी गयी हैं कि वे अत्यन्त प्रशंसनीय हैं। मनुष्यों की मूर्त्तियाँ भी, यद्यपि सौन्दर्य और शोभा के हमारे मानों से एक दम भिन्न हैं, प्रकृति के प्रति सच्ची हैं तथा उन्हें समूह में लाने पर एकान्त आनन्द का अनुभव होता है ।[1] मूर्त्तियों के परवर्ती निदर्शन परम्परागत सीमाओं से मुक्ति प्रदर्शित करते हैं। कलाकार काष्ठ की मूर्त्तियों से सफलतापूर्वक प्रस्तर-मूर्त्तियों की ओर बढ़ रहे थे। साँची के तोरण पर अंकित कुछ दृश्य उल्लेख करने योग्य हैं। एक दृश्य में कुशीनगर के मल्लों के विरुद्ध अन्य प्रतियोगियों द्वारा, जिनको उन्होंने भगवान् बुद्ध के अवशेषांश देना इनकार कर दिया था, आरम्भ किये गये युद्ध का प्रदर्शन है। दृश्य के बाईं तरफ संरक्षित द्वार और निरीक्षण-मीनारों से युक्त प्राकार से घिरा हुआ राजप्रासादों वाला शालीन कुशीनगर दिखाई पड़ता है। राजकुमार, सैनिक, हाथी, घोड़े, रथ, युद्ध के बाजे इत्यादि द्वार की ओर अग्रसर हो रहे हैं। कलाकार ने भीड़ अथवा सेना को पहले साहसी तथा उत्साहपूर्ण और पीछे मध्यस्थता के कारण शान्त अंकित करने की तकनीक पर पूर्ण अधिकार प्रदर्शित किया है। दूसरा मार(कामदेव)विजय का दृश्य है। इसमें गौतम गया में बोधिवृक्ष के नीचे दृढ़तापूर्वक आसीन दिखाये गये हैं। मार की पराजित सेना बड़ी संकटपूर्ण दशा में है तथा देवता व अन्य प्राणी प्रसन्नता प्रकट कर रहे हैं और बुद्ध को नमस्कार कर रहे हैं। इस दृश्य में शान्ति तथा आतंक का अद्भुत सम्मिश्रण है। इस भाँति अन्य दृश्य भी जीवन्त तथा आश्चर्यव्यञ्जक हैं।

४. चित्रकला

मूर्त्तिकला से सम्बन्धित किन्तु अधिक सूक्ष्म माध्यम का प्रयोग करनेवाली कला चित्रकला का भी इस युग में विकास हुआ था। चित्रकला में व्यवहृत पदार्थों के नाशवान् होने के कारण अजन्ता की गुफाओं के कुछ नमूनों को छोड़कर कोई अन्य नमूना नहीं बच सका। किन्तु साहित्यिक ग्रंथों में चित्रकला-सम्बन्धी उल्लेखों की भरमार है। अभिज्ञानशाकुन्तल में हमें ऐसे वाक्य उपलब्ध होते हैं जिनमें श्रोताओं पर संगीत का प्रभाव वर्णित है: 'आर्ये ! सुन्दर गाया गया। रंगशाला के सभी दर्शकों के मस्तिष्क पर संगीत

१. हिस्ट्री ऑफ इण्डियन एण्ड ईस्टर्न आर्कीटेक्चर, पृ० ३६ ।

का ऐसा प्रभाव पड़ा है कि वे चित्रलिखे से हो गये हैं।'[1] दूसरा उल्लेख इस प्रकार है : 'राजा ने आठ वर्ष तक बड़ी कठिनाई से जीवन बिताया, कभी-कभी अपनी प्रियतमा की सादृश्य-प्रतिकृति को देखते रहते थे और अन्य अवसरों पर स्वप्न में उसके साहचर्य का सुख लेते थे।'[2] चित्रित हाथियों (चित्रद्वीपाः[3]) तथा चित्रसारियों[4] का भी उल्लेख हुआ है। मालविकाग्निमित्र में कालिदास चित्रशाला का उल्लेख करते हैं।[5] इसके विकास में नाटक की नायिका की प्रतिकृति ने पर्याप्त योग दिया है। अग्निमित्र अपनी प्रियतमा के चित्र की समालोचना करता हुआ कहता है कि 'मस्तिष्क उसके सौन्दर्य के वास्तविक चित्रांकन में कमी का अनुभव कर रहा था किन्तु अब मैं सोचता हूँ कि जिसने उसको चित्रित किया वह पूर्णरूप से ध्यानावस्थित नहीं था।[6] कथासरित्सागर में विक्रमादित्य के आश्रय का वर्णन करते हुए कहा गया है : 'तब इस राजा के पास, जैसा कि हम कह आये हैं, एक नगरस्वामिन् नामक चित्रकार था जो कुशलता में विश्वकर्मा का भी अतिक्रमण कर गया था। वह एक लड़की के चित्रांकन में दो या तीन दिन लगाया करता था और इस प्रकार सौन्दर्य के अनेकानेक निदर्शन तैयार करके राजा को भेंट करता था।'[7] उसी ग्रंथ में और भी कहा गया है : 'यदि राजा को यह सब का सब ठीक-ठीक स्मरण है तो वह चित्रपट पर पूरे नगर को उत्खचित कर दे ताकि इसमें कुछ उपकरण ढूँढ़े जा सकें।[8] भरहुत और साँची की मूर्त्तियाँ, जो चित्रों से अद्भुत साम्य रखती हैं, प्रथम शताब्दी ई० पू० में चित्र-कला के अस्तित्व की ओर संकेत करती है।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, इस युग के चित्र केवल अजन्ता की गुफाओं में ही प्राप्त होते हैं। गुहा सं० ९ तथा १० के चित्रों का, विषय के चुनाव, प्रभावशाली रूप और अंकन-शैली में, साँची की मूर्त्तियों से निकट साम्य है। इनमें गति, शक्ति तथा गाम्भीर्य आदि विशेषतायें लक्षित होती हैं। चित्रकार विभिन्न प्रकार के भाव उत्पन्न करने के लिए विभिन्न प्रकार के

---

१. आर्ये ! साधु गीतम्। अहो रागनिविष्टचित्तवृत्तिरालिखित इव सर्वतोरङ्गः। १, ४ और आगे।

२. रघु० ८, ९२।   ३. वही १४, १६।   ४. वही १४, २५।

५. अंग १।   ६. मालविका० २, २ और आगे।

७. १८, २।   ८. वही १८, २।

रंगों को मिलाने की कला से परिचित हैं। अजन्ता में रँगे हुए चित्र बड़े जीवन्त और व्यंजक हैं।

५. संगीत

अमरकोश में संगीत के शास्त्रीय स्वरूप के बारे में बहुत संक्षिप्त वर्णन मिलता है।[1] इसमें सात स्वर गिनाये गये हैं—(१) निषाद, (२) ऋषभ, (३) गान्धार, (४) षड्ज, (५) मध्यम, (६) धैवत, (७) पंचम।[2] जैसा कि नाट्यशास्त्र में इसकी व्याख्या की गयी है, इस प्रकार का विभाजन मानवशरीर के स्वर-तन्तुओं के विभिन्न भाग से ध्वनि उत्पन्न करने के सिद्धान्त पर आधारित है। स्वर अपने माधुर्य, गहराई तथा ऊँचाई के अनुसार कल (मधुर), मंद्र (गहरा) तथा तार (ऊँचा)[3] कहलाते हैं। अमरकोश[4] में उल्लिखित बाजों को चार भागों में विभाजित किया गया है :

(१) तत (तार से युक्त) जिसे वीणा, वल्लकी, विपञ्ची अथवा परिवादिनी कहते हैं।

(२) आनद्ध (वे बाजे जिनमें ठोकने से ध्वनि होती है), यथा मृदंग अथवा मुरज (एक प्रकार का तबला)।[5]

(३) सुषिर (वे बाजे जिनमें फूंकने पर ध्वनि निकलती है), यथा वंश (वंशी)।[6]

(४) घन (वे बाजे जिनको पीटने से ध्वनि निकलती है), यथा कांसे जैसी धातुओं से बने हुए बाजे।

कुछ अन्य बाजों का पृथक् उल्लेख भी हुआ है :

(१) यशःपटल अथवा ढक्का (एक बड़ा नगाड़ा)

(२) भेरी अथवा दुन्दुभि

(३) आनक अथवा पटह (विशाल मारू)

(४) डमरू

(५) मड्डु

(६) डिंडिम (एक छोटे प्रकार का ढोल)

(७) झर्झर (झाँझ)

---

१. १, ७। २. अमरकोश १, ७, १,।

३. वही १, ७। ४. १, ७, ३-४।

५. रघुवंश (१९, १४) में इसे पुष्कर भी कहा गया है।

६. कालिदास इसे वेणु कहते है (रघु० १९, ३५)।

कालिदास के ग्रंथों में हमें अन्य वाजों के नाम भी मिलते हैं यथा : तूर्य,[1] शंख[2], घण्टा[3] तथा जलज[4] इत्यादि।

संगीत की कला सिखाने के लिए उच्च तथा धनी परिवारों में संगीत-शालायें भी होती थीं।[5] संगीत को मांगलिक समझा जाता था तथा जन्म-विवाहादि सभी उत्सव के अवसरों पर संगीत की बड़ी धूम रहती थी। गीत ऋतुओं और समयों के अनुसार गाये जाते थे।[6] उच्चकुलों[7] में संगीत को वैयक्तिक उपलब्धि समझते थे तथा यह राजसभासदों और व्यावसायिक संगीतज्ञों का व्यवसाय भी हो गया था।[8]

६. नृत्य

नृत्यकला संगीत से सम्बन्धित है और अमरकोश[9] में इसका भी उल्लेख है। तीन प्रकार के नृत्यों का कथन मिलता है[10] :

(१) तत्त्व अथवा विलम्बित (धीरे-धीरे नृत्य)
(२) ओघ अथवा द्रुत (तीव्र गति में नृत्य)
(३) घन अथवा मध्य (मध्यम गति से नृत्य)

नृत्य में समय की माप को 'ताल' तथा गीत-वाद्य और अङ्ग-विन्यास के समन्वय को 'लय' कहते हैं[11]। नृत्य को निम्नलिखित विभिन्न नामों से पुकारते थे जिनका अलग-अलग महत्त्व था[12] :

(१) ताण्डव
(२) नटन
(३) नाट्य
(४) लास्य
(५) नृत्य
(६) नर्तन।

कालिदास [13]नृत्य के बड़े शौकीन मालूम पड़ते हैं। उन्होंने अपने नाटकों और महाकाव्यों में नृत्य के अनेकानेक दृश्य उपस्थित किये हैं। मालविकाग्निमित्र में उन्होंने एक सम्पूर्ण दृश्य नृत्य तथा संगीत में लगा दिया है। उसमें परिव्राजिका मालविका के नृत्य की प्रशंसा करती हुई कहती है, 'उसके अङ्गन्यास से, जिसमें शब्द भी भरा हुआ है (अर्थात् जो अभिव्यक्ति में मुखर हो उठते थे),

---

१. रघुवंश ३, १९।
२. वही ४, ९।
३. वही ७, ४१।
४. वही ७, ६३।
५. मालविकाग्निमित्र १-४
६. शाकुन्तल १, १४—ऋतुमधिकृत्य गास्यामि।
७. रघु० १९।
८. ३, १९।
९. १, ७, २।
१०. वही।
११. वही।
१२. वही।
१३. अंक २।

अर्थ व्यक्त हो जाता है। उसका पादन्यास लय का अनुसरण करता है तथा भावों में पूर्ण तन्मयता है। शाखाओं की भाँति हाथों का अभिनय मृदु प्रतीत हो रहा है तथा अभिनय में एक भाव दूसरे को स्थानान्तरित कर देता है : फिर भी वह ग्राही अभिरुचि बनी रहती है।'[1] उसी नाटक में हमें चार प्रकार के नृत्यों का उल्लेख प्राप्त होता है। (१) छलित (चार अंगों के गीत पर आधारित) (२) खुरक (३) अभिनय तथा (४) शमिष्ट (शान्त)।[2] संगीत की ही भाँति नृत्य भी संगीतशाला में कुशल कलाकारों द्वारा सीखा जाता था[3]। उच्च कुलों में व्यावसायिक शिक्षक रखे जाते थे। कभी-कभी परिव्राजिकायें भी संगीत और नृत्य सिखाने का काम करती थीं।[4]

नृत्य एक सम्मानित कला समझा जाता था तथा इसका व्यवहार शिक्षित तथा सुसंस्कृत लोगों में भी होता था। व्यावसायिक नर्तकियाँ भी हुआ करती थीं जिन्हें 'नर्तकी' अथवा 'लासिका' कहा जाता था।[5]

७. रंगशाला

भास, सौमिल्लक, कविपुत्र तथा कालिदास के द्वारा लिखित अनेक नाटकों का अस्तित्व इस बात का स्पष्ट संकेत करता है कि विक्रमादित्य के युग में नाटक खेलने की कला प्रचलित थी तथा ये नाटक पाठ्य अथवा श्रव्य साहित्यिक कृतियाँ नहीं थीं, अपितु जैसा कि कालिदास ने अपने 'मालविकाग्निमित्रम्' की भूमिका में कहा है कि विक्रमादित्य के युग में ये नाटक खेले जाते थे।[6] नाटक खेलने को प्रयोग अथवा उपस्थान कहते थे।[7] स्वयं कालिदास के सभी नाटक खेले गये थे।[8] साधारण तौर पर ऋतु-सम्बन्धी त्योहारों के उत्सव में[9] अथवा विद्वान् दर्शकों का मनोरञ्जन करने के लिए, जिससे सुसंस्कृत आलोचकों का

---

१. अङ्गैरन्तर्निहितवचनैः सूचितः सम्यगर्थः पादन्यासो लयमनुगतस्तन्मयत्वं रसेषु। शाखायोनिर्मृदुरभिनयस्तद्विकल्पानुवृत्तौ भावो भावं नुदति विषयाद्रागबन्धः स एव॥ २, ८।

२. अंक १। ३. वही। ४. वही।

५. अमरकोष १, ७, ८-९। ६. अंक १

७. कालिदासग्रथितवस्तुनाऽभिज्ञानशाकुन्तलनामधेयेन नवेन नाटकेनोपस्थातव्यमस्माभिः। अभिज्ञानशाकुन्तल, १। कालिदासग्रथितवस्तु मालविकाग्निमित्रं नाम नाटकमस्मिन्वसन्तोत्सवे प्रयोक्तव्यमिति। मालविकाग्निमित्रम्, १। विक्रमोर्वशीयम्, १।

८. देखिये सं० २ की पाद टिप्पणी। ९. वसन्तोत्सवे-मालविका १।

अनुमोदन प्राप्त हो सके, ये नाटक खेले जाते थे।[1] सूत्रधार अभिज्ञानशाकुन्तल का परिचय देते हुए कहता है कि—'जब तक विद्वानों को सन्तोष न हो जाय, मैं नाटक के प्रयोग को सफल नहीं मानता हूँ, क्योंकि मन के कृतनिश्चय होने पर ही शिक्षित लोगों को अपने पर अविश्वास होता ही है।'[2]

क्योंकि अधिकांश नाटक शासकों की राजसभा में खेले गये थे अतः कुछ विद्वानों का मत है कि 'यह कला आवश्यक रूप से उच्च कुलों की ही थी। नाटक उस अर्थ में लोकप्रिय नहीं था जिस अर्थ में यूनानी नाटकों में यह गुण विद्यमान रहता है।' इसमें कोई सन्देह नहीं कि नाटक खेलनेवालों की कला में परिष्कृत रुचि, शास्त्रीय ज्ञान तथा आर्थिक सम्पन्नता की आवश्यकता होती है।[3] किन्तु इतना ध्यान रखना चाहिए कि आश्रयदाताओं की राजसभा में प्रथम बार नाटक का खेला जाना बाद में राजसभा से कम महत्त्वपूर्ण स्थानों में खेले जाने की सम्भावना को नष्ट नहीं करता। उस स्थान को, जहाँ नाटक खेला जाता था, प्रेक्षागृह[4], रंगमंच के प्रबन्धक को सूत्रधार तथा अभिनेताओं को पात्र[5] कहते थे। रंगशाला में नेपथ्य[6] भी होता था तथा नाटक के विभिन्न दृश्यों को विभाजित करने के लिए तिरस्करिणी[7] अथवा पट[8] भी रहते थे।

नाटक के सम्बन्ध में अमरकोश में विस्तृत विवरण प्राप्त होता है। इसके अनुसार नाटक के साथ सर्वदा गीत तथा वाद्य भी होता था।[9] नाटक खेलने में स्त्रियाँ भी भाग लेती थीं। किन्तु अभिनेताओं में अधिकांश पुरुष ही होते थे जो स्त्रियों के वस्त्र धारण करके स्त्री-चरित्रों का स्थान लिया करते थे। जो स्त्री-चरित्रों का भाग लेते थे वे भ्रकुंस या भ्रूकुंस कहलाते थे। नाटक में भाग लेने वाली गणिका को अज्जुका कहा जाता था, जिससे पता चलता है कि कुछ गणिकायें व्यावसायिक अभिनेत्रियाँ हुआ करती थीं। नाटक खेलने का प्रमुख हेतु विभिन्न स्थायी भावों—श्रृङ्गार, वीर, करुण, अद्भुत, हास्य, भयानक, बीभत्स और रौद्र तथा अन्य संचारी भावों—की अभिव्यक्ति थी।[10]

---

१. शाकुन्तल १।   २. वही।
३. ए० बी० कीथ : संस्कृत ड्रामा, पृ० २७६।
४. मालविकाग्निमित्र, १।   ५. शकुन्तला, १।   ६. मालविका २, १।
७. माविका० २।   ८. शकुन्तला।   ९. १, ७, १०।
१०. अमरकोश १, ७, १७।

८. साहित्यिक तथा कलात्मक कार्यों की पृष्ठभूमि

प्रथम शताब्दी ई० पू० में साहित्यिक और कलात्मक कार्यों के प्राचुर्य तथा उनमें जीवन तथा शक्ति का कारण यह था कि ५७ ई० पू० में विक्रमादित्य के द्वारा शकों के पराजय के पश्चात् अत्यन्त पश्चिमोत्तर सीमा को छोड़कर सम्पूर्ण देश ने लगभग एक सौ पैंतीस वर्ष तक (७८ ई० तक जब शकों ने पुनः आक्रमण किये) विदेशी शासन से मुक्त होकर स्वतन्त्रता का उपभोग किया। यह शान्ति तथा समृद्धि का युग था तथा इसमें आत्माभिव्यक्ति को अनुपम अवसर प्राप्त हुआ। इसी बात को भारतीय इतिहास ने कई बार दुहराया है। मौर्यों के काल में यूनानियों का पराजय, गुप्तकाल में शकों का पराजय तथा कुषाण-शक्ति के विलुप्त होने के पश्चात् भारतीय प्रतिभा ने साहित्य तथा कला के विभिन्न क्षेत्रों में नवीन प्रेरणा और प्राणवत्ता के साथ साहित्य और कला के विभिन्न क्षेत्रों में अपनी अभिव्यक्ति की। कुछ विद्वानों ने यह कह कर इस काल की कला की व्याख्या की है कि पंजाब में हिन्द-वाह्लीकों (इण्डोबैक्ट्रियन) के अस्तित्व ने साँची और भरहुत की वस्तुवादी मूर्तिकला को प्रभावित किया है। यदि इसे स्वीकार भी कर लिया जाय तो भारतीयों ने (अपनी भूमि से उन्मूलित और भारत में भी पतन की अवस्था को पहुँचे हुए) हिन्द-वाह्लीकों से अलंकरण के कुछ अभिप्राय (मोटिफ) ग्रहण किये। इस काल की कला की समस्त धारणा और अभिव्यक्ति भारतीय थी तथा इसकी वस्तुवादिता और शैली प्रथम शताब्दी ई० पू० में फैले हुए भौतिक आनन्द अथच बौद्धिक सन्तुलन की उपज थी।

त्रयोदश अध्याय

आर्थिक दशा

१. अवन्ती (पश्चिमी मालवा) की भौगोलिक स्थिति

अवन्ती का प्रदेश जो विक्रमादित्य के प्रत्यक्ष शासन के अन्तर्गत था, भारत के अत्युर्वर प्रदेशों में से था। इसने देश के विभिन्न भागों से लोगों को उपनिवेश, कृषि और उद्योग के लिए आकृष्ट किया। उत्तरापथ तथा दक्षिणापथ को जोड़ने वाला प्रधान मार्ग अवन्ती से होकर जाता था तथा व्यापार और व्यवसाय की उन्नति के लिए बड़ी सुविधायें प्रदान करता था। जलवायु भी कठिन तथा दीर्घ परिश्रम के अनुकूल था। भारतीय इतिहास में बहुत पहले ही अवन्ती भौगोलिक परिस्थितियों के कारण आर्थिक रूप से उन्नत थी। प्राचीन इक्ष्वाकुवंशियों (अयोध्या के सूर्यवंशी नरेशों) तथा यादवों के यहाँ समृद्धिशाली उपनिवेश थे। प्रद्योतों, मौर्यों और शुङ्गों के शासनकाल में अवन्ती भारत का एक धनी प्रदेश था।

२. प्रथम शक अभियान तथा उसके आर्थिक परिणाम

७० ई० पू० में होने वाले प्रथम शक अभियान ने देश के आर्थिक जीवन को पूरी तरह प्रभावित किया। बर्बर शक जिस प्रदेश से होकर गये उस प्रदेश को ध्वस्त करके ही छोड़ा। उन्होंने गाँवों को जला दिया, फसलों को नष्ट कर दिया, जनता का विनाश किया और सामान्य जन-जीवन को शक्तिहीन कर दिया।[1] वे केवल विनाशकारी थे। आर्थिक ढाँचे को संगठित करने की शक्ति उनमें नहीं थी। अवन्ती में आधिपत्य जमाने तथा बस जाने के पश्चात् भी उनका प्रयास केवल देश के आर्थिक साधनों की रक्षा और उन्नति किये बिना ही उसका शोषण तथा अपने कोश को भरना था। शकों की इस शोषक नीति की युगपुराण में निम्नलिखित शब्दों में निन्दा की गयी है : 'तब शकों के राजा होंगे जो अति शक्तिशाली किन्तु लोभी होंगे।'[2] शकों की आर्थिक नीति का परिणाम यह हुआ कि जनता दरिद्र और ऋणी हो गयी।

---

१. क्षयं यास्यन्ति युद्धेन यथेषामाश्रिता जनाः। युगपुराण १, ५२।

२. शकानां च ततो राजा ह्यर्थलुब्धो महाबलः। युगपुराण १, ५३।

३. विक्रमादित्य के द्वारा आर्थिक पुनरुद्धार

अनुश्रुतियाँ इस विषय में एकमत हैं कि शकों के निष्कासन के उपरान्त विक्रमादित्य ने जो प्रथम कार्य किया वह देश का आर्थिक पुनरुद्धार था। एक अनुश्रुति के अनुसार 'खड्ग के बल से उन्होंने पृथ्वी का सुख भोगा। उनकी वीरता की प्रशंसा किस तरह की जा सकती है ? उनमें युधिष्ठिर जैसी उदारता थी। उनकी शक्ति सर्वत्र स्थापित हो गयी थी। उन्होंने सम्पूर्ण पृथ्वी को दुःखों से मुक्त कर दिया था।'[1] एक दूसरी अनुश्रुति में यह कहा गया है 'इस प्रकार विचार करके महान् नरेश विक्रमादित्य ने प्रभूत दान से, जो असंख्य भिक्षुकों की इच्छाओं और प्रार्थनाओं की पूर्त्ति के लिए पर्याप्त था, सम्पूर्ण पृथ्वी का ऋण चुका दिया और ऐसा करके उन्होंने वर्धमान (जैन धर्म के संस्थापक) के युग में एक नया मोड़-बिन्दु प्रस्तुत किया।'[2] प्रभावकचरित की कालकाचार्य-कथा में भी विक्रमादित्य के दरिद्रता और ऋण से पृथ्वी को मुक्त करने का उल्लेख है। इन सभी अनुश्रुतियों से स्पष्ट है कि विक्रमादित्य अपनी प्रजा, जो शक आक्रमणों द्वारा लूट-खसोट ली गयी थी, के आर्थिक पुनरुद्धार के लिए कितने उत्सुक थे। उनके द्वारा कृत संवत् की स्थापना न केवल राजनीतिक वरन् आर्थिक दृष्टि से भी स्वर्णयुग की प्रतीक बन गई और देश ने विदेशी शासन तथा शोषण से मुक्त होकर शान्ति और समृद्धि का उपभोग किया, जो तत्कालीन साहित्य में प्रतिबिम्बित है।

४. विभिन्न प्रकार की भूमि

विक्रमादित्य के युग में आर्थिक जीवन का मुख्य आधार भूमि विभिन्न प्रकार से विभक्त थी। अमरकोश[3] में निम्नलिखित प्रकारों का उल्लेख है :

(१) उर्वरा

(२) ऊषर

(३) मरु अथवा धन्वन

(४) खिल अथवा अप्रहत

---

१. खड्गबलेन पृथ्वी भुक्ता। शौर्यं किं वर्ण्यते ? औदार्यं युधिष्ठिरस्येव। शकः सर्वत्र कृतः। सर्वा पृथिव्यनार्ता कृता। दैन्यदारिद्र्ययोर्देशान्तरं दत्तम्। विक्रमचरित, ३२ (संक्षिप्त पाठ, इजर्टन; विक्रम्स एडवेञ्चर्स, भाग २७ पृ० २२२।)

२. ......पृथ्वीमनृणां कृत्वा वर्धमानसंवत्सरपरावर्तमकरोत्। वही, १६ (जैन पाठ; इजर्टन-विक्रम्स एडवेञ्चर्स भाग २६, एल० आई० यू०)।

३. २, १, ३, १३।

(५) शाद्वल
(६) पंकिल
(७) अनूप अथवा जलप्राय (तराई प्रदेश)
(८) कच्छ (कछार)
(९) शार्कर (कंकड़ों और चूना के पत्थरों से भरी हुई भूमि)
(१०) सैकत (बालुकामयी भूमि)
(११) परिसर (पहाड़ के समीप की भूमि)
(१२) अटवी[१] (वन)

५. कृषि

प्रमुख प्रकार की भूमि (जो काफी रही होगी) जिसमें कृषि होती थी, उर्वरा थी। इसकी परिभाषा ऐसी भूमि कहकर दी जाती है जो सभी प्रकार के धान्यों के उत्पादन के योग्य होती है।[२] सिंचाई की सुविधा के आधार पर भूमि को दो भागों में बाँटा गया था—(१) नदीमातृका (नदियों से सिंचाई की जाने वाली भूमि, (२) देवमातृका[३] (जिसकी सिंचाई वर्षा से होती है)। प्रथम प्रकार की भूमि में कृत्रिम झीलें भी होती थीं जिनकी अवन्ती में अधिकता थी। सरकार कृत्रिम झीलों के निर्माण में सहायता देती थी क्योंकि लोगों की कृषि-सम्पत्ति उन्हीं पर निर्भर थी। कृषक को (१) क्षेत्राजीवी (खेतों पर अपना जीवन बितानेवाला) (२) कर्षक (जोतनेवाला) (३) कृषिक (जो कृषिकर्म करता है) (४) कृषीवल (जिसके पास खेत हों) कहा जाता था।[४] कृषियोग्य भूमि को (१) वप्र (२) केदार (३) क्षेत्र कहा जाता था। खेतों का विभाजन उनमें बोये हुए बीजों के आधार पर होता था :

(१) व्रैहेय (जिसमें धान की खेती होती है।[५])
(२) शालेय (वह खेत जिसमें धान बोया जाय।[६])
(३) यव्य, यवक्य षष्टिक्य (जिसमें यव बोया जाय[७]।)

---

१. वही २, ४, ११। २. उर्वरा सर्वसस्याढ्या। वही २, १, ३।
३. अमरकोश २, १, १२। ४. वही, २, ९, ६। ५. वही।
६. वही।
७. वही, २, ९, ७। षष्टिक्य एक प्रकार का यव होता था जो ६० दिन में पकता था। इससे पौधों तथा धान्यों की शीघ्र उत्पत्ति के ज्ञान और प्रक्रिया का पता चलता है।

(४) तिल्य और तैलीन (जिसमें तिल बोया जाय[१])।
(५) माष्य अथवा माषीण (जिसमें उरद बोई जाय[२])।
(६) उम्य या औमीन (वह खेत जितमें उमा अर्थात् अलसी बोई जाती है[३])।
(७) मौद्गीन (वह खेत जिसमें मूंग पैदा की जाती है[४])।
(८) कौद्रवीण (जिसमें कोदों पैदा किया जाता है[५])।
(९) गौधूमीन (जिसमें गेहूँ पैदा किया जाता है[६])।
(१०) चाणकीन (जिसमें चना उगाया जाता है[७])।
(११) शाकीन (जिसमें शाक उत्पन्न होता था[८])।

कृषि की वही पुरानी रूढ़िगत प्रक्रिया प्रचलित थी। जोती हुई भूमि को सीत्य, कृष्ट अथवा हल्य कहते थे। ये सभी शब्द जोतने की प्रक्रिया की ओर संकेत करते हैं।[९] खेतों को एक बार, दो बार जोता जाता था।[१०] इससे कृषि-योग्य भूमि की अत्यधिक उर्वरता का पता चलता है। हल को (१) लांगल, (२) हल, (३) गोदारण, और (४) सीर कहा जाता था[११]। हल के फाल को फल अथवा फाल कहते थे[१२]। हल से बनी हुई लकीर की 'सीता' और 'लाङ्गलपद्धति' संज्ञा थी[१३]। स्पष्टतः हल बैलों से खींचा जाता था जिनकी नियंत्रण डण्डे (प्राजन, तोदन अथवा तोत्र) से किया जाता था[१४]। निम्नलिखित धान्यों का उल्लेख मिलता है जिनकी खेती होती थी[१५] :

(१) आशु, व्रीहि अथवा पाटल (धान)
(२) यव अथवा शितशूक (जौ)
(३) तोक्म (हरा जव)
(४) कलाय, सतीनिक, हरेणु अथवा खण्डिक (मटर)
(५) कोरदूप अथवा कोद्रव (कोदों)
(६) मंगल्यक अथवा मसूर
(७) मुद्ग (मूंग)

---

१. वही। २. वही। ३. वही।
४. वही २, ९; ८। ५. वही। ६. वही।
७. वही। ८. यह अमरकोश के सभी संस्करण में नहीं पाया जाता।
९. अमरकोश २, ९, ८। १०. वही २, ९, ८-९।
११. वही २, ९, १४। १२. २, १३। १३. वही २, ९, १५।
१४. वही २, ९, १२। १५. वही २, ९, १५-२०।

(८) सर्षप, तन्तुभ अथवा कटुस्नेह (सरसों)
(९) सिद्धार्थ (सफेद सरसों)
(१०) गोधूम अथवा सुमन (गेहूँ)
(११) यावक अथवा कुलमाष (कुलथी)
(१२) चणक अथवा हरिमन्थक (चना)
(१३) तिल
(१४) क्षव, राजिका, क्षुताभिजनन, कृष्णिका अथवा आसुरी (बहुत छोटी सरसों के बीज जिन्हें राई कहते हैं)
(१५) अतसी, उमा, क्षुमा (अलसी)
(१६) आढकी, काक्षी इत्यादि (अरहर)[१]।

कृषि में विभिन्न प्रकार की तरकारियों का उत्पादन भी सम्मिलित था जिन्हें सामूहिक रूप से शाक, हरितक अथवा शिग्रु कहते थे[२]। तरकारियों की एक संक्षिप्त तालिका नीचे दी जाती है[३] :

(१) कारवेल्ल, कठिल्लक अथवा सुषवी (करेला)
(२) पटोल, कुलक अथवा पटु (परवल)
(३) कूष्माण्ड अथवा कर्कारु (कुम्हड़ा)
(४) कर्कटी अथवा उर्वारु (ककड़ी)
(५) इक्ष्वाकु अथवा कटुतुम्बी (कड़वी लौकी)
(६) तुम्बी अथवा अलाबु
(७) चित्रा अथवा गवाक्षी (ककड़ी के नाम)
(८) सूरण, अर्शोघ्न अथवा कन्द
(९) गंडीर (कड़वा सूरन)
(१०) कालम्बि (करेमू)
(११) उपोदिका (पोई)
(१२) मूलक
(१३) हिलमोचिक (हुरहुल)
(१४) वास्तुक (बथुआ)
(१५) भण्टाकी, वार्ताकी, सिंही अथवा हिंगुली (वनभाँटा)
(१६) घोषक अथवा धामार्गव (श्वेत तुरई)

---

१. वही, २, ४, १३१ । २. अमरकोश २, ९, ३३ ।
३. वही २, ४, ११४-१४८ ।

(१७) महाजाली (पीले फूल की तुरई)
(१८) ज्यौत्स्नी, पटोलिका अथवा जाली (चचेंड़ा)
(१९) गोजिह्वा अथवा दार्विका
(२०) कुन्द अथवा कुन्दरु
(२१) तण्डुलीय अथवा अल्पमारिष (चौराई)
(२२) अल्पलोणिका
(२३) पलाण्डु अथवा सुकन्दक (प्याज)

६. उद्यान-कला

फल और पुष्पों का उत्पादन भी एक व्यवसाय बन गया था। साधारणतः बगीचों को आराम अथवा उपवन कहते थे[1]। अमरसिंह ने विभिन्न प्रकार के उपवनों का उल्लेख किया है[2] :

(१) गृहाराम अथवा निष्कुट (गृह के समीप उपवन)
(२) वृक्षवाटिका (किसी मंत्री अथवा वेश्या का उद्यान)
(३) आक्रीड अथवा उद्यान (राजोद्यान)
(४) प्रमदवन (राजा के अन्तःपुर का उपवन)

पूर्ण योजना के अनुसार उपवनों को लगाया जाता था। वृक्ष तथा पुष्प पंक्तियों में लगाये जाते थे जिन्हें वीथी, आलि, आवलि, पंक्ति, या श्रेणी कहते थे[3]। पेड़-पौधे तीन वर्गों में विभक्त थे :

(१) वानस्पत्य (फूल कर फलने वाले)
(२) वनस्पति (विना फूले फलने वाले)
(३) ओषधी (जो फलने के पश्चात् नष्ट हो जाते हैं।)[4]

अमरसिंह ने वहुत से वृक्षों और पुष्पों को गिनाया है[5] :

(अ) वृक्ष

(१) बोधिद्रुम, चलदल, पिप्पल, अश्वत्थ, कुंजराशन (पीपल)
(२) कपित्थ (कैथा)
(३) उदुम्बर (गूलर का वृक्ष)
(४) कोविदार (कचनार)

---

१. अमरकोश २, ५, २-७।
२. वही २, ४, १-३।
३. वही २, ४, ४।
४. वही, २, ४, ९।
५. वही, ४, २०, २४।

(५) सप्तपर्ण (छतिवती)
(६) शम्पा(म्या)क अथवा कृतमाल (अमलतास)
(७) जंभीर (नीबू)
(८) वरुण (बरना)
(९) केसर (बकुल)
(१०) निम्बतरु
(११) तिनिश (तिरच्छ)
(१२) आम्रातक (अंबाड़ा)
(१३) मधूक (महुआ)
(१४) पीलु (देशी अखरोट)
(१५) अक्षोट (पहाड़ी अखरोट)
(१६) शोभाञ्जन (सँहिजन)
(१७) बिल्व अथवा श्रीफल (बेल)
(१८) प्लक्ष (पाकड़)
(१९) न्यग्रोध अथवा वट (बरगद)
(२०) आम्र, चूत अथवा रसाल (आम)
(२१) सहकार (सुगन्धित आम्र)
(२२) शेलु अथवा श्लेष्मातक (लिसोढ़ा)
(२३) बदरी, कर्कन्धु अथवा कोली (छोटी बेर)
(२४) ऐरावत अथवा नागरंग (नारंगी)
(२५) तून अथवा तूद[1] (शहतूत)
(२६) कदम्ब अथवा हरिप्रिय
(२७) चिञ्चा अथवा आम्लिका (इमली)
(२८) क्षीरिका (खिन्नी)
(२९) आमलक, अमृत (आँवला)
(३०) लकुच अथवा डहु (बड़हर)
(३१) पनस या कंटकिफल (कटहल)
(३२) दाडिम (अनार)
(३३) द्राक्षा (अंगूर)
(३४) कदली अथवा रम्भा (केला)

---

१. अमरकोश २, ४, ४१ और आगे।

(आ) पुष्प[1]

(१) शिरीष, कपीतन, भण्डिल (सिरिस)
(२) चम्पक (चम्पा)
(३) बकुल अथवा केसर (मौलसिरी)
(४) नागकेसर
(५) मल्लिका
(६) शेफालिका
(७) गणिका अथवा जूथिका
(८) माधवी अथवा वासन्ती
(९) मालती अथवा जाति
(१०) सप्तला, नवमल्लिका या नवमालिका (मोगरा)
(११) कुन्द
(१२) रक्तक अथवा बधूक
(१३) सहा अथवा कुमारी (घिकुआर)
(१४) ओड्रपुष्प अथवा जपापुष्प (गुड़हल या ओड़हुल)
(१५) प्रतिहास अथवा करवीर (कनेर या कनइल)
(१६) करीर
(१७) मरुबक
(१८) मंदार
(१९) पारिजात
(२०) हरश्रृङ्गार
(२१) मौलश्री

७. वन

देश की आर्थिक सम्पत्ति में वन एक समृद्ध साधन था। इससे निम्न लिखित वस्तुएँ प्राप्त होती थीं :—

(१) काष्ठ
(२) लकड़ी तथा ईंधन
(३) औषधियाँ, जड़ी-बूटियाँ, फल इत्यादि
(४) मसाले

१. वही २, ४, ६३ और आगे।

(५) वन्य पशु, उनके चमड़े तथा हड्डियाँ
(६) घास
(७) वन से प्राप्त कच्चे माल से बहुत से पक्के माल तैयार किये जाते थे।

८. खनि अथवा आकर

खानें (स्थलीय और समुद्रीय) भी देश की अर्थ-सम्पत्ति का एक साधन थीं। उनसे बहुमूल्य पत्थर, धातुयें तथा विभिन्न उद्योगों में काम आने वाले विभिन्न लाभदायक पदार्थ उत्पन्न होते थे—

अ. बहुमूल्य पदार्थ (रत्न या मणि)[1]

(१) मरकत अथवा गारुत्मत
(२) पद्मराग, शोणरत्न अथवा लोहितक
(३) मुक्ता अथवा मौक्तिक
(४) प्रवाल अथवा विद्रुम
(५) पुष्पराग[2]
(६) वैदूर्य[3]
(७) महानील[4]
(८) वज्र[5]
(९) स्फटिक[6]
(१०) सूर्यकान्त[7]
(११) चन्द्रकान्त[8]

आ. धातु[9]

(१) सुवर्ण, कनक, हिरण्य
(२) रजत अथवा रूप्य
(३) रीति या आरकूट (पीतल)
(४) ताम्र
(५) लौह या अयस्
(६) काच अथवा सार (काँच)
(७) पारद, रस अथवा चपल (पारा)

---

१. अमरकोश २, ४। २. वही, २, ९, ९२, ९३।
३. रघु० १८, ३२। ४. कुमार १, २४।
५. वही, ६, १९। ६. वही १८, ६९। ७. वही ११, २१।
८. मेघ० २–१३। ९. अमर० २, ९, ९४–१०९; ४१–४३।

(८) अभ्रक
(९) गिरिज
(१०) स्रोतोञ्जन
(११) तुत्थाञ्जन या मयूरक
(१२) रसाञ्जन
(१३) गन्धाश्मन, गंधिक या सौगन्धिक
(१४) हरिताल (गन्धक) ताल या पिञ्जर
(१५) शिलाजतु अथवा अश्मज (शिलाजीत)
(१६) गन्धरस
(१७) फेन (समुद्रफेन)
(१८) सिन्दूर, नागसम्भव
(१९) सीस, नाग, वप्र
(२०) रंग, वंग या त्रपु (राँगा)
(२१) मनःशिला या मनोगुप्ता (मैनसिल)
(२२) यवक्षार (जवाखार)
(२३) सर्जिकाक्षार अथवा कपोत (सज्जीखार)
(२४) सौवर्चल (संचलखार)
(२५) वंशीरोचना, वंशरोचना (वंशलोचन)
(२६) पाषाण या प्रस्तर
(२७) लवण
 (अ) अक्षिव या वशिर
 (आ) सैन्धव या सिन्धिया
 (इ) रौमक या सुवक
 (ई) पक्य या विद
 (उ) सौवर्चल अथवा अक्ष
 (ऊ) तिलक

९. पशुपालन

कृषि से सम्बद्ध व्यवसाय पशुपालन का था। इस व्यवसाय में प्रमुखरूप से लगे हुए लोग गोप,[1] गोपाल, गोसंख्य, गोदुह, आभीर और बल्लव कहलाते थे। प्रमुख पालतू-पशु निम्नलिखित थे :[2]

१. अमरकोश २-९, ५७। २. वही २-९, ५८-७७।

(१) गो (गाय)
(२) गोकुल (गायों का वृन्द)
(३) उक्षन् या बलीवर्द (बैल)
(४) वात्सक (बछड़ों का झुण्ड)
(५) महिष (भैंस)
(६) षण्ड अथवा गोपति (साँड़)
(७) उष्ट्र (ऊँट)
(८) करभ (ऊँट का बच्चा)
(९) अजा या छागी (बकरी)
(१०) अज अथवा छाग (बकरा)
(११) मेढ़ (मेढ़ा)
(१२) गर्दभ या रासभ
(१३) हस्ती
(१४) विभिन्न प्रकार के घोड़े :
 (क) आजनेय (एक अच्छी नस्ल का घोड़ा)
 (ख) विनीत (प्रशिक्षित)
 (ग) वनायुज (अरबी घोड़ा)
 (घ) पारसीक (फारस का घोड़ा)
 (ङ) काम्बोज (अफगानिस्तान का घोड़ा)
 (च) बाह्लीक (बल्ख से आया हुआ घोड़ा)
 (छ) ययु (अश्वमेध का घोड़ा)
 (ज) जवन (शीघ्रगामी अश्व)
 (झ) पृष्ठ्य (पीठ पर बोझ ढोने वाला घोड़ा)
 (ञ) रथ्य (रथ में जुतने वाला घोड़ा)

उपर्युक्त पशुओं के अतिरिक्त बहुत से वन्य पशु तथा पक्षी थे। यद्यपि उन्हें पाला नहीं जाता था किन्तु उनके मांस, चर्म, बाल और परों के द्वारा देश की आर्थिक स्थिति में वृद्धि होती थी।[1] पशुपालन से सम्बन्धित दूध का व्यवसाय भी होता था। दूध को दुग्ध, क्षीर अथवा पयस् कहते थे और इससे बनी हुई वस्तुयें सामूहिक रूप से पायस नाम से अभिहित होती थीं।[2] दूध से बनी हुई निम्नलिखित वस्तुयें लोकप्रिय थीं :[3]

१. अमरकोश २-५। २. वही २-९-५१। ३. २-९, ५१-५४।

(१) द्रप्स (पतला दही)
(२) घृत अथवा आज्य
(३) नवनीत
(४) गोरस, अरिष्ट, कालशेय अथवा दण्डाहत (मट्ठा)
(५) तक्र (एक चौथाई पानी मिलाया हुआ दही-मट्ठा)
(६) उदश्वित् (आधा जल मिलाया हुआ दही-मट्ठा)
(७) मथित (मथा हुआ किन्तु बिना जल मिलाया हुआ दही)
(८) मण्ड या मस्तु (दही से निकला हुआ जल)

१०. उद्योग और व्यवसाय

सम्पन्न कृषि, वन, धातु तथा पशु साधनों के कारण देश में बहुसंख्यक उद्योग-धन्धे हो गये थे। कुछ महत्त्वपूर्ण उद्योग-धन्धे और व्यवसाय निम्नलिखित हैं[१] :

(१) वस्त्रोद्योग–यह अत्यधिक महत्त्वपूर्ण उद्योग था। सूत्र या तन्तु, कार्पास (कपास), ऊर्ण (ऊन), कोश (रेशम), क्षौम (अलसी के रेशे), त्वक् (छाल) इत्यादि से तैयार किये जाते थे। कपड़े को तन्तुवाय या कुविन्द नामक जातियाँ बुनती थीं।[२]

(२) दर्जी का काम–यह बुनने से सम्बन्धित तथा। दर्जियों को तन्तुवाय अथवा सौचिक कहते थे।[३]

(३) रँगाई–कपड़े विभिन्न रंगों से रँगे जाते थे। रँगने वालों को रंगाजीव अथवा चित्रकार कहते थे।[४]

(४) चमड़े का काम–पादुकृत या चर्मकार इस धन्धे को करते थे।

(५) मिट्टी के बर्तन बनाना–यह कुम्भकार अथवा कुलालों का पेशा था।[५]

(६) लोहार या व्योकर।[६]
(७) स्वर्णकार।[७]
(८) शौल्बिक या ताम्रकुट्टक[८] (ठठेर)
(९) तक्षा या वर्धकी (बढ़ई)[९]

---

१. अमरकोश २–१०, ५–४६। २. वही २, १०, २८; २, १०, ६।
३. वही २, १०, ६। ४. वही २, १०, ७। ५. वही, २, १० ६।
६. वही २, १०–७। ७. वही २, १०–८। ८. वही। ९. वही २, १०, ९।

(१०) शौण्डिक अथवा मण्डहारक (मदिरा बनाने वाला)[1]

विभिन्न प्रकार की मदिरायें बनायी जाती थीं :

(क) मधु, मध्वासव, माधवक (मधूक पुष्प से बनायी हुई मदिरा)

(ख) मैरेय (गुड़ से बनी हुई मदिरा)

(ग) किण्व (चावल से तैयार की हुई मदिरा)

(११) मालाकार अथवा मालिक (माली)[2]

(१२) लेप अथवा पलगण्ड (घरों की पुताई करने वाला)

(१३) शंखिका अथवा काम्बविक (चूड़ी बेचनेवाला)

(१४) नापित या क्षुरी (नाई)

(१५) रजक (धोबी)

(१६) देवल या देवाजीव (पुरोहित)

(१७) मायावी अथवा शाम्बरी (जादू करने वाले)

(१८) शैलूष या नट

(१९) चरच या कुशीलव

(२०) विभिन्न प्रकार के वाद्य बजाने वाले

(२१) शाकुनि अथवा जालिक (बहेलिया)

(२२) मांसिक अथवा वैतंसिक (कसाई)

(२३) कितव या द्यूतकृत

व्यवसाय अधिकांशतः जातिप्रथा पर ही आधृत थे। प्रत्येक जाति का अपना अलग-अलग पेशा था और इसके सदस्य अपने जातीय पेशे को ही करते थे। हस्तकौशलकार तथा कलाविदों को सामूहिक रूप से कारु या शिल्पी कहा जाता था। वे वर्गों में संगठित थे जो श्रेणी अथवा कुल नाम से अभिहित होते थे। संगठन के मामले में उनके अपने नियम व बन्धन थे। श्रेणियों का प्रधान कुलक अथवा कुल-श्रेष्ठि कहलाता था।[3]

११. श्रम

उद्योगधन्धों, अन्य व्यवसायों तथा घरेलू कार्यों में श्रमिकों को रखा जाता था।[4] उनको दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—(१) वेतन पाने वाले और (२) दास। प्रथम वर्ग के श्रमिक (१) भृतक, (२) भृतिभुज, (३) कर्मकर, और (४) वैतनिक कहलाते थे। दासों के

१. वही २, १०, ३९।
२. वही २, १०, ५ और आगे।
३. अमर० २, १०, ५।
४. वही २, १०, १५ से आगे।

निम्नलिखित नाम थे--(१) भृत्य, (२) दासेर, (३) दासेय, (४) दास, (५) गोप्यक, (६) चेटक, (७) नियोज्य, (८) किंकर, (९) प्रेष्य, (१०) भुजिष्य और (११) परिपारक। वेतन और पारिश्रमिक का विभिन्न रूप से संकेत किया गया है—(१) कर्मण्य (काम के बदले जो दिया जाय), (२) विध, (३) भृति, (४) भर्मन्, (५) वेतन, (६) भृत्य, (७) भरण, (८) भरण्य, (९) मूल्य, (१०) पण। कुशल और अकुशल श्रमिकों का पृथक्-पृथक् विभाजन होता था। कुशल श्रमिक को (१) दक्ष, (२) चतुर, (३) पेषल, (४) पटु, (५) सुत्थान या (६) उष्ण कहा जाता था तथा अकुशल को (१) मन्द, (२) तुंदपरिमृज, (३) आलस्य, (४) शीतक, (५) अलस या (६) अनुष्ण शब्दों से पुकारा जाता था। उपर्युक्त हस्तकौशलकार तथा कलाविदों की तुलना में श्रमिक वर्गों में संगठित नहीं जान पड़ते हैं। वेतनभोगी साधारण श्रमिक समाज में विभिन्न स्रोतों से लिये जाते थे। मनुस्मृति[1] में, जो लगभग एक शताब्दी पूर्व लिखी गई थी, निम्नलिखित प्रकार के दासों का उल्लेख है जिससे दासों के उद्गमों का अनुमान किया जा सकता है :

(१) ध्वजाहृत (युद्ध में पकड़े गये)
(२) भक्तदास (स्वेच्छा से दासत्व करने वाले)
(३) गृहज (घरों में उत्पन्न)
(४) क्रीत (क्रय किया हुआ)
(५) दत्रिम (किसी के द्वारा दिया हुआ)
(६) पैतृक
(७) दण्डदास (जिसको दासत्व का दण्ड मिला हो)

वेतनभोगी तथा पारिश्रमिक पानेवाले स्वतन्त्र थे। उनका श्रम ऐच्छिक था जब कि दास स्वामियों के आश्रित थे। दोनों प्रकार के श्रमिक अपने स्वामियों से भिन्न-भिन्न प्रकार से व्यवहृत होते थे।

१२. व्यापार तथा वाणिज्य

(१) व्यापारी वर्ग

देश का आर्थिक उत्पादन विभिन्न धाराओं से हो रहा था अतएव व्यापार और वाणिज्य दोनों ही उन्नति के उच्च स्तर पर थे। व्यापारियों के विभिन्न अभिधान थे :[2]

---

१. मनु० ८, ४१५।

२. अमरकोश २, ९, ७८ से आगे।

(अ) वैदेहक
(आ) सार्थवाह
(इ) नैगम
(ई) वाणिज
(उ) वणिक्
(ऊ) पण्याजीव
(ऋ) आपणिक
(ॠ) क्रय-विक्रयिक

उन्हें मूल्य, मूलधन (परिपन या नीवि), लाभ तथा न्यास (लाभ तथा उपाधि—रुपया जमा करना), विनिमय (परिदान, परिवर्तन, नैमेय अथवा निमय), क्रय्य (विक्रय के लिए वस्तुओं का प्रदर्शन), क्रेय अथवा क्रेतव्य (खरीदी जाने वाली वस्तुएं), पण्य अथवा पणितव्य (जिन्हें खरीदा-बेंचा जाय), सत्यापन, सत्यकार अथवा सत्याकृति तथा विक्रय या विपण का अच्छा ज्ञान था ।

(२) मार्ग

उन्नत व्यापार के लिए सबसे पहली आवश्यक वस्तु देश में उन्नत मार्गों तथा सड़कों का होना है। विक्रमादित्य के युग में देश में अनेक अच्छे मार्ग (अतिपन्था, सुपन्था, सुपथ) थे। यद्यपि भारतवर्ष के कुछ भागों में मार्ग बहुत कठिन (पुरध्व, विपथ, कापथ) थे।[1] कुछ मार्ग दूर, एकान्त तथा जलहीन प्रान्तों से होकर जाते थे तथा कुछ गहन वनों (कान्तार) से। व्यापार तथा वाणिज्य के लिए राजमार्ग को घण्टापथ, संसरण, महापथ, राजपथ अथवा नरेन्द्रमार्ग कहते थे। कालिदास के ग्रन्थों में वर्णित निम्नलिखित मार्गों से भारतवर्ष के कुछ राजपथों के संकेत संकलित किये जा सकते हैं :[2]

(अ) रघु के दिग्विजय का मार्ग[3]

यह अयोध्या से आरम्भ हुआ था और सरयू नदी के पथ का अनुसरण करते हुए विहार में गंगा तक गया था और इसके किनारे-किनारे बंगाल में जा पहुँचा था। यहाँ से वह दक्षिण की ओर घूम गया था और उड़ीसा तक चला गया था। तब कलिंग, आन्ध्र और द्राविड देशों को पार करते हुए सुदूर दक्षिण की सीमाओं का स्पर्श करता था। फिर वह उत्तर-पश्चिम की ओर घूम गया था और पश्चिमी घाट की शृङ्खलाओं का अनुसरण करते हुए सिन्ध तक गया था। यहाँ वह दो भागों में विभाजित हो गया था—पश्चिमी सागर (अरब

---

१. वही १-१५ से आगे।

२. कुमारसम्भव ७, ३। रघु० १४, ३०; रघु० ४-६७। माल० १, १७; ५, १०।

३. रघु. ४।

सागर) से होकर जानेवाला जलमार्ग और स्थलमार्ग जो दक्षिणी बलूचिस्तान से होकर जाता था और फारस की सीमाओं का स्पर्श करते हुए उत्तर और उत्तर-पूर्व को घूम गया था। हिन्दुकुश को पार कर के यह मार्ग मध्य एशिया तक गया था और पुनः दक्षिण पूर्व की ओर घूमकर पामीर के पठार से होते हुए कम्बोज के मध्य से भारत में प्रविष्ट होता था। तत्पश्चात् हिमालय के दक्षिणी ढालों से होकर यह कामरूप (आसाम) पहुँचता था। दिग्विजय का यह सैनिक मार्ग अवश्य ही अनेक मार्गों में विभक्त रहा होगा जो वाणिज्य और व्यापार के लिए प्रयुक्त होनेवाले स्थलमार्गों से सम्बन्धित थे।

(आ) अयोध्या से भोजों के देश (बरार) तक अज के अभियान का मार्ग[1]

यह मार्ग अयोध्या से आरम्भ होकर प्रयाग के निकट गंगा को पार करता था और विन्ध्यप्रदेश तथा महाकोशल (उत्तरी-मध्यप्रदेश) से होकर विदर्भ (बरार) पहुँचता था।

(इ) मेघदूत का मार्ग[2]

यह मार्ग रामगिरि (रामटेक) से आरम्भ हुआ तथा मध्यप्रदेश और विन्ध्यप्रदेश होते हुए उत्तरप्रदेश के बाँदा जिले में स्थित चित्रकूट पहुँचा। यहाँ से कालिदास ने दूत को उज्जयिनी की ओर मोड़ दिया जिससे यह पता चलता है कि चित्रकूट और उज्जयिनी को मिलानेवाला एक मार्ग था। उज्जयिनी से मेघदूत सीधे मार्ग का अनुसरण कर राजपूताना, पश्चिमी उत्तरप्रदेश, तथा हिमालय से होते हुए अलका में पहुँचा जो कैलाश पर स्थित मानी गयी है।

कालिदास द्वारा प्रासंगिक रूप से वर्णित मार्गों के अतिरिक्त व्यापारिक तथा सैनिक केन्द्रों को संयुक्त करनेवाले अन्य मार्ग भी अवश्य रहे होंगे।

विक्रमादित्य के समय में भारत को एशिया के पश्चिमी देशों, भारतीय महासमुद्र के द्वीपसमूह, पूर्वी एशिया के देशों से जोड़ने वाला जलमार्ग भी था, यह अनेक प्रमाणों से सिद्ध होता है।[3] एक समुद्रीय मार्ग पश्चिमसागर, लालसागर तथा भूमध्यसागर के तटों से होते हुए भारतवर्ष को फारस, अरब, सीरिया, यूनान तथा रोम से जोड़ता था।[4] रघु ने अपने दिग्विजय के सिलसिले में सिन्धु पहुँचने पर फारस जाने के लिए स्थलमार्ग को ही चुना

---

१. रघु, ५। २. मेघदूत

३. रघु, ३, ३६, १२; ६, ५७; शाकुन्तल पृ० २१९। ४. रघु० ४, ६०।

था जिससे पता चलता है कि एक समुद्रीय मार्ग भी था। रघु ने बंगाल में एक बेड़े का सामना किया।[1] यह तथ्य दृढ़रूप से इस बात का संकेत करता है कि बंगाल के लोग व्यापारिक कार्यों के लिए समुद्रीय नावें रखते थे। अभिज्ञानशाकुन्तल में एक धनी समुद्रीय व्यवसायी का उल्लेख है जो समुद्रीय व्यापार कर रहा था। उसकी मृत्यु पोत भग्न हो जाने से हुई।[2] चीनांशुक (चीनी रेशम) का बहुधा उल्लेख भारत और चीन को जोड़नेवाले समुद्र-पथ का संकेत करता है।[3]

(३) अन्तर्देशीय व्यापार

प्रथम शताब्दी ई० पू० में अन्तर्प्रान्तीय व्यापार उन्नत दशा में था तथा एक प्रान्त की उत्पन्न वस्तुओं को विक्रयार्थ दूसरे प्रान्तों में लाया जाता था। हिमालय के प्रदेशों से कम्बल तथा जड़ी-बूटियाँ, उत्तर-भारत के मैदान से कृषि से उत्पन्न वस्तुयें एवं वस्त्र, विन्ध्याचल की श्रेणियों से धातुयें एवं वन से उत्पन्न वस्तुयें, दक्षिण से बहुमूल्य रत्न और धातुयें, सुदूर दक्षिण से बहुमूल्य सुवर्ण व स्वादिष्ट मसाले, कलिंग और कामरूप से हाथी, सिन्धु तथा कम्बोज से घोड़े और सुदूर दक्षिणी-पूर्वी भारत से मोती व मूंगे अन्तर्प्रान्तीय बाजारों में लाये जाते थे तथा व्यापारी लाभदायक व्यापार के लिए सदा घूमते रहते थे। भारत के पश्चिमोत्तर सीमान्त पर व्यापार के मार्ग सुरक्षित नहीं थे, क्योंकि विदेशी शकों और पह्लवों के आक्रमणों का भय बना रहता था। किन्तु भारत के अन्य भागों के पथ सुरक्षित थे: 'सार्थवाह पर्वतों पर इतनी निश्चिन्तता से घूमा करते थे मानों उनका स्वयं घर हो, घाटियों में ऐसे चलते थे, जैसे कूपों पर चलते हों और वनों में इस प्रकार विचरण करते थे मानों वाटिका में विचरण कर रहे हों।'[4]

(४) विदेशी व्यापार

भारतवर्ष बहुत सी वस्तुओं का आयात करता था। अमरकोश[5] से विदित होता है कि अच्छी नस्ल के घोड़े अरब (वनायु) और फारस से आते थे। चीन से चीनी रेशम[6] तथा हिन्दमहासागर के द्वीप-समूहों से सुगन्धित मसाले, धूप आदि वस्तुओं का आयात होता था। विक्रमादित्य से कुछ ही समय

१. वही ४, ३६। २. समुद्रव्यवहारी सार्थवाह......नौव्यसने विपन्नः।

३. कुमार० ७; शाकुन्तल १, ३०।

४. रघु० १७, ६४। ५. अमरकोश २, ८, ४५।

६. कुमारसम्भव ७-३; शाकु० १-३०।

पश्चात् के एक ग्रन्थ : 'दि पेरिप्लस ऑव दि इरीथ्रियन सी'[1] से भारतवर्ष में पाश्चात्य देशों के आयात पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। इसके अनुसार निम्नलिखित वस्तुयें वहाँ से आती थीं : ताँबा, टिन, सीसा, मूंगे, पद्मराग, चकमक पत्थर, सोने व चाँदी की मुद्रायें, बहुमूल्य रजत-पात्र, मलहम, सुन्दर कपड़े, मीठी लवंग, बढ़िया शराब, रँगी हुई करधनी, सुन्दर वस्त्र, छपे हुए सन के कपड़े, गायक लड़के और राजा के अन्तःपुर के सेवार्थ सुन्दर कुमारियाँ आदि।

भारत से भी नाना प्रकार की वस्तुयें बाहर जाती थीं। 'दि पेरीप्लस ऑव दि इरीथ्रियन सी'[2] से विदित होता है कि निम्नलिखित वस्तुओं का एशिया, युरोप और अफ्रीका के पश्चिमी देशों में निर्यात होता था। हाथीदाँत, पाल्यश्म (सुलेमानी पत्थर), इन्द्रगोप, चिर्चिट, भाँति-भाँति के सूती कपड़े, रेशमी वस्त्र, कोमल वस्त्र, सूत, मसाले, प्रचुर मात्रा में उत्तम मोती, बहुमूल्य रत्न यथा हीरा, नीलम, कूर्मकर्पर,……(हिमालय प्रदेश से)।[3]

भारतवर्ष में उत्तर की अपेक्षा दक्षिण में वैदेशिक जल-व्यापार स्वभावतः ही उन्नत दशा में था : 'तामिल साहित्य, यूनान और रोम के इतिहासकारों के वर्णन तथा दक्षिण भारत में (जो उस समय जल और स्थल दोनों मार्गों से यूनानी देशों के निकट सम्पर्क में था) प्राप्त बहुसंख्यक रोमक सिक्कों से...ईसवी संवत् के कुछ पहले और बाद की शताब्दियों में विदेशी व्यापार का विस्तार प्रमाणित होता है।' यवन व्यापारी मिर्च, बहुमूल्य रत्न, उत्तम रेशम और कपास का सूत खरीदने के लिए दक्षिण के समुद्रपत्तनों और पुरों में एकत्र होते थे।

१३. अधिकोषण तथा कुसीद[4]

विभिन्न व्यवसायों तथा पेशों के अनेकानेक संघ (निगम, श्रेणी, पूग तथा संघ) बन गये थे जो विक्रमादित्य के युग में अधिकोषण (बैंक) का काम करते थे। उनमें धन जमा करने के निम्नलिखित प्रकार स्वीकृत थे :

(१) निक्षेप (२) न्यास (३) नीवि

संघ और धनी व्यक्ति ब्याज पर रुपया उधार देते थे। महाजनों को उत्तमर्ण तथा ऋण लेनेवाले को अधमर्ण कहा जाता था। उधार पर ब्याज

---

१. स्कॉफ के द्वारा अनूदित पृ० २८७–२८८। फिलना और अन्य लेखकों से भी इस बात की पुष्टि होती है। २. वहीं।

३. ई० बी० हैवेल : हिस्ट्री आफ आर्यन रूल इन इण्डिया, पृ० १८०।

४. अमरकोश २, ९, ७८ और आगे; २, ९, ३ और आगे।

की संज्ञा कुसीद अथवा वृद्धि थी। जो लोग व्याज का काम करते थे उन्हें कुसीदक, वार्धुषिक, वृद्ध्याजीव या वार्धुषी कहते थे। ऋण साधारण तौर पर पर्युदञ्चन या उद्धार कहलाता था। तत्कालीन साहित्य से व्याज की दर का पता नहीं चलता। सूदखोरी को अच्छा पेशा नहीं समझा जाता था, क्योंकि उसमें झूठ और सत्य का मिश्रण होता है।[1] किन्तु वाणिज्य तथा व्यवसाय का उत्कर्ष और श्रेणियों का अस्तित्व इस बात का निर्देश करते हैं कि अधिकोषण और कुसीद विद्यमान रहे।

१४. विनिमय तथा चलार्थ (करेंसी)

विनिमय की प्रथा विकसित हो चुकी थी तथा उसे परिपान, परिवर्त, नैमेय तथा निमय कहते थे। इन सब का अर्थ एक प्रकार के धन को दूसरे प्रकार के धन से परिवर्तित करना है।[2] जनता के आर्थिक जीवन में जटिलता बढ़ जाने से विनिमय अधिक प्रामाणिक और शुद्ध होता जा रहा था। क्षेत्रीय तथा छोटे छोटे विनिमयों में गाँवों में अदल-बदल ही प्रचलित था। अन्तर्देशीय तथा विदेशी चालू व्यापार वा वाणिज्य के अस्तित्व ने सिक्कों के प्रचलन को आवश्यक बना दिया। अमरकोश[3] में दो प्रकार के सिक्कों का उल्लेख है—कार्षापण (एक चाँदी का सिक्का जो तौल में एक कर्ष के बराबर होता था) तथा पण (उसी तौल का ताँबे का सिक्का)। कालिदास के ग्रन्थों में सुवर्ण तथा निष्क का भी सिक्कों के रूप में उल्लेख हुआ है।[4] सुवर्ण सोने का सिक्का था। निष्क गले में पहना जानेवाला आभूषण भी था और १०८ कर्ष का एक सिक्का भी। एक विदेशी सिक्का दीनार था जो कुषाण तथा गुप्तयुग में प्रचलित था। अमरकोश तथा कालिदास के ग्रन्थों में इसका उल्लेख नहीं किया गया है।

---

१. वही, सत्यानृतम्। २. अमरकोश २, ९ ८०।
३. वही २, ९ ८८। ४. मालविका० पृ ८८; कुमार० २-४९।

चतुर्दश अध्याय

उपसंहार

१. विक्रमादित्य के अन्तिम दिन

जीवन के अन्तिम दिनों में विक्रमादित्य का प्रतिष्ठान के आन्ध्र सातवाहनों की उठती हुई शक्ति से संघर्ष हुआ। इस संघर्ष का इतिहास उनसे सम्बन्धित कुछ कहानियों में दबा पड़ा है।[1] ऐसी ही कहानियों में से एक का संगत अंश नीचे उद्धृत किया जा रहा है :

"विक्रमादित्य के राज्य में एक पुरन्दरी नामक नगरी थी। यहाँ कोई व्यापारी रहता था जिसके चार पुत्र थे। बहुत दिनों के पश्चात् वह बूढ़ा तथा बीमार हो गया; अपनी मृत्यु के समय उसने अपने चारों पुत्रों को बुलाकर कहा : 'मेरे बेटे ! जब मैं मर जाऊँगा तो तुम लोग चाहे इस स्थान पर रहो या नहीं, समयानुसार तुम लोगों में झगड़ा उठ खड़ा होगा। अतः मैंने अपनी मृत्यु के पूर्व ही अपनी सम्पत्ति को तुम चारों में वय के अनुसार विभक्त कर दिया है। अपने बिस्तर के चारों पायों के नीचे चारों भाग मैंने गाड़ दिये हैं, उन्हें सबसे बड़े से लेकर छोटे तक वयक्रम से बाँट लेना।' और वे इस पर राजी हो गये। जब पिता इस जीवन को समाप्त करके चल बसा तो चारों भाई एक महीने तक शान्तिपूर्वक रहे। किन्तु तब उनकी पत्नियों में झगड़ा उठ खड़ा हुआ। उस पर उन्होंने विचार किया कि 'आखिर यह झगड़ा क्यों ? जब हम दोनों के पिता जीवित थे, हम लोगों के लिए उन्होंने बटवारा कर दिया था। हम लोग उनके बिस्तर के नीचे रखी हुई बटवारे की सम्पत्ति को ले लेंगे और अपना-अपना भाग पाकर शान्तिपूर्वक रहेंगे।' अतः बिस्तर के नीचे खोदते हुए चारों पायों के नीचे से उन्होंने चार ताँबे के पात्र निकाले। उनमें से एक पात्र में मिट्टी, दूसरे में कोयला, तीसरे में हड्डी और चौथे में तृण था। इन चारों वस्तुओं को

---

१. प्रबन्धकोश सं० १५, सातवाहन प्रबन्ध। विक्रमचरित (दक्षिणी पाठ) कथा सं० २४।

देखकर चारों भाई बहुत परेशान हुए और एक दूसरे से कहने लगे, 'हम लोगों के पिता ने पूर्ण तथा ठीक विभाजन किया है किन्तु इस प्रकार का विभाजन कौन समझ सकता है?' इस प्रकार कहकर वे राजसभा में पहुँचे तथा वहाँ यह कहानी सुना दी। किन्तु विभाजन का प्रकार सभासदों की समझ में नहीं आया। तत्पश्चात् चारों भाई सभी नगरों में जहाँ कुशल विद्वान् लोग थे गये और उन (विद्वानों) को सम्पूर्ण वार्ता अवगत की किन्तु वे भी इसे सुलझा न सके। एक बार वे उज्जयिनी आये तथा राजा की सभा में उपस्थित हुए और उन्होंने विभाजन का पूर्ण वृत्तान्त राजा तथा राजसभा के सम्मुख कह सुनाया किन्तु न तो राजा और न सभासद ही विभाजन के इस रहस्य को समझ सके। तत्पश्चात् अन्त में वे प्रतिष्ठान नगरी में आये तथा उन्होंने वहाँ के प्रतिष्ठित व्यक्तियों से कहा; किन्तु वे समाधान न पा सके। इस समय शालिवाहन एक कुम्हार के घर में थे; इस बात को सुनकर वे आगे बढ़ आये तथा प्रतिष्ठित जनों से बोले, 'इसमें क्या रहस्य है? कौन सा आश्चर्य है? क्या बात है कि आप लोग विभाजन का प्रकार नहीं समझ पा रहे हैं?' उन्होंने कहा, युवक! हम लोगों के लिए तो यह रहस्य और आश्चर्य ही है। यदि तुम जानते हो तो विभाजन का प्रकार बताओ। शालिवाहन ने कहा ये चारों एक धनी व्यक्ति के पुत्र हैं। जब इनका पिता जीवित था तभी उसने ज्येष्ठ से लेकर कनिष्ठ तक चारों को वय के अनुसार इस प्रकार से बटवारा कर दिया था। सब से बड़े को उसने मिट्टी दी, इसका यह अर्थ है कि बड़े को उसने अपनी सारी भूमि दे दी; उसने दूसरे को तृण दिया जिसका यह अर्थ है कि दूसरे को उसने अपना शेष धान्य दे डाला, तीसरे को उसने हड्डियां दीं जिसका यह तात्पर्य है कि तीसरे को उसने अपने सब पशु दे दिये। चौथे को उसने कोयला दिया, इसका यह अभिप्राय है कि चौथे को उसने अपने पास का सब सोना दे डाला। इस प्रकार शालिवाहन ने उनके बटवारे की समस्या को सुलझा दिया जिससे पूर्ण सन्तुष्ट होकर वे लोग अपने नगर को वापस चले गये।

'किन्तु जब राजा विक्रम ने सुना कि किस प्रकार विभाजन की समस्या सुलझा दी गयी तो उसके आश्चर्य का ठिकाना न रहा तथा प्रतिष्ठान नगरी में उसने एक पत्र भेजा जिसमें लिखा था, "प्रतिष्ठान के रहनेवाले प्रतिष्ठित लोगों को, जो यजन और याजन, अध्ययन और अध्यापन, दान और प्रतिग्रह के पुनीत कार्यों में रत हैं तथा जो उपवास, आचरण आदि सभी सद्गुणों से

विभूषित हैं, अभिवादन। राजा विक्रमादित्य आप लोगों के स्वास्थ्य की कामना करता है। आपकी नगरी में जिस व्यक्ति ने उन चारों भाइयों की समस्या को सुलझाया है उसको सामने भेजा जाय"। जब प्रतिष्ठित व्यक्तियों ने राजा के द्वारा प्रेषित उस पत्र को पढ़ा तो उन्होंने शालिवाहन को बुलाया और कहा—'शालिवाहन ! जिनके पैरों की सभी प्रतिद्वन्द्वी नरेश पूजा करते हैं (ऐसे) सम्राटों के सम्राट उज्जयिनी के राजा विक्रम जो सभी प्रार्थियों के लिए कल्प-वृक्ष हैं आपको बुलाते हैं, उनके पास जाइये।' उसने कहा 'कैसा राजा है विक्रम ? मैं उसके बुलाने पर नहीं जाऊंगा, यदि उसका मुझसे कोई काम हो तो वह स्वयं आवे, मुझे उससे कोई काम नहीं है।' इन शब्दों को सुनकर शिष्ट समुदाय ने राजा के पास यह पत्र लिख कर भेज दिया कि, 'वे नहीं आवेंगे।' और जब राजा ने चिट्ठी की लिखी हुई बात को सुना तो मारे क्रोध के उनका शरीर काँपने लगा। वे अपनी अठारहगुनी सम्पूर्ण सेना के साथ प्रतिष्ठान आये और घेरा डाल दिया। उन्होंने शालिवाहन के पास दूत भेजे। दूतों ने शालिवाहन के पास जाकर कहा, 'हे शालिवाहन ! तुम्हें राजाओं के अधिपति बुला रहे हैं।' तब शालिवाहन ने कहा, 'दूतो ! चतुरंगिणी सेना से घिरा हुआ मैं स्वयं युद्धक्षेत्र में मिलूँगा। तुम लोग कृपा करके राजा से यही जाकर कह दो।' इन शब्दों को सुनकर दूतों ने आकर यही राजा को कह सुनाया। जब विक्रम ने यह सुना तो वे युद्ध क्षेत्र में युद्ध करने के लिये आये। × × × शालिवाहन······अपनी चतुरंगिणी सेना के साथ नगर के बाहर गया और युद्ध-क्षेत्र में उपस्थित हुआ।

× × ×

'तब घमासान युद्ध आरम्भ हुआ तथा विक्रमादित्य ने शालिवाहन की सेना को नष्ट कर दिया। शालिवाहन जब अत्यधिक निराश हुआ तब उसने अपने पिता का वरदान स्मरण किया जिन्होंने यह कहा था कि 'दुःख के समय मेरा आवाहन करना'। उसने अपने पिता नागराज शेष को स्मरण किया। शेष ने अपने सभी सर्पों को भेजा जिन्होंने विक्रमादित्य की समस्त सेना को डस लिया। परिणाम यह हुआ कि विक्रमादित्य के सभी सैनिक पूर्ण रूप से मूर्च्छित हो गये और युद्धक्षेत्र में गिर पड़े। तब राजा विक्रमादित्य अपने नगर को अकेले लौटे········।'

यदि उपर्युक्त कथा से कल्पित अंश निकाल दिया जाय तो इसमें से निम्नलिखित ऐतिहासिक तथ्य सम्मुख आते हैं :—

(१) विक्रमादित्य किसी सातवाहन (आन्ध्र-सातवाहन) नरेश के समकालीन थे।

(२) आन्ध्र-सातवाहनों की उठती हुई शक्ति ने विक्रमादित्य की ईर्ष्या को उत्तेजित कर दिया था जिन्होंने सन्धि के द्वारा अपना प्रभुत्व उन पर स्थापित करना चाहा किन्तु युद्ध में उनका पराजय हुआ।

(३) आन्ध्र-सातवाहनों ने कूटनीति और युद्ध में अपने को विक्रमादित्य से—कम से कम उनके अन्तिम दिनों में—उच्च सिद्ध कर दिया जो पराजित तथा निराश होकर प्रतिष्ठान से उज्जयिनी वापस चले गये।

सम्प्रति यह प्रश्न उठता है कि यह सातवाहन कौन था ? जैन-पट्टावलियों के अनुसार विक्रमादित्य ने ५७ ई० पू० से लेकर ६ वर्ष तक राज्य किया। अतः शालिवाहन (सातवाहन) को प्रथम शताब्दी ई० के प्रारम्भ में रखना चाहिए। आन्ध्र-सातवाहनों का राजवंश २८ ई० पू० (कण्वों के अन्त की तिथि) से प्रारम्भ होता है। तीन प्रारम्भिक सातवाहन नरेशों की तिथि की गणना करने से निम्नलिखित तिथियाँ सम्मुख आती हैं :

शिमुक का राज्यारोरण २८ ई० पू०
शिमुक का राज्यकाल २३ वर्ष
कृष्ण का राज्यकाल १० वर्ष
सातकर्णि का राज्यारोहण ५ ई० प०

ईसवी संवत् के प्रथम तथा द्वितीय वर्षों में सातकर्णि अभी युवराज ही था जो विक्रमादित्य के अन्तिम दिनों में उसकी सेना से अपने सैन्यबल को तौल सकता था। विक्रमादित्य की थोड़े ही समय पश्चात् मृत्यु हो गयी। तिथिसम्बन्धी और अन्य अप्रत्यक्ष साक्ष्यों से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि विक्रमादित्य का कनिष्ठ समकालीन तथा प्रतिद्वन्द्वी आन्ध्र-सातवाहन वंश का तृतीय नरेश सातकर्णि था जिसने अवन्ती में विक्रमादित्य की शक्ति को छायाग्रस्त करते हुए दक्षिण की उदीयमान साम्राज्यवादी शक्ति का प्रतिनिधित्व किया।[1] एक बार पुनः भारतीय इतिहास ने इस तथ्य को प्रदर्शित

---

१. पश्चिमी घाट में प्राप्त सातवाहन-अभिलेखों के अनुसार सातकर्णि ने साम्राज्यवादी शक्ति के प्रतीक स्वरूप अश्वमेध यज्ञ किया था। सांची का एक अभिलेख जिसपर 'राजन श्री सातकर्णि' अङ्कित है मध्यभारत में उसकी राजनीतिक प्रभुता का व्यञ्जक है। लेकिन किञ्चित् अशुद्धता के कारण प्रथम सातवाहन नरेश से भी विक्रमादित्य की तद्रूपता स्थापित की जा सकती है जिसके सिक्के अभी हाल ही में उपलब्ध हुए हैं। जे० एन० एस० आई०, भाग ७, १९४५।

कर दिया कि छोटे-छोटे गणराज्य स्वतन्त्रता में कितने ही अनुरक्त क्यों न हों और कितनी ही बार बर्बर आक्रान्ताओं के विरुद्ध सफल क्यों न हुए हों, एक संगठित विशाल साम्राज्यवादी शक्ति से उनकी कोई समता नहीं थी। ठीक ऐसी ही एक घटना उत्तरी पूर्वी भारत में कुछ शताब्दियों पूर्व घटित हुई थी जब उस क्षेत्र के गणराज्यों को मगध की उदीयमान राज-शक्ति के सम्मुख नतमस्तक और विलीन होना पड़ा था।

२. विक्रमादित्य के जीवन की प्रमुख विशेषतायें

विक्रमादित्य का व्यक्तित्व बहुमुखी था और उन्होंने जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में अपने को दक्ष कर लिया था। राजनीति में उनकी सफलतायें महान् थीं। साहित्य और कला को आश्रय देने में भारतीय इतिहास के बहुत कम व्यक्ति उनकी समता कर सकते हैं। उदारता, साहस और कर्तव्य-परायणता, मानुषिक मामलों में अन्तर्दृष्टि तथा हृदय और बुद्धि के अन्यान्य गुणों में विक्रमादित्य पूजा और अनुकरण करने योग्य हैं। निम्नलिखित पंक्तियों में उनके जीवन की कुछ महत्त्वपूर्ण विशेषताओं का प्रकाशन किया जायगा।

(१) भारतीय इतिहास में महान् व्यक्तित्व

भारतीय अनुश्रुतियों और इतिहास में विक्रमादित्य की लोकप्रियता का रहस्य उनका भारतीय इतिहास की प्रमुख धाराओं में मूर्त्तिमान् होना था जिससे उनकी ओर सबका ध्यान आकृष्ट हुआ और लोगों के मस्तिष्क पर उनके व्यक्तित्व की गहरी छाप पड़ गई। लोग, प्राकृतिक चुनाव की प्रक्रिया के अनुसार, जीवन की एकान्तता में होने वाली भारवाही अनावश्यक घटनाओं को स्मरण नहीं रखते। वे इतिहास की स्थायी प्रधान धाराओं को शीघ्र ग्रहण कर उन्हें अपने मस्तिष्क में धारण कर लेते हैं। विक्रमादित्य ने अपने युग के राजनीतिक और सांस्कृतिक नाटक के प्रधान दृश्यों में भाग लिया तथा वे अपने पदचिह्न इतिहास के राजपथ पर छोड़ गये हैं जो विगत दो सहस्र वर्षों के बाद भी वर्तमान हैं।

(२) सांस्कृतिक और राजनीतिक महत्त्व

चतुर्थ शताब्दी ई० पू० से लेकर आज तक भारतीय इतिहास की प्रमुख समस्या विदेशी आक्रमण और उनके विरुद्ध भारतीयों की प्रतिक्रिया रही है। इतिहास का यह मान्य सत्य है कि विदेशियों को एक दृढ़ अवरोध का सामना

करना पड़ा है जिसने आक्रमणकारियों की राजनीति, धर्म तथा संस्कृति के सम्मुख अपने को समर्पित नहीं किया यद्यपि उनकी अत्युत्तम बातों को अपने में पचा लिया है। आक्रमणकारी देश में दो ही दर्रों से आये—(१) खैबर दर्रा तथा (२) बोलन दर्रा। दोनों भारतवर्ष के उत्तरी सीमान्त पर स्थित हैं। अतः विदेशी आक्रमणकारियों का विरोध करने के लिए दो केन्द्र बने। प्रथम केन्द्र खैबर दर्रे के सम्मुख पड़ता था। इस क्षेत्र में पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त, पंजाब तथा उत्तरी-पूर्वी राजपूताना सम्मिलित हैं। चतुर्थ शताब्दी ई० पू० में यूनानियों ने सिकन्दर के नेतृत्व में खैबर दर्रे से आक्रमण किया और उनका सामना अवरोध के प्रथम केन्द्र में हुआ। उत्तरी-पश्चिमी भारत के कुछ राजतन्त्रों ने आक्रमणकारियों का स्वागत किया किन्तु अधिकांश ने यवनों का विरोध किया और बहुत कम राज्यों ने अपने देश के विरुद्ध विदेशियों की सहायता की। जहाँ तक उस केन्द्र के गणराज्यों का प्रश्न था उन्होंने आक्रमणकारियों का सर्वदा एकान्त, संघबद्ध और दृढ़ विरोध किया। उन गणराज्यों की श्रेणी में जिन्होंने आक्रमणकारियों का कट्टर विरोध किया था, मालवों का प्रमुख स्थान था। मालव यवनों को पराजित न कर सके तथा उनके प्रयास निष्फल रहे। इनमें से अधिक संख्या में युद्ध में सिकन्दर के बुरी तरह घायल हो जाने के पश्चात् क्रुद्ध यूनानियों द्वारा मार डाले गये थे। तथापि इस दुःखान्त घटना से मालवों का स्वतन्त्रता के प्रति अनुराग और प्रबल हो गया। द्वितीय शताब्दी ई० पू० में जब इन पर बाख्त्री यवनों ने दबाव डाला तो ये पंजाब की अन्य स्वतन्त्रताप्रिय जातियों के साथ दक्षिण की ओर चल दिये और दक्षिणी राजपूताना तथा मालवा में उन्होंने अपने नये वासस्थान का निर्माण किया। साम्राज्यवादी शुङ्गों के पतन के पश्चात् गणराज्यों ने सम्पूर्ण राजपूताना के चारों ओर एक सबल शृंखला बना ली थी। उस समय मालवों का पश्चिमी मालवा पर अधिकार था। यहीं मालवों के गर्दभिल्ल गणप्रमुख के घर में विक्रमादित्य का जन्म हुआ था।

प्रथम शताब्दी ई० पू० में बोलन दर्रे से शकों का यवनों और बाख्त्री यवनों की अपेक्षा अधिक भीषण और सुदूर-व्यापी आक्रमण हुआ। यहाँ भी पुनः मालव ही थे जिन्होंने विदेशी आक्रमण के प्रबल वेग का सामना किया। इन्हें इस बार गणराज्यों के संघ तथा समीपवर्ती राजाओं से सहायता मिली थी जिनका संगठन विक्रमादित्य के कुशल नेतृत्व में हुआ था। इस प्रकार मालवों की भाग्यलक्ष्मी प्रसन्न हो उठी। उनके नेता

विक्रमादित्य ने विदेशियों को मार भगाया और अद्भुत सफलता प्राप्त की। शकों का सबल विरोध तथा उन पर अपूर्व विजय क्रान्तिकारी घटनायें थीं जिनकी गहरी छाप जनमन पर अङ्कित हो गयी। विक्रमादित्य की सैनिक-कुशलता तथा राजनीतिक चातुर्य उनके जनता की आँखों में विशिष्ट रूप से बस जाने के कारण बने जिसकी परम्परा लोक-स्मृति में अब भी ताजी है। विक्रमादित्य की महान् सफलता विक्रम संवत् (जिसे आरम्भ में कृत संवत् कहा जाता था और जो स्वर्णयुग के आरम्भ का प्रतीक है) की स्थापना से अमर हो गयी।

(३) एक आदर्श शासक

भारतीय इतिहास में विक्रमादित्य की महत्ता का दूसरा कारण उनकी शासन में आदर्शवादिता थी। उनकी प्रेरणा सामान्यरूप से मानवता और मुख्य रूप से अपनी प्रजा की सेवा थी और उनका शासन उनके आदर्श से ओतप्रोत था। जैनग्रन्थों के अनुसार पूर्ण शासनव्यवस्था का प्रतीक रामराज्य का आदर्श उनके सम्मुख था तथा उन्होंने अभिनव राम बनने का प्रयास किया था। यह आदर्श 'लोकरञ्जन' (लोक को सन्तुष्ट रखना), प्रजापालन और प्रजारक्षण से अभिरञ्जित था। अतः इसके लिए शासक को अनवरत कर्मण्य तथा जागरूक बनने की आवश्यकता थी। उन्होंने इस बात को पूर्णरूप से समझ लिया था कि उनका कर्तव्य विशेषतः लोकतन्त्र के अन्तर्गत विश्राम का पूर्ण त्याग है।[१] विक्रमादित्य का शासनादर्श कालिदास द्वारा दुष्यन्त के निम्नलिखित चित्रण में परिलक्षित होता है :

"अपने सुख के लिए निरभिलाषी होते हुए लोक के लिए तुम सर्वदा चिंतित रहते हो। प्रत्येक शासक की यही वृत्ति तथा विधि है। वृक्ष अपने मस्तक पर सूर्य की प्रखर किरणों का अनुभव करते हुए भी अपने आश्रितों का परिताप छाया से शमन करता है।"[२] कथासरित्सागर में विक्रमादित्य के आदर्श का निम्नलिखित अंकन हुआ है : 'वे पितृहीनों के पिता, बन्धुहीनों के बान्धव, अनाथों के नाथ, निराशों के रक्षक और अपनी प्रजा के क्या नहीं

---

१. अविश्रामोऽयं लोकतन्त्राधिकारः। शाकु० ५।

२. स्वसुखनिरभिलाषः खिद्यसे लोकहेतोः प्रतिदिनमथवा ते वृत्तिरेवंविधैव।
अनुभवति हि मूर्ध्ना पादपस्तीव्रमुष्णं शमयति परितापं छायया संश्रितानाम्॥ शाकु०५

थे ?'[1] विक्रमादित्य में लोक को प्रसन्न करने वाले प्रचुर गुणों का सन्निवेश ही देश के इतिहास में उन्हें लोकप्रिय बना देता है।

(४) कला तथा संस्कृति के आश्रय-दाता

कला तथा संस्कृति की अभिवृद्धि के लिए विक्रमादित्य का योगदान बहुत ही उच्च कोटि का था। इस विषय में परवर्ती भारतीय परम्परा में कोई भी शासक उनकी समानता नहीं कर सकता। वे स्वयं व्युत्पन्न 'विद्यासागर' तथा उस युग के साहित्यमनीषियों द्वारा सम्मानित व्यक्ति थे। कला तथा संस्कृति के उपासकों के लिए उनका उदार आश्रय सर्वदा खुला रहता था। विक्रमादित्य के पूर्व भी उज्जयिनी विद्या का केन्द्र थी, किन्तु उनके समय में यह संस्कृति का पर्याय हो गयी। अत्यन्त उच्चकोटि के कवि, नाटककार, दार्शनिक, ज्योतिषी, वैज्ञानिक तथा कलाविद् उज्जयिनी आते थे। युग के सर्वश्रेष्ठ ज्योतिष्मान प्रतिभा-सम्पन्न कवि कालिदास विक्रमादित्य की राजसभा को अलंकृत करनेवाले साहित्यकारों तथा कलाकारों के शिरोमणि थे। उज्जयिनी का सांस्कृतिक केन्द्र अपनी प्रभावरश्मियों को अवन्ती के सुदूर गाँवों में बिखेरता रहता था जिससे ग्राम के वयोवृद्ध भी देश की साहित्यिक परम्पराओं से अभिज्ञ रहते थे।[2]

(५) बहुमुखी तथा अपूर्व व्यक्तित्व

विक्रमादित्य का व्यक्तित्व कई दृष्टियों से बहुमुखी तथा अनुपम था। वह राजनीतिक, सांस्कृतिक तथा मानवतापरक सफलताओं का अपूर्व समुच्चय था। विक्रमादित्य में जीवन के विभिन्न सबल स्रोतों का अद्भुत सम्मिलन ही था जिसने भारतीय अगणित शासकों के बीच उन्हें सर्वोच्च आसन पर आसीन कर दिया है।

जनता के मूल्यांकन में वे महाकाव्यों—रामायण और महाभारत—के चरित-नायकों—राम और कृष्ण—के बाद ही आते हैं। भारतीय अन्य शासक—चन्द्रगुप्त मौर्य, अशोक, पुष्यमित्र, गौतमीपुत्र शातकर्णि, कनिष्क, समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त द्वितीय, विक्रमादित्य, हर्षवर्धन आदि—केवल इतिहासकारों की निधि हैं। भारतीय जनता ने लगभग उन्हें भुला दिया है। किन्तु उसने अबतक विक्रमादित्य को अपनी परम्परा, साहित्य और स्मृति में बनाये रखा है।

---

१. स पिता पितृहीनानामबन्धूनां स बान्धवः।
अनाथानाञ्च नाथः सः प्रजानां कः स नामवत्॥ १८, १, ६६।

२. प्राप्यावन्तीमुदयनकथाकोविदग्रामवृद्धान्। मेघदूत १, ३०।

वे देश के महान् पुरुषों में अनुपम समझे जाते हैं : 'पृथ्वी को भोगनेवाले विक्रमादित्य ने वह किया जो अन्य किसी ने नहीं किया, उन्होंने वह दिया जो अन्य किसी द्वारा नहीं दिया गया तथा उन्होंने उन कार्यों में भी सफलता प्राप्त की जो दूसरों के लिए असाध्य थे।'[1]

(६) विक्रमादित्य एक आदर्श

विक्रमादित्य एक पूर्णतः ऐतिहासिक व्यक्ति थे किन्तु समयानुसार उन्होंने जिन अपूर्व सफलताओं तथा सद्‌गुणों का संचय किया उनके कारण वे एक अनुकरणीय आदर्श बन गये। प्रारम्भ में विक्रमादित्य व्यक्तिवाचक नाम था, किन्तु बाद में वह विरुद बन गया। कोई भी भारतीय शासक जो विदेशी आक्रमणकारियों को पराजित करने, एक कुशल तथा उदार शासन-व्यवस्था स्थापित करने तथा कला और संस्कृति की अभिवृद्धि करने में सफल होता था विक्रमादित्य (विक्रम का सूर्य) की उपाधि धारण कर लेता था तथा इस प्रकार उज्जयिनी के महान् विक्रमादित्य की स्मृति को आदर तथा सम्मान प्रदान करता था। भारतवर्ष में राजाओं की लम्बी सारिणी है जिन्होंने विक्रमादित्य की उपाधि धारण की। ऐसा करनेवाला समुद्रगुप्त प्रथम नरेश था, जिसने शाहानुशाही शक-मुरुण्डों को अधीनस्थ मित्रता के लिए विवश कर दिया था। इस परम्परा का अनुसरण चन्द्रगुप्त द्वितीय, कुमारगुप्त, स्कन्दगुप्त, चालुक्यनरेश षष्ठ विक्रम तथा चोलनरेश विक्रम आदि ने किया। विक्रमादित्य की उपाधि धारण करने की परम्परा हेमचन्द्र विक्रमादित्य (मुसलमान लेखकों का हेमू) तक, जिसने १५५५ में पानीपत के द्वितीय महासमर में मुगलों की शक्ति का विरोध किया था तथा जिसकी दुःखान्त और वीरतापूर्ण मृत्यु हुई थी, बनी रही।

१. यत्कृतं यन्न केनापि यद्दत्तं यन्न केनचित्।
तत्साधितमसाध्यं च विक्रमार्केण भूभुजा॥

परिशिष्ट—१

प्रभावकचरिते

श्रीकालकसूरिचरितम्

श्रीसीमंधरतीर्थेशविदितोऽनणुतो गुणात् ।
कुतश्चिदपि सोऽव्याद्वः कालकः सूरिकुञ्जरः ॥ १ ॥
प्राच्यैर्बहुश्रुतैर्वृत्तं यस्य पर्युषणाश्रयम् ।
आहृतं कीर्त्यते किं न शकटी शकटानुगा ॥ २ ॥
श्रीधरावासमित्यस्ति नगरं न गरो जयी ।
द्विजिह्वास्यसमुद्गीर्णो यत्र साधुवचोऽमृतैः ॥ ३ ॥
आशाकम्बावलंबाढ्या महाबलभरोच्छ्रिता ।
कीर्ति-पताकिका यस्याक्रान्तव्योमा गुणाश्रया ॥ ४ ॥
श्रीवैरिसिंह इत्यस्ति राजा विक्रमराजितः ।
यत्प्रतापो रिपुस्त्रीणां पत्रवल्लीरशोषयत् ॥ ५ ॥
तस्य श्रीशेषकान्तेव कान्ताऽस्ति सुरसुन्दरी ।
उत्पत्तिभूमिर्भद्रस्य महाभोगविराजिनः ॥ ६ ॥
जयन्त इव शक्रस्य शशाङ्क इव वारिधेः ।
कालको कालकोदण्डखण्डितारिः सुतोऽभवत् ॥ ७ ॥
सुता सरस्वती नाम्ना ब्रह्मभूविश्वपावना ।
यदागमात् समुद्रोऽपि गुरुः सर्वाश्रयोऽभवत् ॥ ८ ॥
कालकोऽश्वकलाकेलिकलनायान्यदा बहिः ।
पुरस्य भुवमायासीदनायासी हयश्रमे ॥ ९ ॥
तत्र धौरितकात् प्लुत्या वल्गितेनापि वाहयन् ।
उत्तेजिताङ्गसद्गत्या हयानुत्तेरितादपि ॥ १० ॥
श्रान्तस्तिमितगन्धर्वो गन्धर्व इव रूपतः ।
अशृणोन्मसृणोदारं स्वरमाराममध्यतः ॥ ११ ॥
अथाह मन्त्रिणं राजपुत्रः कीदृक् स्वरो ह्यसौ ।
मेघगर्जितगम्भीरः कस्य वा ज्ञायतां ततः ॥ १२ ॥
व्यजिज्ञपत् स विज्ञाय नाथ ! सूरिर्गुणाकरः ।
प्रशान्तपावनीं मूर्तिं बिभ्रद् धर्मं दिशत्यसौ ॥ १३ ॥

विश्राम्यद्भिर्नृपारामे श्रूयतेऽस्य वचोऽमृतम् ।
अस्त्वेवमिति सर्वानुज्ञाते तत्राभ्यगादसौ ॥ १४ ॥
गुरुं नत्वोपविष्टे च विशेषादुपचक्रमे ।
धर्माख्यां योग्यतां ज्ञात्वा तस्य ज्ञानोपयोगतः ॥ १५ ॥
धर्मार्हद्-गुरुतत्त्वानि सम्यग् विज्ञाय संश्रय ।
ज्ञान-दर्शन-चारित्र-रत्नत्रय-विचारकः ॥ १६ ॥
धर्मो जीवदयामूलः, सर्वविद् देवता जिनः ।
ब्रह्मचारी गुरुः संगभङ्गभू रागभङ्गभित् ॥ १७ ॥
व्रतपञ्चकसंवीतो यतीनां संयमाश्रितः ।
दशप्रकारसंस्कारो धर्मः कर्मच्छिदाकरः ॥ १८ ॥
य एकदिनमप्येकचित्त आराधयेदमुम् ।
मोक्षं वैमानिकत्वं वा स प्राप्नोति न संशयः ॥ १९ ॥
अथो गृहस्थधर्मश्च व्रतद्वादशकान्वितः ।
दानशीलतपोभावभङ्गीभिरभितः शुभः ॥ २० ॥
स सम्यक्पाल्यमानश्च शनैर्मोक्षप्रदो नृणाम् ।
जैनोपदेश एकोऽपि संसाराम्भोनिधेस्तरी ॥ २१ ॥
श्रुत्वेत्याह कुमारोऽपि मंगिनीमंगिनीं दिश ।
दीक्षां मोक्षं यथाज्ञानवेलाकूलं लभे लघु ॥ २२ ॥
पितरौ स्वावनुज्ञाप्यागच्छ तत् तेऽस्तु चिन्तितम् ।
अत्यादरेण तत् कृत्वागाज्जाम्या सहितस्ततः ॥ २३ ॥
प्रव्रज्याऽदायि तैस्तस्य तया युक्तस्य च स्वयम् ।
अधीती सर्वशास्त्राणि स प्रज्ञातिशयादभूत् ॥ २४ ॥
स्वपट्टे कालकं योग्यं प्रतिष्ठाप्य गुरुस्ततः ।
श्रीमान् गुणाकरः सूरिः प्रेत्यकार्याण्यसाधयत् ॥ २५ ॥
अथ श्रीकालकाचार्यो विहरन्नन्यदा ययौ ।
पुरीमुज्जयिनीं बाह्यारामेऽस्याः समवासरत् ॥ २६ ॥
मोहान्धतमसे तत्र मग्नानां भव्यजन्मिनाम् ।
सम्यगर्थप्रकाशोऽभूत् प्रभूष्णुर्मणिदीपवत् ॥ २७ ॥
तत्र श्रीगर्दभिल्लाख्यः पुर्या राजा महाबलः ।
कदाचित् पुरबाह्योर्व्यां कुर्वाणो राजपाटिकाम् ॥ २८ ॥
कर्मसंयोगतस्तत्र व्रजन्तीमैक्षत स्वयम् ।
जामिं कालकसूरीणां काको दधिघटीमिव ॥ २९ ॥

हा रक्ष रक्ष सोदर्य! क्रन्दन्तीं करुणस्वरम् ।
अपाजीहरदत्युग्रकर्मभिः पुरुषैः स ताम् ॥ ३० ॥
साध्वीभ्यस्तत् परिज्ञाय कालकप्रभुरप्यथ ।
स्वयं राजसमज्यायां गत्वावादीत् तदग्रतः ॥ ३१ ॥
वृत्तिर्विधीयते कच्छे रक्षायै फलसंपदः ।
फलानि भक्षयेत् सैवाख्येयं कस्याग्रतस्तदा ॥ ३२ ॥
राजन्! समग्रवर्णानां दर्शनानां च रक्षकः ।
त्वमेव तन्न ते युक्तं दर्शनिव्रतलोपनम् ॥ ३३ ॥
उन्मत्तकभ्रमोन्मत्तवदुन्मत्तो नृपाधमः ।
न मानयति गामस्य म्लेच्छवद् ध्वंसते तथा ॥ ३४ ॥
संघेन मन्त्रिभिः पौरैरपि विज्ञापितो दृढम् ।
अवाजीगणदारूढो मिथ्यामोहे गलन्मतिः ॥ ३५ ॥
प्राक्क्षात्रतेज आचार्य उन्निद्रमभजत् ततः ।
प्रतिज्ञां विदधे घोरां तदा कातरतापनीम् ॥ ३६ ॥
जैनापभ्राजिनां ब्रह्मबालप्रमुखघातिनाम् ।
अर्हद्बिम्बविहन्तॄणां लिप्येऽहं पाप्मना स्फुटम् ॥ ३७ ॥
न चेदुच्छेदये शीघ्रं सपुत्रपशुबान्धवम् ।
अन्यायकर्दमक्रोडं विभ्रुवन्तं नृपब्रुवम् ॥ ३८ ॥
असंभाव्यमिदं तत्र सामान्यजनदुष्करम् ।
उक्त्वा निष्क्रम्य दम्भेनोन्मत्तवेषं चकार सः ॥ ३९ ॥
एकाकी भ्रमति स्मायं चतुष्के चत्वरे त्रिके ।
असम्बद्धं वदन् द्वित्रिश्चेतनाशून्यवत् तदा ॥ ४० ॥
गर्दभिल्लो नरेन्द्रश्चेत् ततस्तु किमतः परम् ।
यदि देशः समृद्धोऽस्ति ततस्तु किमतः परम् ॥ ४१ ॥
वदन्तमिति तं श्रुत्वा जनाः प्राहुः कृपाभरात् ।
स्वसुर्विरहितः सूरिस्तादृग्ग्रहिलतां गतः ॥ ४२ ॥
दिनैः कतिपयैस्तस्मान्निर्ययावेक एव सः ।
पश्चिमां दिशमाश्रित्य सिन्धुतीरमगाच्छनैः ॥ ४३ ॥
शाखिदेशश्च तत्रास्ति राजानस्तत्र शाखयः ।
शकापराभिधाः सन्ति नवतिः षड्भिरर्गला ॥ ४४ ॥
तेषामेकोऽधिराजोऽस्ति सप्तलक्षतुरङ्गमः ।
तुरङ्गायुतमानाश्चापरेऽपि स्युर्नरेश्वराः ॥ ४५ ॥

एको माण्डलिकस्तेषां प्रैक्षि कालकसूरिणा।
अनेककौतुकप्रेक्षाहृतचित्तः कृतोऽथ सः॥ ४६॥
असौ विश्वासतस्तस्य वयस्यति तथा नृपः।
तं विना न रतिस्तस्य तं बहूक्तैर्यथा क्षणम्॥ ४७॥
सभायामुपविष्टस्य मण्डलेशस्य सूरिणा।
सुखेन तिष्ठतो गोष्ठ्यां राजदूतः समाययौ॥ ४८॥
प्रवेशितश्च विज्ञप्ते प्रतीहारेण सोऽवदत्।
प्राचीनरूढितो भक्त्या गृह्यतां राजशासनम्॥ ४९॥
असिधेनुं च भूपोऽथ तद्गृहीत्वाशु मस्तके।
ऊर्ध्वीभूयाथ संयोज्य वाचयामास च स्वयम्॥ ५०॥
इति कृत्वा विवर्णास्यो वक्तुमप्यक्षमो नृपः।
विलीनचित्तः श्यामाङ्गो निःशब्दाषाढमेघवत्॥ ५१॥
पृष्टश्चित्रान्मुनीन्द्रेण प्रसादे स्वामिनः स्फुटे।
आयाते प्राभृते हर्षस्थाने किं विपरीतता॥ ५२॥
तेनोचे मित्र! कोपोऽयं न प्रसादः प्रभोर्ननु।
प्रेष्यं मया शिरश्छित्त्वा स्वीयं शस्त्रिकयानया॥ ५३॥
एवं कृते च वंशे नः प्रभुत्वमवतिष्ठते।
नो चेद् राज्यस्य राष्ट्रस्य विनाशः समुपस्थितः॥ ५४॥
शस्त्रिकायामथैतस्यां षण्णवत्यङ्कदर्शनात्।
मन्ये षण्णवतेः सामन्तानां क्रुद्धो धराधिपः॥ ५५॥
सर्वेऽपि गुप्तमाह्वाय्य सूरिभिस्तत्र मेलिताः।
तरीभिः सिन्धुमुत्तीर्य सुराष्ट्रां ते समाययुः॥ ५६॥
घनागमे समायाते तेषां गतिविलम्बके।
विभज्य षण्णवत्यंशैस्तं देशं तेऽवतस्थिरे॥ ५७॥
राजानस्ते तथा सूरा वाहिनीव्यूहवृद्धिना।
राजहंसद्रुहा भूयस्तरवारितरङ्गिणा॥ ५८॥
बलभिद्धनुरुल्लासवता चाशुगभीभृता।
समारुध्यन्त मेघेन बलिष्ठेनेव शत्रुणा॥ ५९॥
निर्गमय्यासनादुग्रमुपसर्गमुपस्थितम्।
प्रापुर्घनात्ययं मित्रमिवाब्जास्यविकाशकम्॥ ६०॥
परिपक्त्रिमवाक्शालिः प्रसीदत्सर्वतोमुखः।
अभूच्छरद्दतुस्तेषामानन्दाय सुधीरिव॥ ६१॥

सूरिणाथ सुहृद्राजा प्रयाणेऽजल्प्यत स्फुटम् ।
स प्राह शंबलं नास्ति येन नो भावि शं बलम् ।। ६२ ।।
श्रुत्वेति कुम्भकारस्य गृहे एकत्र जग्मिवान् ।
वह्निना पच्यमानं चेष्टकापाकं ददर्श च ।। ६३ ।।
कनिष्ठिकानखं पूर्णं चूर्णयोगस्य कस्यचित् ।
आक्षेपात् तत्र चिक्षेपाक्षेप्यशक्तिस्तदा गुरुः ।। ६४ ।।
विध्यातेऽत्र ययावग्रे राज्ञः प्रोवाच यत्सखे ! ।
विभज्य हेम गृह्णीत यात्रासंवाहहेतवे ।। ६५ ।।
तथेत्यादेशमाधाय तेऽकुर्वन् पर्व सर्वतः ।
प्रास्थानिकं गजाश्वादिसैन्यपूजनपूर्वकम् ।। ६६ ।।
पञ्चाल-लाटराष्ट्रेश भूपान् जित्वाऽथ सर्वतः ।
शका मालवसन्धिं ते प्रापुराक्रान्तविद्विषः ।। ६७ ।।
श्रुत्वाऽपि बलमागच्छद् विद्यासामर्थ्यगर्वितः ।
गर्दभिल्लनरेन्द्रो न पुरीदुर्गमसज्जयत् ।। ६८ ।।
अथाप शाखिसैन्यं च विशालातलमेदिनीम् ।
पतङ्गसैन्यवत् सर्वप्राणिवर्गभयंकरम् ।। ६९ ।।
मध्यस्थो भूपतिः सोऽथ गर्दभीविद्यया बले ।
नादर्युन्मादरीतिस्थः सैन्यं सज्जयति स्म न ।। ७० ।।
कपिशीर्षेषु नो ढिंबा कोट्टकोणेषु न घ्रसाः ।
विद्याधरीषु नो काण्डपूरणं चूरणं द्विषाम् ।। ७१ ।।
न वा भटकपाटानि पूःप्रतोलीष्वसज्जयत् ।
इति चारैः परिज्ञाय सुहृद्भूपं जगौ गुरुः ।। ७२ ।।
अनावृतं समीक्ष्येदं दुर्गं मा भूरनुद्यमः ।
यदष्टमी–चतुर्दश्योरर्चयत्येष गर्दभीम् ।। ७३ ।।
अष्टोत्तरसहस्रं च जपत्येकाग्रमानसः ।
शब्दं करोति जापान्ते विद्या सा रासभीनिभम् ।। ७४ ।।
तं बूत्कारस्वरं घोरं द्विपदो वा चतुष्पदः ।
यः शृणोति स वक्त्रेण फेनं मुञ्चन् विपद्यते ।। ७५ ।।
अर्द्धतृतीयगव्यूतमध्ये स्थेयं न केनचित् ।
आवासान् विरलान् दत्त्वा स्थातव्यं सबलैर्नृपैः ।। ७६ ।।
इत्याकर्ण्य कृते तत्र देशे कालकसद्गुरुः ।
सुभटानां शतं साष्टं प्रार्थयच्छब्दवेधिनाम् ।। ७७ ।।

स्थापिताः स्वसमीपे ते लब्धलक्षाः सुशिक्षिताः ।
स्वरकाले मुखं तस्या बभ्रुर्बाणैर्निषङ्गवत् ॥ ७८ ॥
सा मूर्ध्नि गर्द्दभिल्लस्य कृत्वा विण्मूत्रमीर्ष्यया ।
हत्वा च पादघातेन रोषेणान्तर्दधे खरी ॥ ७९ ॥
अबलोऽयमिति ख्यापयित्वा तेषां पुरो गुरुः ।
समग्रसैन्यमानीय मानी तं दुर्गमाविशत् ॥ ८० ॥
पातयित्वा धृतो बद्ध्वा प्रपात्य च गुरोः पुरः ।
गर्दभिल्लो भटैर्मुक्तः प्राह तं कालकप्रभुः ॥ ८१ ॥
साध्वी साध्वी त्वया पाप ! श्येनेन चटकेव यत् ।
नीता गुरुविनीताऽपि तत्कर्मकुसुमं ह्यदः ॥ ८२ ॥
फलं तु नरकः प्रेत्य तद् विबुध्याधुनापि हि ।
उपशान्तः समादत्स्व प्रायश्चित्तं शुभावहम् ॥ ८३ ॥
आराधकः परं लोकं भविता रुचितं निजम् ।
विधेहीति श्रुतेर्दूनस्त्यक्तोऽरण्ये ततोऽभ्रमत् ॥ ८४ ॥
व्याघ्रेण भक्षितो भ्राम्यन् दुर्गतो दुर्गतिं गतः ।
तादृक्साधुद्रुहामीदृक् गतिरत्यल्पकं फलम् ॥ ८५ ॥
सूरेरादेशतो मित्रं भूपः स्वामी ततोऽभवत् ।
विभज्य देशमन्येऽपि तस्थुः शाखिनराधिपाः ॥ ८६ ॥
आरोपिता व्रते साध्वी गुरुणाऽथ सरस्वती ।
आलोचितप्रतिक्रान्ता गुणश्रेणिमवाप च ॥ ८७ ॥
विद्यादेव्यो यतः सर्वा अनिच्छुस्त्रीव्रतच्छिदः ।
कुप्यन्ति रावणोऽपीदृक् सीतायां न दधौ हठम् ॥ ८८ ॥
एतादृक् शासनोन्नत्या जैनतीर्थं प्रभावयन् ।
बोधयन् शाखिराजांश्च कालकः सूरिराड् बभौ ॥ ८९ ॥
शकानां वंशमुच्छेद्य कालेन कियताऽपि हि ।
राजा श्रीविक्रमादित्यः सार्वभौमोपमोऽभवत् ॥ ९० ॥
स चोन्नतमहासिद्धिः सौवर्णपुरुषोदयात् ।
मेदिनीमनृणां कृत्वाऽचीकरद् वत्सरं निजम् ॥ ९१ ॥
ततो वर्षशते पञ्चत्रिंशता साधिके पुनः ।
तस्य राज्ञोऽन्वयं हत्वा वत्सरः स्थापितः शकैः ॥ ९२ ॥
इति प्रसङ्गतोऽजल्पि; प्रस्तुतं प्रोच्यते ह्यदः ।
श्रीकालकप्रभुर्देशे विजह्रे राजपूजितः ॥ ९३ ॥

इतश्चास्ति पुरं लाटललाटतिलकप्रभम् ।
भृगुकच्छं नृपस्तत्र बलमित्रोऽभिधानतः ॥ ६४ ॥
भानुमित्राग्रजन्मासीत् स्वस्रीयः कालकप्रभोः ।
स्वसा तयोश्च भानुश्रीः, बलभानुश्च तत्सुतः ॥ ६५ ॥
अन्यदा कालकाचार्यवृत्तं तैर्लोकतः श्रुतम् ।
तोषादाहूतये मन्त्री तैर्निजः प्रैष्यत प्रभोः ॥ ६६ ॥
विहरन्तस्ततस्ते चाप्रतिबद्धं विबुद्धये ।
आययुर्नगरे तत्र बहिश्च समवासरन् ॥ ६७ ॥
राजा श्रीबलमित्रोऽपि ज्ञात्वाभिमुखमभ्यगात् ।
उत्सवातिशयात् सूरिप्रवेशं विदधे मुदा ॥ ६८ ॥
उपदेशामृतैस्तत्र सिञ्चन् भव्यानसौ प्रभुः ।
पुष्करावर्तवत्तेषां विश्वं तापमनीनशत् ॥ ६६ ॥
श्रीमच्छकुनिकातीर्थस्थितं श्रीमुनिसुव्रतम् ।
प्रणम्य तच्चरित्राख्यादिभिर्नृपमबोधयत् ॥ १०० ॥
अन्येद्युस्तत्पुरोधाश्च मिथ्यात्वग्रहसद्ग्रहः ।
कुविकल्पवितण्डाभिर्वदन् वादे जितः स तैः ॥ १०१ ॥
ततोऽनुकूलवृत्त्याथ तं सूरिमुपसर्गयन् ।
उवाच दम्भभक्त्या स राजानमृजुचेतसम् ॥ १०२ ॥
नाथामी गुरवो देवा इव पूज्या जगत्यपि ।
एतेषां पादुका पुण्या जनैर्धार्या स्वमूर्धनि ॥ १०३ ॥
किञ्चिद् विज्ञप्यते लोकभूपालानां हितं मया ।
अवधारय तच्चित्ते भक्तिश्चेत् मातुले गुरौ ॥ १०४ ॥
विशतां नगरान्तर्यच्चरणा बिम्बिताः पथि ।
उल्लङ्घ्यन्ते जनैरन्यैः सामान्यैस्तदघं बहु ॥ १०५ ॥
धर्मार्जनं तनीयोऽत्रापरं कुरु महामते ! ।
प्रतीत आर्जवाद् राजा प्राहास्ते संकटं महत् ॥ १०६ ॥
विद्वांसो मातुलास्तीर्थरूपाः सर्वार्चिता इमे ।
तथा वर्षा अवस्थाप्य पर्यन्ते प्रेषितुं किमु ॥ १०७ ॥
द्विजः प्राह महीनाथ ! मन्त्रये ते हितं सुखम् ।
तव धर्मो यशस्ते च प्रयास्यन्ति स्वयं सुखात् ॥ १०८ ॥
नगरे डिण्डिमो वाद्यः सर्वत्र स्वामिपूजिताः ।
प्रतिलाभ्या वराहारैर्गुरवो राजशासनात् ॥ १०६ ॥

आहारमाधाकर्मादि दृष्ट्वानेषणयान्वितम् ।
स्वयं ते निर्गमिष्यन्ति काप्यश्लाघा न ते पुनः ॥ ११० ॥
अस्त्वेवमिति राज्ञोक्ते स तथेति व्यधात् पुरे ।
अनेषणां च ते दृष्ट्वा यतयो गुरुमभ्यधुः ॥ १११ ॥
प्रभो ! सर्वत्र मिष्टान्नाहारः संप्राप्यतेतराम् ।
गुरुराहोपसर्गोऽयं प्रत्यनीकादुपस्थितः ॥ ११२ ॥
गन्तव्यं तत् प्रतिष्ठानपुरे संयमयात्रया ।
श्रीसातवाहनो राजा तत्र जैनो दृढव्रतः ॥ ११३ ॥
ततो यतिद्वयं तत्र प्रैषि सङ्घाय सूरिभिः ।
प्राप्तेष्वस्मासु कर्त्तव्यं पर्वपर्युषणं ध्रुवम् ॥ ११४ ॥
तौ तत्र सङ्गतौ संघमानितौ वाचिकं गुरोः ।
तत्राकथयतां मेने तेनैतत् परया मुदा ॥ ११५ ॥
श्रीकालकप्रभुः प्राप शनैस्तन्नगरं ततः ।
श्रीसातवाहनस्तस्य प्रवेशोत्सवमातनोत् ॥ ११६ ॥
उपपर्युषणं तत्र राजा व्यज्ञपयद् गुरुम् ।
अत्र देशे प्रभो ! भावी शक्रध्वजमहोत्सवः ॥ ११७ ॥
नभस्यशुक्लपञ्चम्यां ततः षष्ठ्यां विधीयताम् ।
स्वं पर्व नैकचित्तत्वं धर्मे नो लोकपर्वणि ॥ ११८ ॥
प्रभुराह प्रजापाल ! पुरार्हद्गणभृद्गणः ।
पञ्चमीं नात्यगादेतत् पर्वास्मद्गुरुगीरिति ॥ ११९ ॥
कम्पते मेरुचूलापि रविर्वा पश्चिमोदयः ।
नातिक्रमति पर्वेदं पञ्चमीरजनीं ध्रुवम् ॥ १२० ॥
राजाऽवदच्चतुर्थ्यां तत् पर्व पर्युषणं ततः ।
इत्थमस्तु गुरुः प्राह पूर्वैरप्याहृतं ह्यदः ॥ १२१ ॥
अर्वागपि यतः पर्युषणं कार्यमिति श्रुतिः ।
महीनाथस्ततः प्राह हर्षादेतत् प्रियं प्रियम् ॥ १२२ ॥
यतः कुहूदिने पर्वोपवासे पौषधस्थिताः ।
अन्तःपुरपुरन्ध्र्यो मे पक्षादौ पारणाकृतः ॥ १२३ ॥
तत्राष्टमं विधातॄणां निर्ग्रन्थानां महात्मनाम् ।
भवतु प्राशुकाहारैः श्रेष्ठमुत्तरपारणम् ॥ १२४ ॥
उवाच प्रभुरप्येतन्महादानानि पञ्च यत् ।
निस्तारयन्ति दत्तानि जीवं दुष्कर्मसागरात् ॥ १२५ ॥

पथश्रान्ते तथा ग्लाने कृतलोचे बहुश्रुते ।
दानं महाफलं दत्तं तथा चोत्तरपारणे ॥ १२६ ॥
ततः प्रभृति पञ्चम्याश्चतुर्थ्यामागतं ह्यदः ।
कषायोपशमे हेतुः पर्व सांवत्सरं महत् ॥ १२७ ॥
श्रीमत्कालकसूरीणामेवं कत्यपि वासराः ।
जग्मुः परमया तुष्ट्या कुर्वतां शासनोन्नतिम् ॥ १२८ ॥
अन्येद्युः कर्मदोषेण सूरीणां तादृशामपि ।
आसन्नविनयाः शिष्या दुर्गतौ दोहदप्रदाः ॥ १२९ ॥
अथ शय्यातरं प्राहुः सूरयोऽवितथं वचः ।
कर्मबन्धनिषेधाय यास्यामो वयमन्यतः ॥ १३० ॥
त्वया कथ्यममीषां च प्रियकर्कशवाग्भरैः ।
शिक्षयित्वा विशालायां प्रशिष्यान्ते ययौ गुरुः ॥ १३१ ॥
इत्युक्त्वाऽगात् प्रभुस्तत्र तद्विनेयाः प्रगे ततः ।
अपश्यन्तो गुरूनूचुः परस्परमवाङ्मुखाः ॥ १३२ ॥
एष शय्यातरः पूज्यशुद्धिं जानाति निश्चितम् ।
एष दुर्विनयोऽस्माकं शाखाभिविस्तृतोऽधुना ॥ १३३ ॥
पृष्टस्तैः स यथौचित्यमुक्त्वोवाच प्रभुस्थितिम् ।
ततस्ते संचरन्ति स्मोज्जयिनीं प्रति वेगतः ॥ १३४ ॥
गच्छन्तोऽध्वनि लोकैश्चानुयुक्ता अवदन् मृषा ।
पश्चादग्रस्थिता अग्रे पश्चात्स्थाः प्रभवो ननु ॥ १३५ ॥
यान्तस्तन्नामश्रृङ्गारात् पथि लोकेन पूजिताः ।
नारी-सेवक-शिष्याणामवज्ञा स्वामिनं विना ॥ १३६ ॥
इतः श्रीकालकः सूरिर्वस्त्रवेष्टितरत्नवत् ।
यत्याश्रये विशालायां प्राविशच्छन्नदीधितिः ॥ १३७ ॥
प्रशिष्यः सागरः सूरिस्तत्र व्याख्याति चागमम् ।
तेन नो विनयः सूरेरभ्युत्थानादिको दधे ॥ १३८ ॥
तत ईर्यां प्रतिक्रम्य कोणे कुत्रापि निर्जने ।
परमेष्ठिपरावर्त्तं कुर्वंस्तस्थावसङ्गधीः ॥ १३९ ॥
देशनानन्तरं भ्राम्यंस्तत्रत्यः सूरिराह च ।
किंचित्तपोनिधे जीर्ण ! पृच्छ सन्देहमादृतः ॥ १४० ॥
अकिंचिज्ज्ञो जरत्त्वेन नावगच्छामि ते वचः ।
तथापि पृच्छ येनाहं संशयापगमक्षमः ॥ १४१ ॥

अष्टपुष्पीमथो पृष्टो दुर्गमां सुगमामिव ।
गर्वाद् यत्किंचन व्याख्यादनादरपरायणः ॥ १४२ ॥
दिनैः कैश्चित्ततो गच्छ आगच्छत् तदुपाश्रयम् ।
सूरिणाऽभ्युत्थितोऽवादीद् गुरवोऽग्रे समाययुः ॥ १४३ ॥
वास्तव्या अवदन् वृद्धं विनैकं कोऽपि नाययौ ।
तेष्वागच्छत्सु गच्छोऽभ्युदस्थात् सूरिश्च सत्रपः ॥ १४४ ॥
गुरूनक्षमयद् गच्छः पश्चमः सूरिरप्यमून् ।
तं च तं चानुशिष्यैते सूरिमित्थमबोधयन् ॥ १४५ ॥
सिकतासंभृतः प्रस्थः स्थाने स्थाने विरेचितः ।
रिक्ते तत्रावदद् वत्स ! दृष्टान्तं विद्ध्यमूदृशम् ॥ १४६ ॥
श्रीसुधर्मा ततो जम्बूः श्रुतकेवलिनस्ततः ।
षट्स्थाने पतितास्ते च श्रुते न्यूनत्वमाययुः ॥ १४७ ॥
ततोऽप्यनुप्रवृत्तेषु न्यूनं न्यूनतरं श्रुतम् ।
अस्मद्गुरुषु यादृक्षं तादृग् न मयि निष्प्रभे ॥ १४८ ॥
यादृग्मे त्वद्गुरोस्तन्न यादृक् तस्य न तेऽस्ति तत् ।
सर्वथा मा कृथा वत्स ! गर्वं सर्वंकषं ततः ॥ १४९ ॥
अष्टपुष्पीं च तत्पृष्टः प्रभुर्व्याख्यानयत् तदा ।
अहिंसासूनृताऽस्तेयब्रह्माकिंचनता तथा ॥ १५० ॥
रागद्वेषपरीहारो धर्मध्यानं च सप्तमम् ।
शुक्लध्यानमष्टमं च पुष्पैरात्मार्चनाच्छिवम् ॥ १५१ ॥
एवं च शिक्षयित्वा तं मार्दवातिशये स्थितम् ।
आपृच्छ्य व्यचरत् सङ्गहीनोऽन्यत्र पवित्रधीः ॥ १५२ ॥
श्रीसीमंधरतीर्थेशनिगोदाख्यानपूर्वतः ।
इन्द्रप्रश्नादिकं ज्ञेयमार्यरक्षितकक्षया ॥ १५३ ॥
श्रीजैनशासनक्षोणीसमुद्धारादिकच्छपः ।
श्रीकालकप्रभुः प्रायात् प्रायादेवभुवं शमी ॥ १५४ ॥

श्रीमत्कालकसूरिसंयमनिधेर्वृत्तं प्रवृत्तं श्रुतात्
श्रुत्वात्मीयगुरोर्मुखादवितथख्यातप्रभावोदयम् ।
संदृब्धं मयका तमस्ततिहरं श्रेयःश्रिये जायताम्
श्रीसंघस्य पठन्तु तच्च विबुधा नन्द्याच्च कोटीः समाः ॥१५५॥

श्रीचन्द्रप्रभसूरिपट्टसरसीहंसप्रभः श्रीप्रभा-
चन्द्रः सूरिरनेन चेतसि कृते श्रीरामलक्ष्मीभुवा ।
श्रीपूर्वर्षिचरित्ररोहणगिरौ श्रीकालकाख्यानकं
श्रीप्रद्युम्नमुनीन्दुना विशदितः श्रृङ्गश्चतुर्थोऽभवत् ॥ १५६ ॥

॥ इति श्रीकालकाचार्यप्रबन्धः ॥

परिशिष्ट—२

बृहत्कथामञ्जरी

विषमशील-लम्बकः, प्रथमोगुच्छः

गौर्या द्यूतजिता नीता कर्णे केतकिपत्रताम् ।
शांभवी वः शशिकला भूयादानन्दसंपदे ॥ १ ॥
ततः श्रिया वियोगाभिसंतापिततनुर्वने ।
भ्राम्यन्कण्वमुनेः प्रायादाश्रमं नरवाहनः ॥ २ ॥
मनःप्रसादजननने प्रशान्ताशेषविप्लवे ।
विवेक इव संतोषफले तस्मिंस्तपोवने ॥ ३ ॥
प्रणम्य तेजसां राशिं सहस्रांशुमिवापरम् ।
कण्वं दिव्यदृशा तेन तस्य चोपासितः क्षणम् ॥ ४ ॥
तं मुनीन्द्रस्ततः प्राह द्रुहिणस्पर्धया पुनः ।
कुर्वन्विमानं हंसालीमिव दन्तांशुसंचयैः ॥ ५ ॥
राजसूनो श्रय धृतिं वल्लभां तामवाप्स्यसि ।
संयोगान्ता भवन्त्येव वियोगाः पुण्यकर्मणाम् ॥ ६ ॥
विधातुरानुकूल्येन प्राप्यन्ते हारिता अपि ।
वने धनसुहृद्बन्धुदयिताराजसंपदः ॥ ७ ॥
पुरा कैलासशिखरासीनः शीतांशुशेखरः ।
समभ्येत्य जितैर्देवैः शतक्रतुपुरोगमैः ॥ ८ ॥
पुरारिर्निहितैर्देवदृप्तैर्दितिजदस्युभिः ।
अवतीर्णैर्महाम्लेच्छैः स्वस्था देवास्तृणीकृताः ॥ ९ ॥
प्रमाणमत्र भगवानिति देवगिरा हरः ।
भूभारशान्त्यै प्रथमं माल्यवन्तं समादिशत् ॥ १० ॥
सोऽथ त्रिनयनादिष्टः पार्वतीवचसा क्षितौ ।
उज्जयिन्या नरपतेः श्रीमतः प्राप पुत्रताम् ॥ ११ ॥
राज्ञो महेन्द्रादित्यस्य स्वप्ने शर्वेण सूचितः ।
सोऽभवद्विक्रमादित्यस्तनयो यशसां निधिः ॥ १२ ॥
नाम्ना विषमशीलोऽसौ द्वितीयेनापि विश्रुतः ।
सर्वशास्त्रास्त्रविद्यानां लेभे भाजनतां विभुः ॥ १३ ॥

तस्मै महीपतिर्दत्त्वा श्रियं भूपतिविश्रुताम् ।
ययौ वाराणसीं धीमान्कृतकृत्यः स्त्रिया सह ॥ १४ ॥
राजा विषमशीलोऽथ जनके प्रशमं श्रिते ।
शशास वसुधां धन्वी म्लेच्छोच्छादनदीक्षितः ॥ १५ ॥
कुलक्रमागतस्तस्य बभूव विपुलाशयः ।
रुद्रायुधः प्रतीहारः सचिवश्च महामतिः ॥ १६ ॥
स कदाचिद्गजघटामौलिलालितशासनः ।
समानीतः समभ्येत्य विज्ञप्तो मन्त्रिणा पुरः ॥ १७ ॥
योऽसावनङ्गदेवाख्यो विसृष्टो दक्षिणापथम् ।
देवेन सोऽयमायातः स्वामिनं द्रष्टुमिच्छति ॥ १८ ॥
इत्युक्त्वा नृपतेराज्ञां प्राप्य रूपमवेशयत् ।
स द्वितीयं ततो दूतं हर्षविस्फारिलोचनम् ॥ १९ ॥
स प्रणम्य महीपालं हेमसिंहासनस्थितम् ।
सुमेरुचूडामणितां प्रयातमिव भास्करम् ॥ २० ॥
विजिज्ञपदीक्षमाणः कौतुकाद्वसुधाधिपम् ।
किमयं वक्ष्यतीत्यन्तरुत्कण्ठाङ्कुरिताशयः ॥ २१ ॥
देव दक्षिणदिग्भूपैर्युष्मच्छासनमालिका ।
किरीटकोटौ विक्षिप्ता लक्ष्मीरक्षामहौषधिः ॥ २२ ॥
क्रमेणाम्बुधिमुत्तीर्य यातोऽहं सिंहलेश्वरम् ।
वीरसेनं भवद्भक्तिशीलं कुलगृहं श्रियः ॥ २३ ॥
स मां त्वच्छासनं मूर्ध्नि निधायोत्फुल्ललोचनः ।
आहास्ति मम सर्वस्वं कन्यारत्नमनुत्तमम् ॥ २४ ॥
विक्रमादित्यदेवश्च रत्नानां भाजनं विभुः ।
समर्पितेयं वचसा मया तस्मै सुमध्यमा ॥ २५ ॥

परिशिष्ट—३

कथा-सरित्सागर

विषमशीलोनाम अष्टदशो लम्बकः, प्रथमस्तरङ्गः

चन्द्राननार्धदेहाय चन्द्रांशुसितभूतये ।
चन्द्रार्कानलनेत्राय चन्द्रार्धसिरसे नमः ॥ १ ॥
करेण कुञ्चिताग्रेण लीलयोन्नमितेन यः ।
भाति सिद्धीरिव ददत्स पायाद्वो गजाननः ॥ २ ॥
ततोऽसितगिरौ तत्र कश्यपस्याश्रमे मुनेः ।
नरवाहनदत्तस्तान्मुनीनेवमभाषत ॥ ३ ॥
अन्यच्च देवीविरहे नीत्वाहं सानुरागया ।
वेगवत्या यदा न्यस्तो विद्याहस्तेऽभिरक्षितुम् ॥ ४ ॥
तदा शरीरत्यागैषी विरही परदेशगः ।
वनान्ते दृष्टवानस्मि भ्रमन्कण्वं महामुनिम् ॥ ५ ॥
स मां पादानतं दृष्ट्वा प्रणिधानादवेत्य च ।
दुःखितं स्वाश्रमं नीत्वा सदयो मुनिरभ्यधात् ॥ ६ ॥
सोमवंशोद्भवो वीरो भूत्वा किं नाम मुह्यसि ।
देवादेशे ध्रुवेऽनास्था का भार्यासंगमे तव ॥ ७ ॥
असंभाव्या अपि नृणां भवन्तीह समागमाः ।
तथा हि विक्रमादित्यकथामाख्यामि ते शृणु ॥ ८ ॥
अस्त्यवन्तिषु विख्याता युगादौ विश्वकर्मणा ।
निर्मितोज्जयिनी नाम पुरारिवसतिः पुरी ॥ ९ ॥
सतीव या पराधृष्या पद्मिनीवाश्रिता श्रिया ।
सतां धीरिव धर्माढ्या पृथ्वीव बहुकौतुका ॥ १० ॥
महेन्द्रादित्य इत्यासीद्राजा तस्यां जगज्जयी ।
मघवेवामरावत्यां विपक्षबलसूदनः ॥ ११ ॥
नानाशस्त्रायुधः शौर्ये रूपे तु कुसुमायुधः ।
योऽभून्मुक्तकरस्त्यागे बद्धमुष्टिकरस्त्वसौ ॥ १२ ॥
तस्य पृथ्वीपतेर्भार्या नाम्नाभूत्सौम्यदर्शना ।
शचीवेन्द्रस्य गौरीव शंभोः श्रीरिव शार्ङ्गिणः ॥ १३ ॥

महामन्त्री च सुमतिर्नाम तस्याभवत्प्रभोः ।
वज्रायुधाभिधानश्च प्रतीहारः क्रमागतः ॥ १४ ॥
तैः समं स नृपः शासद्राज्यमाराधयन्हरम् ।
नानाव्रतधरः शश्वद्भवत्पुत्रकाम्यया ॥ १५ ॥
अत्रान्तरे च गीर्वाणगणसंश्रितकंदरे ।
अन्यदिग्जयसानन्दकौबेरीहाससुन्दरे ॥ १६ ॥
स्थितं कैलासशैलेन्द्रे पुरारिं पार्वतीयुतम् ।
उपाजग्मुः सुराः सेन्द्रा म्लेच्छोपद्रवदुःस्थिताः ॥ १७ ॥
प्रणामानन्तरासीनास्ते कृतस्तुतयोऽमराः ।
पृष्टागमनकार्यास्ते देवमेवं व्यजिज्ञपन् ॥ १८ ॥
ये त्वया देव निहता असुरा ये च विष्णुना ।
ते जाता म्लेच्छरूपेण पुनरद्य महीतले ॥ १९ ॥
व्यापादयन्ति ते विप्रान्घ्नन्ति यज्ञादिकाः क्रियाः ।
हरन्ति मुनिकन्याश्च पापाः किं किं न कुर्वते ॥ २० ॥
भूलोकाद्देवलोकश्च शश्वदाप्यायते प्रभो ।
ब्राह्मणैर्हुतमग्नौ हि हविस्तृप्त्यै दिवौकसाम् ॥ २१ ॥
म्लेच्छाक्रान्ते च भूलोके निर्वषट्कारमङ्गले ।
यज्ञभागादिविच्छेदाद्देवलोकोऽवसीदति ॥ २२ ॥
तदुपायं कुरुष्वात्र तं कंचिदवतारय ।
प्रवीरं भूतले यस्तान्म्लेच्छानुत्सादयिष्यति ॥ २३ ॥
इति देवैः स विज्ञप्तः पुरारातिरुवाच तान् ।
यात यूयं न चिन्तात्र कार्या भवत निर्वृताः ॥ २४ ॥
अचिरेण करिष्येऽहमत्रोपायमसंशयम् ।
इत्युक्त्वा व्यसृजद्देवान्स्वधिष्ण्यान्त्र्यम्बकापतिः ॥ २५ ॥
गतेषु तेषु चाहूय माल्यवत्संज्ञकं गणम् ।
सपार्वतीको भगवानेवमादिशति स्म सः ॥ २६ ॥
पुत्रावतर मानुष्ये जायस्व च महापुरि ।
उज्जयिन्यां सुतः शूरो महेन्द्रादित्यभूपतेः ॥ २७ ॥
स च राजा ममैवांशस्तद्भार्या चाम्बिकांशजा ।
तयोर्गृहे समुत्पद्य कुरु कार्यं दिवौकसाम् ॥ २८ ॥
म्लेच्छान्व्यापादयाशेषांस्त्रयीधर्मविघातिनः ।
सप्तद्वीपेश्वरो राजा मत्प्रसादाच्च भाव्यसि ॥ २९ ॥

यक्षराक्षसवेताला अपि स्थास्यन्ति ते वशे ।
भुक्त्वा मानुषभोगांश्च पुनरस्मानुपैष्यसि ॥ ३० ॥
इत्यादिष्टः पुरजिता माल्यवान्सोऽब्रवीद्गणः ।
अलङ्घ्या युष्मदाज्ञा मे भोगा मानुष्यके तु के ॥ ३१ ॥
यत्र बन्धुसुहृद्भृत्यविप्रयोगाः सुदुःसहाः ।
धननाशजरारोगाद्युद्भवा यत्र च व्यथा ॥ ३२ ॥
इति तेन गणेनोक्तो धूर्जटिः प्रत्युवाच तम् ।
गच्छ नैतानि दुःखानि भविष्यन्ति तवानघ ॥ ३३ ॥
मत्प्रसादेन सुखितः सर्वकालं भविष्यसि ।
इत्युक्तः शंभुना सोऽभूददृश्यो माल्यवांस्ततः ॥ ३४ ॥
गत्वा चोज्जयिनीं तस्य महेन्द्रादित्यभूभुजः ।
देव्या ऋतुजुषो गर्भे समभूत्स गणोत्तमः ॥ ३५ ॥
तत्कालं च निशाकान्तकलाकलितशेखरः ।
देवो महेन्द्रादित्यं तं नृपं स्वप्ने समादिशत् ॥ ३६ ॥
तुष्टोऽस्मि तव तद्राजन्स ते पुत्रो भविष्यति ।
आक्रमिष्यति सद्वीपां पृथिवीं विक्रमेण यः ॥ ३७ ॥
यक्षरक्षःपिशाचादीन्पातालाकाशगानपि ।
वीरः करिष्यति वशे म्लेच्छसंघान्हनिष्यति ॥ ३८ ॥
भविष्यत्यत एवैष विक्रमादित्यसंज्ञकः ।
तथा विषमशीलश्च नाम्ना वैषम्यतोऽरिपु ॥ ३९ ॥
इत्युक्त्वान्तर्हिते देवे प्रबुध्य स महीपतिः ।
प्रातः स्वसचिवेभ्यस्तं हृष्टः स्वप्नं न्यवेदयत् ॥ ४० ॥
तेऽपि स्वप्ने हरादेशं पुत्रप्राप्तिफलं क्रमात् ।
तस्मै शशंसुः सचिवा राज्ञे प्रमुदितास्तदा ॥ ४१ ॥
तावदेत्य फलं साक्षाद्राज्ञेऽन्तःपुरचेटिकाः ।
अदर्शयदिदं देव्यै स्वप्ने शंभुरदादिति ॥ ४२ ॥
ततः स राजा मुमुदे सचिवैरभिनन्दितः ।
सत्यं मम सुतो दत्तः शर्वेणेति मुहुर्वदन् ॥ ४३ ॥
अथ राज्ञी सगर्भा सा जज्ञे तस्योर्जितद्युतिः ।
प्राची प्रातरिवोदेष्यत्सहस्रकरमण्डला ॥ ४४ ॥
चकाशे सा च कुचयोः श्यामया चूचुकत्विषा ।
गर्भस्थस्येव सम्राजः स्तन्यरक्षणमुद्रया ॥ ४५ ॥

स्वप्ने सप्तापि जलधीनुत्ततार च सा तदा ।
प्रणम्यमाना निखिलैर्यक्षवेतालराक्षसैः ॥ ४६ ॥
प्राप्ते च समये पुत्रं सा सूते स्म महस्विनम् ।
नभोऽर्केणेव बालेन येनाभास्यत वासकम् ॥ ४७ ॥
जाते च तस्मिन्निपतत्पुष्पवृष्टिप्रहासिनी ।
द्यौरराजत गीर्वाणदुन्दुभिध्वनिनादिनी ॥ ४८ ॥
क्षीबेव भूताविष्टेव वातक्षोभावृतेव च ।
तत्कालमुत्सवानन्दव्याकुला साभवत्पुरी ॥ ४९ ॥
तदा च तत्राविरतं वसु राजनि वर्षति ।
सौगतव्यतिरेकेण नासीत्काश्चिदनीश्वरः ॥ ५० ॥
नाम्ना तं विक्रमादित्यं हरोक्तेनाकरोत्पिता ।
तथा विषमशीलं च महेन्द्रादित्यभूपतिः ॥ ५१ ॥
गतेष्वन्येषु दिवसेष्वत्र तस्य महीभुजः ।
सुमतेर्मन्त्रिणः पुत्रो जज्ञे नाम्ना महामतिः ॥ ५२ ॥
क्षत्तुर्वज्रायुधस्यापि पुत्रो भद्रायुधोऽजनि ।
श्रीधरोऽजायत सुतो महीधरपुरोधसः ॥ ५३ ॥
तैस्त्रिभिर्मन्त्रितनयैः सह राजसुतोऽत्र सः ।
ववृधे विक्रमादित्यस्तेजोवीर्यबलैरिव ॥ ५४ ॥
उपनीतस्य विद्यासु गुरवो हेतुमात्रताम् ।
ययुस्तस्याप्रयासेन प्रादुरासन्स्वयं तु ताः ॥ ५५ ॥
ददृशे स प्रयुञ्जानो यां यां विद्यां कलां तथा ।
सैव सैवासमोत्कर्षा तस्य तज्ज्ञैरबुध्यत ॥ ५६ ॥
दिव्यास्त्रयोधिनं तं च पश्यन्राजसुतं जनाः ।
मन्दादरोऽभूद्रामादिधनुर्धरकथास्वपि ॥ ५७ ॥
आक्रान्तोपनतैर्दत्ताः कन्या रूपवतीर्नृपैः ।
आजहार पिता तस्य तास्ताः श्रिय इवापराः ॥ ५८ ॥
ततश्च यौवनस्थं तं विलोक्य प्राज्यविक्रमम् ।
अभिषिच्य सुतं राज्ये यथाविधि जनप्रियम् ॥ ५९ ॥
महेन्द्रादित्यनृपतिः सभार्यासचिवोऽपि सः ।
वृद्धो वाराणसीं गत्वा शरणं शिश्रिये शिवम् ॥ ६० ॥
सोऽपि तद्विक्रमादित्यो राज्यमासाद्य पैतृकम् ।
नभो भास्वानिवारेभे राजा प्रतपितुं क्रमात् ॥ ६१ ॥

दृष्ट्वैव तेन कोदण्डे नमत्यारोपितं गुणम् ।
तच्छिक्षयेवोच्छिरसोऽप्यानमन्सर्वतो नृपाः ॥ ६२ ॥
दिव्यानुभावो वेतालराक्षसप्रभृतीनपि ।
साधयित्वानुशास्ति स्म सम्यगुन्मार्गवर्तिनः ॥ ६३ ॥
प्रसाधयन्त्यः ककुभः सेनास्तस्य महीतले ।
निश्चेरुर्विक्रमादित्यस्यादित्यस्येव रश्मयः ॥ ६४ ॥
महावीरोऽप्यभूद्राजा स भीरुः परलोकतः ।
शूरोऽपि चाचण्डकरः कुभर्ताप्यङ्गनाप्रियः ॥ ६५ ॥
स पिता पितृहीनानामबन्धूनां स बान्धवः ।
अनाथानां च नाथः स प्रजानां कः स नाभवत् ॥ ६६ ॥
श्वेतद्वीपस्य दुग्धाब्धेः कैलासहिमशैलयोः ।
निर्माणे तद्यशो नूनमुपमानमभूद्विधेः ॥ ६७ ॥
एकदा च तमास्थानगतं भद्रायुधो नृपम् ।
प्रविश्य विक्रमादित्यं प्रतीहारो व्यजिज्ञपत् ॥ ६८ ॥
प्रेषितस्य ससैन्यस्य दक्षिणाशाविनिर्जये ।
पार्श्वं विक्रमशक्तेर्यो देवेन प्रेषितोऽभवत् ॥ ६९ ॥
स दूतोऽनङ्गदेवोऽयमागतो द्वारि तिष्ठति ।
सद्वितीयो मुखं चास्य हृष्टं वक्ति शुभं प्रभो ॥ ७० ॥
प्रविशत्विति राज्ञोक्ते सद्वितीयं स तत्र तम् ।
प्रावेशयत्प्रतीहारोऽनङ्गदेवं सगौरवम् ॥ ७१ ॥
प्रविष्टः सप्रणामं च जयशब्दमुदीर्य सः ।
उपविष्टोऽग्रतो दूतस्तेनापृच्छ्यत भूभुजा ॥ ७२ ॥
कच्चिद्विक्रमशक्तिः स सेनानी कुशली नृपः ।
कच्चिद्व्याघ्रबलाद्याश्च नृपाः कुशलिनोऽपरे ॥ ७३ ॥
अन्येषां राजपुत्राणां प्रधानानां च तद्बले ।
कच्चिच्छिवं गजाश्वस्य रथपादातकस्य च ॥ ७४ ॥
इति भूमिभृता पृष्टोऽनङ्गदेवो जगाद सः ।
शिवं विक्रमशक्तेश्च सैन्यस्य सकलस्य च ॥ ७५ ॥
सापरान्तश्च देवेन निर्जितो दक्षिणापथः ।
मध्यदेशः ससौराष्ट्रः सवङ्गाङ्गा च पूर्वदिक् ॥ ७६ ॥
सकश्मीरा च कौवेरी काष्ठा च करदीकृता ।
तानि तान्यपि दुर्गाणि द्वीपानि विजितानि च ॥ ७७ ॥

म्लेच्छसंघाश्च निहताः शेषाश्च स्थापिता वशे ।
ते ते विक्रमशक्तेश्च प्रविष्टाः कटके नृपाः ॥ ७८ ॥
स च विक्रमशक्तिस्तै राजभिः सममागतः ।
इतः प्रयाणकेष्वास्ते द्वित्रेष्वेव खलु प्रभो ॥ ७६ ॥
एवमाख्यातवन्तं तं तुष्टो वस्त्रैर्विभूषणैः ।
ग्रामैश्च विक्रमादित्यो दूतं राजाभ्यपूरयत् ॥ ८० ॥
अथ पप्रच्छ नृपतिः स तं दूतवरं पुनः ।
अनङ्गदेव के देशा गतेनात्र विलोकिताः ॥ ८१ ॥
त्वया कुत्र च किं दृष्टं कौतुकं भद्र कथ्यताम् ।
इत्युक्तो भूभृतानङ्गदेवो वक्तुं प्रचक्रमे ॥ ८२ ॥
इतो देवाज्ञया देव गत्वाहं प्राप्तवान्क्रमात् ।
पार्श्वे विक्रमशक्तेस्तं सेनासमुदयं तव ॥ ८३ ॥
मिलितानन्तनागेन्द्रसश्रीकहरिशोभितम् ।
समुद्रमिव विस्तीर्णं सपक्षक्ष्माभृदाश्रितम् ॥ ८४ ॥
उपागतश्च तत्राहं तेन विक्रमशक्तिना ।
प्रभुणा प्रेषित इति प्रणतेनातिसत्कृतः ॥ ८५ ॥
तावत्तिष्ठामि विजयस्वरूपं प्रविलोकयन् ।
सिंहलेश्वरसंबन्धी दूतस्तावदुपागमत् ॥ ८६ ॥
राज्ञो हृदयभूतस्तेऽनङ्गदेवः स्थितोऽन्तिके ।
इति मे कथितं दूतैस्त्वत्पार्श्वप्रहितागतैः ॥ ८७ ॥
तदेतं त्वरयानङ्गदेवं प्रहिणु मेऽन्तिकम् ।
कल्याणमस्य वद्यामि राजकार्यं हि किंचन ॥ ८८ ॥
इति स्वप्रभुवाक्यं च स दूतः सिंहलागतः ।
मत्संनिधाने वक्ति स्म तस्मै विक्रमशक्तये ॥ ८६ ॥
ततो विक्रमशक्तिर्मामवदद्गच्छ सत्वरम् ।
सिंहलेशान्तिकं पश्य त्वन्मुखे किं ब्रवीति सः ॥ ६० ॥
अथाहं सिंहलाधीशदूतेन सह तेन तत् ।
अगच्छं सिंहलद्वीपं वहनेनाब्धिवर्त्मना ॥ ६१ ॥
राजधानीं च तत्राहमपश्यं हेमनिर्मिताम् ।
विचित्ररत्नप्रासादां गीर्वाणनगरीमिव ॥ ६२ ॥
तस्यां च वीरसेनं तमद्राक्षं सिंहलेश्वरम् ।
वृतं विनीतैः सचिवैः सुरैरिव शतक्रतुम् ॥ ६३ ॥

स मामुपेतमादृत्य पृष्ट्वा च कुशलं प्रभोः ।
राजा विश्रमयामास सत्कारेणात्र भूयसा ॥ ९४ ॥
अन्येद्युरास्थानगतो मामाहूय स भूपतिः ।
युष्मासु दर्शयन्भक्तिमवोचन्मन्त्रिसंनिधौ ॥ ९५ ॥
अस्ति मे दुहिता कन्या मर्त्यलोकैकसुन्दरी ।
नाम्ना मदनलेखेति तां च राज्ञे ददामि वः ॥ ९६ ॥
तस्यानुरूपा भार्या सा स तस्याश्चोचितः पतिः ।
एतदर्थं त्वमाहूतस्त्वत्स्वाम्यर्थं प्रतीप्सता ॥ ९७ ॥
गच्छ च स्वामिने वक्तुं मद्दूतेन सहाग्रतः ।
अहं तवैवानुपदं प्रहेष्याम्यत्र चात्मजाम् ॥ ९८ ॥
उक्त्वेत्यानाययामास स राजा तत्र तां सुताम् ।
भूषिताभरणाभोगां रूपलावण्ययौवनैः ॥ ९९ ॥
उपवेश्य च तामङ्के दर्शयित्वा जगाद माम् ।
त्वत्स्वामिने मया दत्ता कन्येयं गृह्यतामिति ॥ १०० ॥
अहं च राजपुत्रीं तां दृष्ट्वा तद्रूपविस्मितः ।
प्रतीप्सितैषा राजार्थं मयेति मुदितोऽभवम् ॥ १०१ ॥
अचिन्तयं च नाश्चर्यविधौ तृप्यत्यहो विधिः ।
तदुत्तमामिमां चक्रे यत्कृत्वापि तिलोत्तमाम् ॥ १०२ ॥
ततोऽहं सत्कृतस्तेन राज्ञा प्रस्थितवांस्ततः ।
द्वीपाद्धवलसेनेन तद्दूतेन सहामुना ॥ १०३ ॥
आरुह्य वहनं चाशं व्रजावो यावदम्बुधौ ।
तावद्द्रागदृष्टवन्तौ स्वस्तन्मध्ये पुलिनं महत् ॥ १०४ ॥
तन्मध्येऽद्भुतरूपे द्वे अपश्याव च कन्यके ।
एकां प्रियंगुश्यामाङ्गीमन्यां चन्द्रामलद्युतिम् ॥ १०५ ॥
स्वस्ववर्णोचितोपात्तवस्त्राभरणशोभिते ।
सरत्नकंकणक्वाणवितीर्णकरतालिके ॥ १०६ ॥
प्रनर्तयन्त्यौ पुरतः क्रीडाहरिणपोतकम् ।
अपि जाम्बूनदमयं सजीवं रत्नचित्रितम् ॥ १०७ ॥
तद्दृष्ट्वान्योन्यमावाभ्यां विस्मिताभ्यामभण्यत ।
अहो किमिदमाश्चर्यं स्वप्नो माया भ्रमो नु किम् ॥ १०८ ॥
क्वाब्धावकाण्डे पुलिनं क्वेदृश्यौ तत्र कन्यके ।
क्व चेदृग्रत्नचित्राङ्गो जीवन्हेममृगोऽनयोः ॥ १०९ ॥

इत्यादि वदतोरेव देव साश्चर्यमावयोः ।
वायुः प्रावर्ततास्माद्वातुमुद्वेल्लिताम्बुधिः ॥ ११० ॥
तेनास्मद्वहनं वेल्लद्वीचिन्यस्तमभज्यत ।
मकरैर्भक्ष्यमाणाश्च ममज्जुस्तद्गता जनाः ॥ १११ ॥
आवां च ताभ्यां कन्याभ्यामेत्यैवालम्ब्य बाहुषु ।
उत्क्षिप्य पुलिनं नीतावप्राप्तमकराननौ ॥ ११२ ॥
ऊर्मिभिः पूर्यमाणौ च तस्मिन्रोधसि विह्वलौ ।
आश्वास्यावां गुहागर्भमिव ताभ्यां प्रवेशितौ ॥ ११३ ॥
ततो वीक्षावहे तावद्दिव्यं नानाद्रुमं वनम् ।
नाम्भोधिर्न तटं नापि मृगशावो न कन्यके ॥ ११४ ॥
चित्रं किमेतन्मायेयं नूनं कापीति वादिनौ ।
क्षणं भ्रमन्तौ तत्रावामपश्याव महत्सरः ॥ ११५ ॥
स्वच्छगम्भीरविस्तीर्णमाशयं महतामिव ।
तृष्णासंतापशमनं निर्वाणमिव मूर्तिमत् ॥ ११६ ॥
तत्र च स्नातुमायातां साक्षादिव वनश्रियम् ।
परिवारावृतां कांचिदपश्याव वराङ्गनाम् ॥ ११७ ॥
कर्णीरथावतीर्णा च तत्रोचितसरोरुहा ।
स्नात्वा सरस्यनुध्यानमकरोत्सा पुरद्विषः ॥ ११८ ॥
तावदुद्गम्य सरसो विस्मयेन सहावयोः ।
साक्षादुपागान्निकटं तस्या लिङ्गाकृतिः शिवः ॥ ११९ ॥
दिव्यरत्नमयं तं सा तैस्तैः स्वविभवोचितैः ।
अभ्यर्च्य विविधैर्भोगैर्वीणामादत्त सुन्दरी ॥ १२० ॥
आलम्ब्य दक्षिणं मार्गं स्वरतालपदैस्तथा ।
अवधानेन सा सम्यग्गायन्ती तामवादयत् ॥ १२१ ॥
यथा तच्छ्रवणाकृष्टहृदया गगनागताः ।
तत्र सिद्धादयोऽप्यासन्निःस्पन्दा लिखिता इव ॥ १२२ ॥
उपसंहृतगान्धर्वा ततः शंभोर्विसर्जनम् ।
साकरोत्स च तत्रैव देवः सरसि मग्नवान् ॥ १२३ ॥
अथोत्थाय समारुह्य वहनं सपरिच्छदा ।
शनैर्गन्तुं प्रवृत्ताभूत्सा ततो हरिणेक्षणा ॥ १२४ ॥
केयमित्यसकृद्यत्नादावयोः पृच्छतोरपि ।
नोत्तरं तत्परिजनः कोऽप्यदादनुगच्छतोः ॥ १२५ ॥

ततोऽस्य सिंहलद्वीपपतिदूतस्य तावकम् ।
प्रभावं दर्शयिष्यंस्तामित्युच्चैरहमब्रवम् ॥ १२६ ॥
भोः शुभे विक्रमादित्यदेवाङ्घ्रिस्पर्शशापिता ।
त्वं मया यद्यनाख्याय ममात्मानं गमिष्यसि ॥ १२७ ॥
तच्छ्रुत्वा परिवारं सा निवार्यैवावरुह्य च ।
वहनान्मामुपागम्य गिरा मधुरयाभ्यधात् ॥ १२८ ॥
कच्चिच्छ्रीविक्रमादित्यदेवः कुशलवान्प्रभुः ।
किं वा पृच्छामि विदितं सर्वं मेऽनङ्गदेव यत् ॥ १२९ ॥
प्रदर्श्य मायामानीतो मयैव हि भवानिह ।
राज्ञोऽर्थे तस्य स हि मे मान्यस्त्राता महाभयात् ॥ १३० ॥
तदेहि मद्गृहं तत्र सर्वं वक्ष्याम्यहं तव ।
याहं यथा च राजा मे मान्यः कार्यं च तस्य यत् ॥ १३१ ॥

इत्युक्त्वा विनयेन मुक्तवहना पद्भ्यां व्रजन्ती पथि
प्रह्वा सा नयति स्म तौ सुवदना स्वर्गोपमं स्वं पुरम् ।
नानारत्नविचित्रहेमरचितं द्वारेषु नानायुधै-
र्नानारूपधरैश्च वीरपुरुषैरध्यासितं सर्वतः ॥ १३२ ॥

तत्रावृते वरवधूभिरशेषदिव्यभोगौघसिद्धिभिरिवाकृतिशालिनीभिः ।
स्नानानुलेपनसदम्बरभूषणैर्नौ संमान्य विश्रमयति स्म च सांप्रतं सा ॥१३३॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे विषमशीललम्बके
प्रथमस्तरङ्गः ।

—००:०:००—

प्रमाण ग्रंथ-सूची

(अ) मूल ग्रन्थ

१. ब्राह्मण साहित्य
ऐतरेय ब्राह्मण

२. महाकाव्य
(क) रामायण
(ख) महाभारत

३. पुराण
(क) ब्रह्माण्ड
(ख) भविष्य
(ग) पद्म
(घ) मत्स्य
(ङ) वायु
(च) विष्णु

४. संकलनग्रंथ
हालकृत गाथासप्तशती

५. हिन्दू कथासाहित्य
(क) गुणाढ्यकृत बृहत्कथा (जैसा कि दूसरे ग्रंथों में वर्णित है)
(ख) क्षेमेन्द्रकृत बृहत्कथामंजरी
(ग) सोमदेवकृत कथासरित्सागर
(घ) भोजप्रबन्ध
(ङ) शिवदासकृत वेतालपञ्चविंशतिका
(च) वररुचिकृत द्वात्रिंशत्पुत्तलिका

६. जैन साहित्य
(क) जैन हरिवंश
(ख) पट्टावलियाँ (पट्टावलिसमुच्चय मुनिदर्शनविजय द्वारा सम्पादित, सिंघी सीरीज़)
(ग) प्रभाचन्द्र सूरिकृत प्रभावकचरित
(घ) मेरुतुङ्ग सूरिकृत प्रबन्धचिन्तामणि
(ङ) राजशेखर सूरिकृत प्रबन्धकोश
(च) पुरातन प्रबन्धसंग्रह
(छ) विविध तीर्थकल्प
(ज) मेरुतुंगाचार्यकृत विचारश्रेणी
(झ) कल्पसूत्र
(ञ) निशीथसूत्र
(ट) अभिधानराजेन्द्र
(ठ) पंचदण्डात्मक विक्रमचरित
(ड) क्षेमंकरकृत सिंहासनद्वात्रिंशतिका
(ढ) रामचन्द्र सूरिकृत विक्रमचरित्र
(ण) राजमेरुकृत विक्रमचरित्र
(त) इन्द्रसूरिकृत विक्रमचरित्र
(थ) हिन्दी गुजराती महाराष्ट्री तथा
(द) तामिल में विक्रमादित्य पर अनेक ग्रंथ

७. बौद्धसाहित्य
(क) दीपवंश
(ख) महावंश
(ग) मिलिन्दपन्ह

(घ) दीघनिकाय
(ङ) बुद्धचरित

८. भास के ग्रंथ

९. कालिदास के ग्रंथ

१०. राज्यशास्त्र के ग्रंथ
(क) कौटिल्य का अर्थशास्त्र
(ख) कामन्दकीय नीतिसार

११. धर्मशास्त्र साहित्य
(क) आपस्तम्ब धर्मसूत्र
(ख) बौधायन धर्मसूत्र
(ग) वसिष्ठ धर्मसूत्र
(घ) मनुस्मृति
(ङ) याज्ञवल्क्य स्मृति

१२. ज्योतिष ग्रंथ
(क) वृद्धगर्गसंहिता
(ख) वराहमिहिरकृत बृहत्संहिता

१३. व्याकरण ग्रंथ :—
(क) पाणिनिकृत अष्टाध्यायी
(ख) पतंजलिकृत महाभाष्य
(ग) काशिकावृत्ति
(घ) भट्टोजिदीक्षितकृत सिद्धान्त-कौमुदी

१४. कोशग्रंथ
(क) अमरसिंहकृत 'अमरकोश'
(ख) अभिधान रत्नमाला

१५. भेषज ग्रंथ
(क) चरक संहिता
(ख) सुश्रुत संहिता

(आ) आधुनिक ग्रन्थ

(क) इतिहास, राज्यशास्त्र तथा समाज शास्त्र

(१) काशी प्रसाद जायसवाल, हिन्दू पॉलिटी
काशी प्रसाद जायसवाल, मनु एण्ड याज्ञवल्क्य

(२) आर० सी० मजूमदार: कारपोरेट लाइफ इन एन्श्येण्ट इण्डिया

(३) आर० के० मुकर्जी: अशोक
आर० के० मुकर्जी: हिन्द सिविलीजेशन

(४) ए० एस० अल्तेकर: प्राचीन भारतीय शासन पद्धति
ए० एस० अलतेकर: पोजीशन ऑफ वीमेन इन हिन्दू सिविलीजेशन

(५) मेक्रिंडिल: एन्श्येण्ट इण्डिया ऐज डिस्क्राइब्ज बाई मेगस्थनीज
मेक्रिंडिल: इण्डियन इन्वेजन बाई एलेग्जेण्डर

(६) ई० जे० रैप्सन: कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया, भाग १

(७) वी० ए० स्मिथ: अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया चतुर्थ संस्करण

(८) जयचन्द्र विद्यालंकार: भारतीय इतिहास की रूपरेखा भाग १ और २

(९) एच० सी० चकलदार : सोशल लाइफ इन एंश्येण्ट इण्डिया
(१०) जे० जॉली : हिन्दू लॉ एण्ड कस्टम्स
(११) ई० डब्ल्यू हॉपकिन्स : रेलिजन्स ऑफ इण्डिया
(१२) आर० जी० भण्डारकर : वैष्णविज्म शैविज्म एण्ड अदर माइनर रेलिजस सिस्टम्स
(१३) टी० डब्ल्यू रीज डेविड्स : बुद्धिज्म
(१४) बरोडिया : हिस्ट्री एण्ड लिटरेचर ऑफ जैनिज्म
(१५) एस० राधाकृष्णन् : इण्डियन फिलासफी, भाग १—२

(ख) साहित्य तथा कला
(१) एम० विण्टरनित्स : ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर भाग १—२
(२) ए० बी० कीथ : ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर; संस्कृत ड्रामा
(३) सी० बी० वैद्य : हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर; एपिक इण्डिया
(४) ए० के० कुमारस्वामी : ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन एण्ड इण्डोनेशियन आर्ट
(५) दासगुप्त एण्ड एस० के० डे : हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर
(६) वी० ए० स्मिथ : ए हिस्ट्री ऑफ फाइन आर्ट्स इन इण्डिया एण्ड सीलोन
(७) ए० फूचर : दि बिगिनिंग ऑफ् बुद्धिस्ट आर्ट
(८) जे० फरगुसन एण्ड जे० थूगेस : दि केव टेम्पुल्स ऑफ इण्डिया

(ग) ज्योतिष तथा तिथि-सम्बन्धी ग्रन्थ
(१) एस० बी० दीक्षित : अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डियन एस्ट्रोनॉमी
(२) सुधाकर द्विवेदी : गणकतरंगिणी
(३) ए० कनिंघम : ए बुक ऑफ इण्डियन एराज़
(४) बी० जी० अय्यर : क्रॉनोलॉजी ऑफ ऐंश्येण्ट इण्डिया
(५) टी० एस० एन शास्त्री : दि एज० आफ शंकर
(६) क्षेत्रेश चट्टोपाध्याय : दि डेट ऑफ कालिदास

(घ) आभिलेखिक ग्रन्थ
(१) स्टेन कोनो : कॉरपस इन्सक्रिप्शनम् इण्डिकेरम, भाग २ (खरोष्ठी अभिलेख)
(२) जे० एफ० फ्लीट : कॉरपस इन्सक्रिप्शनम् इण्डिकेरम, भाग ३ (गुप्त अभिलेख)
(३) ब्यूलर : इण्डियन पैलिओग्राफी
(४) गौरीशंकर हीराचन्द ओझा : प्राचीन भारतीय लिपिमाला

(ङ) मुद्रासम्बन्धी ग्रन्थ
(१) वी० ए० स्मिथ : कैटेलॉग ऑफ इण्डियन क्वाइन्स इन इण्डियन म्यूजियम कलकत्ता, भाग १

(२) ई० जे० रैप्सन : कैटेलॉग ऑफ दि क्वाइन्स ऑफ दि आन्ध्र डायनेस्टी आदि

(३) कनिंघम : क्वाइन्स ऑफ ऐंश्येण्ट इण्डिया

(४) जॉन एलेन : कैटेलॉग आफ दि क्वाइन्स ऑफ ऐंश्येण्ट इण्डिया इन दि ब्रिटिश म्यूजियम

(च) भूगोलसम्बन्धी ग्रन्थ

(१) एन०एल०डे० : ज्योग्रॉफिकल डिक्शनरी ऑफ ऐंश्येण्ट इण्डिया

(२) कनिंघम : ऐंश्येण्ट ज्योग्रॉफी ऑफ इण्डिया

(३) मार्क कॉलिन्स : ज्यॉग्रॉफिकल डेटा इन दि रघुवंश एण्ड दि दशकुमारचरित

(छ) मुसलमान लेखकों के ग्रंथ

(१) अलबरूनी : किताबे-उल-हिन्द (इ० सी० सखाउ द्वारा अनूदित)

(२) मिनहाजुद्दीन :

(ज) पत्रिकायें

(१) दि जर्नल ऑफ दि रॉयल एशियाटिक सोसाइटी ऑफ इंगलैण्ड एण्ड आयरलैण्ड

(२) दि जर्नल ऑफ दि बाम्बे ब्रांच ऑफ दि रॉयल एशियाटिक सोसायटी

(३) दि जर्नल ऑफ दि रॉयल एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल

(४) दि जर्नल ऑफ दि विहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी

(५) इण्डियन एण्टिक्वेरी

(६) एपिग्राफिया इण्डिका

(७) नागपुर यूनीवर्सिटी जर्नल

(८) नागरीप्रचारिणी पत्रिका वाराणसी

(९) एनल्स आफ दि भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट, पूना

(१०) जेड० डी० एम० डी० संख्या ३४

(झ) स्मृति-अंक

(१) विक्रमस्मृति-ग्रंथ वि० सं० २००१, ग्वालियर

(२) विक्रम अंक १९४४, ग्वालियर

(३) नागिरी प्रचारिणी पत्रिका : विक्रमांक वि० सं० २०००

(४) आर्केलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया रिपोर्ट्स

(ञ) गजेटियर्स ऑफ

(१) बम्बई

(२) मध्यभारत

(३) राजस्थान

अनुक्रमणिका

घ

च

श

स

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ,	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४२,	३,	छोड़ना	छोड़नी
४२,	७,	भी बाद	बाद भी
५५,	१६,	भारतीय इतिहास	भारतीय इतिहासकारों
५५,	२३,	गाथाशप्तशती	गाथासप्तशती
५६,	२०,	मालवा संवत्	मालव संवत्
६०-	२२,	पुरोविदों	पुराविदों
८०,	१३,	अधिगत	अधिकृत
८७,	१,	मालको,	मालवों
९३,	६,	करये,	करने
१०७,	१,	वंशाली,	वंशावली
१०९,	२४,	पिछने,	पिछले
१०९,	२४,	बत,	बात
११९,	५,	एक तांत्रिक,	एकतांत्रिक
१२०,	७,	वेही,	वे ही
१२१,	१७,	राज्य करके,	राज्य-कर के
१२१,	१९,	कालिदास निम्नलिखित अवतरण,	कालिदास ने निम्न-लिखित अवतरण
१२९,	२०,	रघु की,	रघु के
१६५,	१२,	पार्श्वमाथ,	पार्श्वनाथ
१६७,	३,	बि० ए० स्मिथ,	वि० ए० स्मिथ
१७७,	६,	भावपूर्व	भावपूर्ण
१८२,	७,	होने जी	होने की
१८४,	२१,	ने नाम से	के नाम से
१८७,	२६,	कीरचना	की रचना
१८९,	५,	मनोवैज्ञातिक	मनोवैज्ञानिक
१९१,	६,	कियायें	क्रियायें
१९५,	२३,	द्ध	बुद्ध
१९६,	५,	प्रतिनिजित्व,	प्रतिनिधित्व